(क) गद्य विधाएँ

निबन्ध

(i) मज़दूरी और प्रेम

(सरदार पूर्णसिंह)

– डॉ. मीनाक्षी व्यास

परिचय

सरदार पूर्णसिंह द्विवेदी युग के प्रसिद्ध निबंधकार हैं। द्विवेदीयुगीन निबंधकार होते हुए भी उनके निबंधों में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता, अति-बौद्धिकता और भाषा की सपाटबयानी नहीं मिलती। बल्कि स्वच्छंदतावादी साहित्य की विशेषताएँ और आदर्शोन्मुखी आध्यात्मिकता मिलती है। उनके विचार और भावों का सामंजस्य उनके तर्कों को प्रभावशाली बना देता है। भावात्मक आवेग काव्यात्मक-लाक्षणिक अभिव्यंजना, और उच्च मानवोत्थानमूलक विचार इनके निबंधों के प्रधान तत्त्व हैं, जो आगे चलकर छायावाद युगीन गद्य में विकसित हुए।

उनका जन्म सन् 1881 ई. में एटबबाद जिले के एक गाँव में हुआ था। ये एक प्रतिभावान व्यक्ति थे। भारतीय संस्कृति के समर्थक साहित्यकार के रूप में इन्हें जाना जाता है। सरदार पूर्ण सिंह का जीवन बहुत उतार चढ़ाव पूर्ण रहा। प्रारम्भ में ये विज्ञान विषय के एक मेधावी छात्र थे। इसीलिए 18 वर्ष की छोटी सी उम्र में ये रसायनशास्त्र का अध्ययन करने जापान गये। वहीं उनका परिचय स्वामी रामतीर्थ जी से हुआ। ये उनसे बहुत प्रभावित हुए और संन्यासी हो गए पर परिवार के लोगों के समझाने पर इन्होंने गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश किया। जीवनयापन के लिए इन्होंने लाहौर के एक विद्यालय में प्राचार्य के रूप में नौकरी प्रारम्भ की। तभी से लोग उन्हें आदरपूर्वक अध्यापक पूर्ण सिंह कहने लगे। तत्पश्चात् इन्होंने देहरादून और ग्वालियर में भी नौकरी की। सन् 1931 ई. में इनका स्वर्गवास हुआ।

सरदार पूर्ण सिंह का निबन्ध साहित्य बहुत कम है। हिन्दी में इनके मात्र छह निबन्ध प्रकाश में आए हैं–सच्ची वीरता, कन्यादान, पवित्रता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम तथा अमेरिका का मस्त योगी वाल्टह्विट। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी में 10-12 पुस्तकें लिखीं। उनमें सिख धर्म के दस गुरुओं पर लिखी गई उनकी पुस्तक 'द बुक ऑफ टेन मास्टर्स', 'दि स्टोरी ऑफ स्वामी राम' आदि प्रमुख कृतियाँ हैं। अपने इस संक्षिप्त साहित्य के माध्यम से अध्यापक पूर्ण सिंह ने हिन्दी साहित्य में अविस्मरणीय स्थान बनाया है।

अध्यापक पूर्ण सिंह प्रतिभावान साहित्यकार थे। यद्यपि उनके निबन्धों की संख्या मात्र छः है फिर भी उन्होंने अपनी लेखिनी का जौहर दिखाकर हिन्दी के प्रतिष्ठित निबन्धकारों की प्रथम पंक्ति में अपना स्थान बनाया है। आज उनके निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि माने जाते हैं। उनके निबन्धों के विषय सामाजिक हैं। जिन पर द्विवेदी युगीन नैतिकता और आदर्श का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। पूर्ण सिंह जी अपने निबंधों के माध्यम से मानवीय स्तर पर सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना उद्‌बुद्ध करना उनका उद्देश्य है। इसीलिए उन्हें भारतीय संस्कृति का पोषक साहित्यकार माना गया है। उनके निबन्धों में भावात्मक और विचारात्मक शैली का मिश्रित रूप मिलता है। ये सभी भाव और शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

गाँधी टॉल्सटॉय, रास्केन आदि की तरह अध्यापक पूर्णसिंह ने अपने इन निबंधों में वैश्विक मानव-मूल्यों के पक्ष में अपनी आस्था व्यक्त की है। उनके विचार सार्वभौम-मानव धर्म और चरित्र-निर्माण के जीवन-दर्शन से प्रेरित हैं। उनके निबंधों में विषय वैविध्य तथा सामाजिक जीवन को आदर्श रूप में देखने का गंभीर प्रयास मिलता है। वे भौतिक समृद्धि तथा मशीनी सभ्यता के स्थान पर आध्यात्मिक उदात्तता पर बल देते हैं। इन निबंधों में व्यक्ति के जीवन में परिश्रम, आत्मानुभव और हाथ की मेहनत से बनी वस्तुओं को अपनाने पर बल प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है।

उन्होंने यूरोप की मशीनी सभ्यता का विरोध किया है। इन निबन्धों में सामाजिक यथार्थ और उसमें व्याप्त बुराइयों के चित्रण की अपेक्षा समाज के आदर्श रूप की कल्पनाशीलता अधिक मिलती है।

इन निबंधों की कथन शैली और भाषा-शिल्प सरल होते हुए भी प्रभावशाली है। इसमें लाक्षणिकता और व्यंग्य की छटा भी देखने को मिलती है। इनकी शैली में निर्भीकता, दृढ़ता, स्पष्टवादिता और निष्ठापूर्ण चिंतन मिलता है। बौद्धिकता के स्थान पर भावपूर्ण शैली इनकी विशेषता है। निबंधकार पूर्णसिंह ने बोलचाल की भाषा का परिष्कार करते हुए भी चिर-परिचित शब्दों का प्रयोग किया है। चित्रात्मक तथा सरस प्रवाहपूर्ण शैली में लिखे गए उनके निबंध पाठकों को प्रभावित करने में सक्षम हैं। उन्होंने प्रस्तुत निबंध में अनेक दृष्टांत और उदाहरण देकर सार्थक शब्दों में अपनी ध ारणाओं को दृढ़ता से व्यक्त किया है।

हिंदी निबंधों के उत्थान युग में सरदार पूर्णसिंह (1881-1931) ने अपने अभिव्यंजता कौशल, भौतिक-मशीनी सभ्यता के प्रतिकार तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की पक्षधरता से संपन्न अपने थोड़े से निबंधों के द्वारा ही अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है।

निबंध का सार और प्रतिपाद्य

लगभग एक सदी पूर्व लिखे गए निबंध 'मजदूरी और प्रेम' में लेखक श्री पूर्णसिंह ने मनुष्य के जीवन में श्रम को महत्त्वपूर्ण माना है तथा मज़दूरी के आदर्श-स्वरूप में अपनी निष्ठा व्यक्त की है। उनका यह निबंध आदर्शोन्मुखी भावात्मकता से संपन्न एक प्रेरक और अनुकरणीय निबंध है। इसमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि अपनी मेहनत-मज़दूरी के बल पर जीने वाला मनुष्य ही श्रेष्ठ और गौरवशाली जीवन जी पाता है। सच्चे और ईमानदार परिश्रम का अलौकिक आनंद उसके व्यक्तित्व को लौकिक क्षुद्रताओं से कहीं ऊंचा उठा देता है। मनुष्य की वास्तविक पहचान उसके ईमानदार और विवेकपूर्ण कर्म से होती है, भौतिक धन-दौलत से नहीं। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कर्मशील मज़दूर, गडरिए, लोहार, मोची, कवि-कलाकार, किसान आदि सभी अपने कर्म से ही पहचाने जाते हैं। जो अपने धन-दौलत में चूर और संवेदनहीन हैं, उन्हें सिर्फ उनके धन-दौलत की वजह से ऊँचा और महान नहीं माना जा सकता। लेखक के अनुसार ईश्वर के समक्ष संसार में प्रचलित ऊँच-नीच का मानदंड कोई महत्त्व नहीं रखता। वहाँ केवल मानवीय सज्जनता और सच्चे, ईमानदार कर्म का महत्त्व आँका जाता है।

निबंधकार के अनुसार मनुष्य अपने हाथ की कारीगरी और मेहनत के बल पर जड़-क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदलने में समर्थ है। जो व्यक्ति कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझ लेता है और पूरी निष्ठा तथा ईमानदारी से परिश्रम करता है उसे कितना ही आर्थिक अभाव हो, लेकिन कष्ट का का अनुभव नहीं होता। उसे अपनी ईमानदारी व विवेकपूर्ण कर्म और श्रम में ही ईश्वर के दर्शन होते हैं। किसान अपनी मेहनत से ब्रह्मा के समान अन्न, फल-फूल उपजाता है। अपनी मेहनत का फल उसे फसल के रूप में मिलता है, जिससे वह अपनी और अपने परिवार की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, और पूरे देश का भरण-पोषण करता है। अपने पशुओं की सेवा और पालन करता है। सरदार पूर्णसिंह ने काव्यात्मक शैली में वर्णन करते हुए नंगे पांव, नंगे बदन दिन-रात खेतों में मेहनत करने वाले किसान की उपमा किसी फकीर से दी है, जो दूसरों की सेवा में ही परम संतोष का अनुभव करता है। इसी प्रकार वे गडरिए, मज़दूर, कलाकार आदि का उदाहरण भी देते हैं। एक सफल चित्रकार अपने चित्र को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसके हर कोण को पूरी तन्मयता से उकेरता और रंगों से संवारता है। अपने चित्रों को वह इतनी सजीवता से चित्रित करता है कि दर्शक उसकी कला से अनायास ही सामंजस्य स्थापित कर लेता है। लेखक के अनुसार अपनी आत्मिक शक्ति के साथ ईमानदारी से जीना और गहरी कर्तव्यनिष्ठा के साथ श्रम करना या मजदूरी करना भी एक कला है। जिस प्रकार कलाकार अपनी कला में निपुण व समर्पित होता है, उसी प्रकार कर्तव्यनिष्ठ, संघर्षशील मज़दूर भी अपने मज़दूरी के कार्य में निपुर्ण और सिद्ध होता है।

यद्यपि आज के मूल्यहीन युग में शहरी मज़दूर और कामगार भी काफी हद तक भ्रष्ट हो चुके हैं। सभी एक ही अपसंस्कृति प्रभावित प्रतीत होते हैं। आज के विघटनशील दौर में सब अर्थ और स्वार्थ से संचालित हैं। फिर भी

इस निबंध से मजदूर वर्ग के आदर्श और यथार्थ रूप का अंतर समझा जा सकता है। निबंधकार ने तरह-तरह के उदाहरण, प्रमाण, अनुभव और तर्क देते हुए अपना पक्ष स्पष्ट किया है कि यदि मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना हो तो उसे ईमानदार श्रम का महत्त्व समझना होगा। उनके अनुसार– मनुष्य की आत्मारूपी धातु के परिश्रम की भट्टी में सच्चे सोने के सिक्के के रूप में ढलने से यही बयान होता है कि सच्ची मजदूरी जीवन की आध्यात्मिक यात्रा के समान है। लेखक का मत है कि यांत्रिक मशीनी सभ्यता की तुलना में हाथ का श्रम अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि मशीनों से बनी चीजों से हस्तकला और श्रम का महत्त्व घटता है। साथ ही कलाकारों और मजदूरों का रोजगार खत्म होता है। वे अपना निष्कर्ष देते हुए कहते है कि श्रम की आँच में तपे ईमानदार मनुष्य की आत्मा ही चैतन्य होती है, जो उसे ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम की प्राप्ति करा सकती है और उसके व्यक्तित्व को प्रेममय बनाती है। उसके चित्त की शुद्धता, ईमानदारी, सदाचरण और दृढ़ विचार हम उसके कर्म को अध्यात्म की ऊँचाई तक पहुंचा देते हैं। इन मानवीय विशेषताओं के बिना किया गया श्रम मात्र आडम्बर मात्र बन जाता है। लेखक ने प्रतिपादित किया है कि आचरण की शुद्धता और पवित्रता के साथ किया गया श्रम ही सच्चा श्रम है।

इस निबंध में लेखक ने अपने आदर्श विचारों और भावों को अभित्यक्त किया है। सहज और सरल भाषा के प्रयोग ने निबंध को संप्रेषणीय बना दिया है। विषय को सही ढंग से स्पष्ट करने वाले उदाहरणों और तर्कों ने निबंध को रोचक बना दिया है। विषय का समुचित प्रवाहमय प्रतिपादन ही इस निबंध की मौलिकता है।

निबंध की प्रमुख विशेषताएँ–

'मज़दूरी और प्रेम' निबंध अध्यापक पूर्णसिंह के व्यक्तिव्यंजक निबंधों में विशेष स्थान रखता है। इसमें लेखक ने 'मज़दूरी' जैसे साधारण विषय पर एक नई दृष्टि से नए प्रकार के विचार प्रस्तुत किए हैं। मज़दूरी से जुड़े अनेक ऐसे जीवन मूल्य भी हैं जिन पर सामान्य रूप से हमारा ध्यान नहीं जाता। इन्हीं को लेखक ने अनेक स्तरों पर उदाहरण और प्रतीक देते हुए काव्यपरक प्रतीकों और व्यंग्य आदि के माध्यम से स्पष्ट किया है, जिसके कारण लेखक की अपनी निजी धारणाएँ अनेक संदर्भों में अर्थगर्भित लगती हैं।

रचना-शिल्प की दृष्टि से देखें तो सरदार पूर्णसिंह के 'आचरण की सभ्यता', 'मज़दूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' आदि निबंध उच्च कोटि के 'निर्बन्ध निबंध' माने जाते हैं। उनके बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है–

''उनकी लाक्षणिकता हिंदी गद्य-साहित्य में नई चीज़ थी.....उनकी शैली में दो गुण एक साथ मिले-जुले रहते हैं – एक तो वक्तृत्व कला का ओज और प्रवाह, दूसरे चित्रात्मकता या मूर्तिमत्ता। इन दोनों के सम्मिलन के कारण इनके निबंधों की शैली हिंदी में अनूठी बन पड़ी है। वह अत्यधिक प्रभावकर हो उठी है। एक ओर उनके निबंध स्वयं में प्रभावाभिव्यंजक एवं गहरे रूप में व्यक्तिनिष्ठ हैं तथा दूसरी ओर पाठकों के लिए नितांत साधारणीकृत भी। उनका 'मज़दूरी और प्रेम' निबंध भी व्यक्तिव्यंजक निबंध होते हुए भी मानवजीवन के सामान्य पहलुओं और प्रसंगों को लेकर लिखा गया है। इसमें भाव और विचार तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। तार्किकता और रूखी बौद्धिकता के स्थान पर लेखक ने सभी वर्णनों और विश्लेषणों में भावजगत को प्रधानता दी है। इसी विशेषता के कारण उनका निबंध अधिक प्रभावशाली बन गया है।

किसी भी निबंध की विशेषताओं की समीक्षा कुछ विशेष तत्त्वों के आधार पर की जा सकती है। जैसे–विषय निरूपण, एक सूत्रता व संक्षिप्तता, वैयक्तिकता, भावात्मकता, सजीवता, रोचकता हास्य-व्यंग्य का समावेश, आलंकारिकता और कलात्मक सौंदर्य। इन सभी तत्त्वों की दृष्टि से 'मजदूरी और प्रेम' निबंध की विभिन्न विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

विषय-निरूपण की दृष्टि से अध्यापक पूर्णसिंह ने मज़दूर, लुहार, गड़रिए, चित्रकार आदि के जीवन के अनेक पक्षों को उभारते हुए अनेक शब्दचित्र उकेरे हैं और उनमें उच्च चारित्रिक गुणों के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किए हैं। निबंधकार का मानना है कि वही मनुष्य गौरवशाली जीवन जीता है जो विवेकबुद्धि के साथ सदैव कर्मठ-कर्मशील

रहकर मेहनत-मज़दूरी करता है। लेखक के अनुसार लुहार, मोची, किसान, मज़दूर आदि क्षुद्र-स्वार्थी भाव से उपर उठकर, सर्वस्व त्यागकर दूसरों के लिए जीना जानते हैं। सत्याचरण और शील-सौंदर्य उनके संपूर्ण कर्म का आधार होता है। की भावना के साथ जब वे कर्म क्षेत्र में अपना सर्वस्व होम करके अन्न-फल का सृजन या कोई नव-निर्माण करते हैं, तो उनकी पहचान उनके सद्कर्म से होती है। लेखक के अनुसार–श्रेष्ठ मनुष्य वही है जो दीन-ओ-ईमान का पक्का और शुद्ध-चित्त होकर श्रम की पूजा करता है। देववृत्तियों और मानव मूल्यों से संपन्न होकर किया गया उसका सच्चा श्रम जीवन की आध्यात्मिक यात्रा के समान है। लेखक ने अपनी इन धारणाओं का अनेक प्रकार के उदाहरण, तर्क, शब्दचित्र, वर्णन आदि के द्वारा व्यक्त करते हुए अपने विषय को सरलता से प्रस्तुत किया है।

वैयक्तिकता की विशेषता निबंध को एक साधारण लेख से अलग तथा विशिष्ट बनाती है। निबंधकार अपने वर्ण्य विषय या व्यक्ति चरित्र और उसके परिवेश को जिस रूप में चित्रित करता है, उसके पीछे उसकी अपनी निजी व्यक्तिगत धारणा ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह लेखक की वैयक्तिक धारणा का ही परिणाम है, जिसने उन्हें मज़दूर, किसान, लुहार, गड़रिए, फकीर जैसे चरित्रों के विषय में लिखने को बाध्य कर दिया। इन चरित्रों के उजले पक्ष और उनके परिवेश को लेखक ने बड़ी संवेदनशीलता के साथ मूर्त किया है। उन्होंने मजदूरी और प्रेम के संबंध में निजी तथा भारतीय और वैश्विक मानव मूल्यों के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किए हैं। वे मनुष्य के स्थान पर मशीनों को महत्त्व देने के खिलाफ हैं। उन्होंने रास्किन और टॉल्सटॉय का उदाहरण देते हुए सर्वत्र हाथ से बनी चीजों, हाथकरघा उद्योग और कारीगरों को महत्त्व दिया है। साम्राज्यवाद से परे श्रम और श्रमिक तथा उनके अधिकारों के पक्ष में निबंधकार ने दृढ़ता से अपने व्यक्तिगत विचारों को व्यक्त किया है।

भावात्मकता की विशेषता के कारण यह निबंध व्यक्ति-व्यंजक हो गया है। इस निबंध में सभी वर्णन लेखक की जीवंत भावात्मक चेतना से युक्त हैं। द्विवेदीयुगीन लेखक होते हुए भी उनके अन्य निबंधों की तरह इस निबंध में भी द्विवेदीयुगीन नीरसता, सैद्धांतिक विवेचन और कथन की रुक्षता नहीं है। बल्कि स्वच्छंदतावादी साहित्य के गम मिलते हैं। इसलिए इस निबंध में लेखक द्वारा व्यक्त सभी विचार, सिद्धांत और धारणाएँ उनके व्यक्तिगत राग-विराग की अभिव्यक्ति से संपन्न हैं। जैसे– ''एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी ना दे सका। परंतु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। ....हाथ की मेहनत से चीज़ में जो रस भर जाता है, वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज़ में कहाँ ?''

एकसूत्रता और संक्षिप्तता निबंध की एक अन्य बड़ी विशेषता है। अनेक उदाहरण और संस्मरण प्रस्तुत करने के बावजूद यह निबंध संक्षिप्त है और इसमें व्यक्त भावों व विचारों में एकसूत्रता भी है। लेखक ने छोटे-छोटे उपशीर्षकों जैसे– 'गडरिये का जीवन', 'मजदूर की मजदूरी', 'मजदूरी और कला', 'मजदूरी और फकीरी', 'पश्चिम सभ्यता का नया आदर्श' आदि में अपने व्यापक विषय को समेटा है। लेखक ने इन उपशीर्षकों या उपखंडों में विविध प्रकार के विचारों, तत्त्वों, चरित्रों और जीवन-स्तरों को अनेक उदाहरण देकर अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हुए भी निबंध को सगठित बनाए रखा है। विषय की प्रस्तुति इतनी सुसंबद्ध है कि विषयगत एकसूत्रता या एकान्विति आरंभ से अंत तक बनी रहती है। इसके बहुविध प्रसंग एक केन्द्र से जुड़े हुए हैं। इसके उपशीर्षकों और उनमें आने प्रसंगों का कोई उपरी सीधा संबंध नहीं है। लेकिन ये सब मिलकर 'मजदूरी और प्रेम' के संबंध में लेखक के एक आदर्शोन्मुखी जीवन दर्शन और समाज दर्शन से जुड़े हैं और एक मूल विषय को उभारते हैं। लेखक के अनुसार–''चेतन इसे चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य जाति का कल्याण हो

सकता है। ....धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। लेखक ने थोड़े शब्दों और संक्षिप्त वर्णनों के द्वारा अपने मूल कथ्य को उभारा है।

काव्यात्मक भाषा और शैली के द्वारा निबंधकार ने अपने अनुभवों, विचारों और भावों को मूर्त्त रूप प्रदान किया है। भावपूर्ण प्रवाह के कारण निबंध के वर्णनों-विवेचनों में कवित्व की लय आ गई है। कम से कम शब्दों में विषय को स्पष्ट रूप से रखने और अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में निबंधकार सक्षम है। लाक्षणिकता, चित्रात्मकता, अलंकारों, लोकोक्तियों और कहावतों का प्रयोग अध्यापक पूर्णसिंह की भाषा-शैली के मुख्य गुण हैं। उन्होंने विभिन्न प्रकार के कामगारों के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को शब्दचित्रों द्वारा इस प्रकार उकेरा है कि उनके बाह्य व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके आदर्श अंर्तमन के भी साकार चित्र उभरते हैं। व्यक्ति चित्रण के साथ-साथ वातावरण को मूर्त करने में भी लेखक सिद्धहस्त हैं।

शब्द-चयन की दृष्टि से इस निबंध में लेखक ने विषय के अनुरूप प्राय: आम बोलचाल की भाषा को आधार बनाया है। लेकिन अपने मूल कथ्य और तर्कों को प्रभावशाली बनाने के लिए तत्सम शब्दों का भी काफी प्रयोग किया है। अध्यापक पूर्णसिंह का कई भाषाओं पर अधिकार था। वे हिंदी, अंग्रेजी, पश्तों, जापानी, फारसी, उर्दू के जानकार थे। अत: कई स्रोतों के शब्दों से संपन्न सूत्रात्मक भाषा शैली में उन्होंने अपनी सूक्ष्म भाव-वृत्ति और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति की है।

उनकी भाषा-शैली में अध्यापकीय गुण भी मिलता है। संक्षेप में अपनी बात रखकर अपना मंतव्य स्पष्ट करना और उदाहरण, दृष्टांत आदि देते हुए उसे सरल रूप में समझाना उनकी अध्यापकीय शैली के गुण हैं। निबंध की शैली आवश्यकतानुसार भावात्मक तथा चित्रात्मक रूप ग्रहण करती है।

इस प्रकार विषय प्रतिपादन, भावात्मक सौंदर्य, मानवीय संवेदना, उच्चादर्श, चित्रात्मक शैली और व्यंजक भाषा के सहारे सरदार पूर्णसिंह पाठकों से सहज निकटता स्थापित कर लेते हैं और यही इस निबंध की विशिष्टता है।

पाठ से उद्धृत गद्यांशों की व्याख्या–

अनुच्छेद–1

''उसके मेहनत के कण जमीन पर गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नज़र आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुत हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केन्द्र है।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ सरदार पूर्णसिंह के 'मजदूरी और प्रेम' नामक निबंध से उद्धृत हैं। इस निबंध में लेखक ने विभिन्न प्रकार के कामगारों और किसानों की मेहनत-मज़दूरी और कर्त्तव्य-भावना का आदर्शपरक चित्रण किया है। उनके अनुसार–यदि किसान परहित की भावना से प्रेरित होकर मेहनत-मजदूरी करता है तो उसके शुद्ध निर्मल हृदय से की गई उसकी खेती ही उसे ईश्वर के समकक्ष बना देती है।

व्याख्या : इन वाक्यों में लेखक ने ग्रामीण परिवेश के सीधे-सादे लोगों की कर्मशीलता और भावों को अभिव्यक्त किया है। किसान अपनी मेहनत से अन्न-फल आदि उगाता है। खेती और उपज के लायक ज़मीन तैयार करता है। उसके पसीने की बूंदों से ही मानो जमीन सिंचती है और तब हवा और प्रकाश की सहायता से मीठे फल उत्पन्न होते हैं। अन्न, फूल, फल आदि उत्पन्न करने में किसान का इतना अधिक श्रम लगता है कि मानो वह अपने को ही छवि रूप में अर्पित करके या होमकर उन्हें पैदा करता है।

ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म के द्वारा दी गई आहुति से संसार उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार किसान भी ब्रह्मा के समान, अपनी आहुति देकर अन्न पैदा करता है। लेखक ने काव्यात्मक शैली में स्पष्ट दिया है कि प्रकृति के सहज परिवेश के बीच इन मेहनतकशों को जप-तप की जरूरत नहीं। उनका रात-दिन का श्रम स्वाभाविक रूप से उनमें आध्यात्मिक भाव भर देता है। उन्हें प्रकृति के साधारण रूपों में ही ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं। ईश्वर के प्रति उनका प्रेम उनकी खेती के रूप में ही प्रकट हो जाता है।

विशेष :– प्रस्तुत पंक्तियों में काव्यात्मक प्रांजल भाषा का प्रयोग करते हुए निबंधकार ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य अपने परिश्रम से अन्न, फल, फूल आदि उत्पन्न करता है। कृत्रिम जीवन शैली से दूर गाँव के प्राकृतिक वातावरण में दिन, रात मेहनत करने वाले किसान का जीवन लेखक को किसी स्वाध्याय से कम नहीं लगता। साथ ही प्रकृति के करीब होने की वजह से उसमें स्वाभाविक त्याग, कर्मण्यता, चैतन्यता जैसे चारित्रिक गुण आ जाते हैं। उसका कर्म ही ईश्वर के प्रति उसकी भक्ति भावना है। निबंधकार ने गंभीर सार्थक शब्दों में अपनी इस धारणा को सामने रखा है कि ईमानदारी और श्रम से मनुष्य के अंत:करण का परिष्करण स्वत: हो जाता है।

अनुच्छेद–2

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुई कामों में उनकी प्रेममयी आत्मा की सुगंध आती है। रेफेल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कार्यकुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अंत:करण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, उसमें छिपी चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं।''

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यावतरण में लेखक ने कलाकार की कला और अभिव्यक्ति का मजदूरी से क्या संबंध है–इसे स्पष्ट किया है। महान चित्रकारों की कार्यकुशलता उनके चित्रों को इतना मुखर बना देती है कि वे सजीव जान पड़ते हैं।

व्याख्या–मनुष्य के आत्मिक गुण उसके हाथ से किए हुए कामों में नज़र आ जाते हैं। कलात्मक या रचनात्मक काम करने वाले कलाकारों की कृतियों से उनकी आत्मा की प्रेममय पवित्रता और चैतन्यता का बोध होता है। रेफेल, माइकेल एंजेलो, विंची जैसे पुराने महान चित्रकारों के चित्रों में उनके अंत:करण के भाव इतने कुशल रूप में चित्रित हुए हैं कि सदियों बाद भी कोई कला का पारखी, संवेदनशील व्यक्ति उनके हृदय के भावों को अनुभव कर सकता है। अपनी अलग Style या शैली के लिए प्रसिद्ध ये चित्र मात्र रेखाओं या रंगों की कृतियाँ नहीं हैं बल्कि इनके भीतर की भावसम्पन्नता इतनी सजीव है कि उनमें चित्रकार की आत्मा के दर्शन होते हैं। यंत्रों द्वारा बने हुए चित्र लेखक को निर्जीव प्रतीत होते हैं। जबकि हाथ से बने हुए चित्रों की हृदयग्राह्यता उन्हें सजीव बना देती है। इन चित्रों को चित्रकार के विचारों और उनके मूलभूत जीवन दर्शन का प्रतिबिंब कहा जा सकता है।

विशेष–यहाँ लेखक ने तत्सम व तद्भव शब्द अपनाते हुए भाषा में सहजता का इस प्रकार निर्वाह किया है कि उनके चिंतन की गंभीरता व्यक्त हो सके। सूत्रात्मक भाषा शैली में उन्होंने महान कलाकारों की रचनात्मकता और उनके चित्रों के प्रभाव को रेखांकित किया है।

अनुच्छेद–3

''मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक है। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीरी अपने आसन से गिर जाती है, बुद्धि बासी पड़ जाती है।'' मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि

रूप का व्यष्टिरूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयान है, जो मनुष्य की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है।

प्रसंग – सच्चे और ईमानदार श्रम से मनुष्य की मनुष्यता और चिंतन शक्ति का विकास हो सकता है अपने इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए निबंधकार ने एक और उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है–

व्याख्या – मनुष्य के जीवन में मज़दूरी और फकीरी का या धर्म और पुरुषार्थ दोनों का महत्त्व बराबर है। सरदार पूर्णसिंह के अनुसार श्रेष्ठ मनुष्य वही है जो दोनों में संतुलन बनाए रखे। दोनों ही उसके व्यक्तित्व में मनुष्यता के विकास के लिए जरूरी हैं। प्रकृति में भी हवा, फूल, पत्ते सभी गतिशील हैं। ऐसे में बिना गति के, एक जगह रुकी हुई बुद्धि और चिंतन वाली फकीरी बासी पड़ जाती है। जबकि मज़दूरी करना और कर्मशील रहना जीवन का आध्यात्मिक नियम है। आत्मा रूपी धातु को सोने के सिक्के में ढालने के लिए फकीरी के साथ-साथ उसे ईमानदार मज़दूरी की भट्ठी में गलाना पड़ता है। विश्व के कई बड़े चिंतक जैसे कबीर, टॉल्सटॉय आदि ने कर्मशील रहकर ही सच्ची फकीरी की है। इसी प्रकार निष्काम कर्म और विवेकशीलता के बिना की गई मज़दूरी का कोई अर्थ नहीं। इन दोनों का साथ और संतुलन होना ही जीवन का परमार्थ रूप है। इसलिए मज़दूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय संबंध है।

विशेष–यहाँ लेखक ने लाक्षणिकता और व्यंग्य के सहारे अपने कथ्य को स्पष्ट किया है कि जीवन में श्रम और उच्च रचनात्मक गत्यात्मकता आवश्यक है। विवेकशील कृत्यों में प्रवृत्ति, गति और पूर्णतः कर्म-समाधि ही सच्ची फकीरी है। सत्पुरुष, तत्वज्ञानी कर्मयोगी ही सच्चे मनुष्य कहलाते हैं–इस बात को एक सूत्र में कहकर लेखक ने प्रभावशाली भाषा में उसका विवेचन किया है?

भाषा संबंधी प्रश्न :

(क) कठिन शब्दों के अर्थ –

1. आहुत – होम हुआ, हवि रूप में अर्पित
2. नीरोगता – स्वस्थ, रोग रहित
3. अचिंतनीय – जिसका चिंतन न किया जा सके, अज्ञेय
4. सरोकार – मतलब, संबंध
5. निवारण करना – मिटाना, दूर करना
6. दर्शनार्थ – दर्शन के लिए
7. स्वाध्याय – अध्ययन आवृत्तिपूर्वक वेदाध्ययन
8. अंतःकरण – मन, हृदय
9. दिव्य / दैवी – अलौकिक
10. ब्रह्मानंद – स्वर्गिक आनंद
11. कदाचित – शायद
12. जी उकताना – मन ऊब जाना
13. जिल्द साज – जिल्द बांधने वाला
14. चैतन्य – जागरूक
15. मेमार – इमारत बनाने वाला

16. कलावंत – कलाकार
17. समाष्टि – समाज, समूह
18. अक्ष – कोण
19. कल – मशीन
20. किंवा – अथवा
21. विदित – ज्ञात
22. विमर्दित – कुचली हुई
23. महातुच्छ – सबसे हीन
24. लेशमात्र – ज़रा-सा
25. चेतन – ज्ञान, बुद्धि

(ख) वर्तनी शुद्ध कीजिए

अशुद्ध	**शुद्ध**
व्रद्धि	वृद्धि
प्रमार्थ	परमार्थ
विदीत	विदित
पद्यासन	पद्मासन
पूनरावृति	पुनरावृत्ति
उदभव	उद्भव
प्रफुलित	प्रफुल्लित

प्रश्न :

1. 'मजदूरी और प्रेम' निबंध का प्रतिपाद्य स्पष्ट कीजिए?
2. 'मजदूरी और प्रेम' निबंध के रचना-शिल्प की विवेचना कीजिए।

(ii) करुणा

रामचन्द्र शुक्ल

– डॉ. विजयबाला तिवारी

लेखक-परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म 1884 ई. की आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना ग्राम में हुआ। उनकी आरंभिक शिक्षा मिर्जापुर में हुई। उन दिनों हिन्दी के पठन-पाठन का विशेष महत्त्व नहीं था, इसलिए शुक्ल जी की आरंभिक शिक्षा उर्दू के माध्यम से हुई। यद्यपि उन्होंने इंटरमीडिएट तक ही शिक्षा ग्रहण की किंतु पढ़ने-लिखने में रूचि होने के कारण अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू एवं संस्कृत साहित्य का व्यापक ज्ञान इन्होंने स्वाध्याय से प्राप्त किया।

आरंभ में कुछ समय के लिए उनकी नियुक्ति एक सरकारी कार्यालय में 20 रु. मासिक वेतन पर हुई परंतु उनका मन बहुत दिनों तक यहाँ नहीं रम पाया। कुछ समय बाद वे मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग टीचर के रूप में नियुक्त हुए। यहीं से उनका साहित्य-प्रेम जाग्रत हुआ और पं. बदरीनारायण प्रेमधन के संपर्क से उनके हिन्दी-प्रेम को प्रोत्साहन मिला। इसी समय वे लेखन-कार्य में पूरी तरह जुट गये। 'सरस्वती' इत्यादि पत्रिकाओं में उनकी कहानी, कविता, निबंध छपने लगे और उनकी पहचान हिन्दी के लेखक के रूप में होने लगी। 'नागरी प्रचारिणी सभा' में सहायक संपादक के रूप में कार्य करने का आमंत्रण मिलने पर वे काशी आकर रहने लगे। कोश के संपादन का कार्य समाप्त होने पर वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के रूप में नियुक्त कर लिये गये। बाद में उन्होंने अध्यक्ष पद की गरिमा को बढ़ाया और अंत तक उसी पद पर बने रहे। अनेकमुखी साहित्यिक प्रतिभा के धनी इस साहित्यकार का देहावसान 2 फरवरी 1941 को हुआ।

शुक्ल जी की साहित्यिक प्रतिभा अनेकमुखी थी। वे कवि, नाटककार, निबंधकार, आलोचक, अनुवादक, संपादक, साहित्य के इतिहासकार और कोशकार-सभी कुछ थे। हिन्दी साहित्य का पहला और सर्वश्रेष्ठ इतिहास 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखने का श्रेय शुक्ल जी को जाता है। उनका कोश 'हिन्दी शब्द सागर' हिन्दी का पहला पूर्ण और प्रामाणिक कोश माना जाता है। उनकी कीर्ति का आधार-स्तंभ उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं –

निबंध–विचारवीथि, चिन्तामणि (भाग 1 और 2)

समीक्षा–जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी आलोचनाएँ, रसमीमांसा।

कहानी–ग्यारह वर्ष का समय।

अनुवाद–लाइट ऑफ एशिया का 'बुद्धचरित' नाम से काव्यानुवाद, 'दि मिस्ट्री ऑफ यूनीवर्स का विश्व प्रपंच' नाम से अनुवाद और राखालदास बनर्जी के उपन्यासों का अनुवाद–शशांक एवं करूणा।

साहित्येतिहास–हिन्दी साहित्य का इतिहास।

कविता–हृदय का मधुर भार तथा अन्य कविताएँ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबंधकार, आलोचक और साहित्य इतिहास लेखक हैं। उनका लेखन कार्य सन् 1900 ई. से लेकर सन् 1940 ई. तक विस्तृत है। इस अवधि में आचार्य शुक्ल ने मौलिक और प्रौढ़ चिन्तन वाले निबन्ध लिखे जो 'चिन्तामणि' के तीनों भागों में संकलित हैं। प्राय: ये निबन्ध दो प्रकार के हैं। पहले वर्ग में भाव और मनोविकार संबंधी निबन्ध हैं और दूसरा वर्ग आलोचना से संबंधित है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने उनके निबन्धों में निहित प्रौढ़ चिन्तन के तत्त्वों का उल्लेख करते हुए लिखा है, ''उन्होंने बहुत सोच समझकर उन्हीं विषयों को विवेचन-विश्लेषण के लिए चुना है जिनका मानव-जीवन में स्थायी महत्त्व है और जो मानव के समस्त क्रिया-कलापों के प्रेरक और संचालक और नियामक हैं।''

सार और प्रतिपाद्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भावों और मनोविकारों को नए संदर्भों में समझना चाहते थे, उनकी नई व्याख्या करना चाहते थे, उस समय साहित्यिक संदर्भ यह था कि रीतिकालीन और काव्यशास्त्रीय परंपरा ने भावों और विचारों को संकीर्ण और ठस बना दिया था। आचार्य शुक्ल इस संकीर्णता से बचने के लिए भावों और विचारों को नए संदर्भ से जोड़ना चाहते थे। नए संदर्भ में इतिहास और मनोविज्ञान की पद्धति का उपयोग करने की ओर उनका झुकाव दिखाई पड़ता है। तात्पर्य यह कि उन्होंने ऐतिहासिक संदर्भ में मनोवैज्ञानिक पद्धति से मनोविकारों को जाना ''समझा और लिखा। उनका कहना है, ''विभाव-भावों के प्रकृत आधार हैं यह विभाव सिर्फ रीतिकालीन नायक-नायिका नहीं हैं, सारी दुनिया, परिस्थितियाँ, मनुष्य आदि सभी प्रकृत आधार हैं।''

शुक्ल जी के भाव और मनोविकार संबंधी निबंध 'चिन्तामणि' के प्रथम भाग में संग्रहीत हैं। संख्या में ये दस हैं। ये हैं 'भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करूणा', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय' और 'क्रोध'। यदि व्यक्ति को, समाज को समझना है तो मानव मनोभावों को समझना अनिवार्य है। ये मनोविकार मानव-जीवन के समस्त क्रिया कलापों के केन्द्र हैं। मानव-जीवन की विकास प्रक्रिया के समानान्तर मनोभावों की विकास प्रक्रिया को रखकर शुक्लजी ने स्थापित किया कि मनुष्य के बाह्ययाचरण के मूल में उसके अन्त:करण में स्थित मनोभाव प्रेरक की भूमिका का निर्वाह करते हैं। उनका कथन है, ''समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक रूप में पाए जाते हैं।''

'करुणा' निबंध में शुक्ल जी ने करुणा के मनोभाव का विश्लेषण किया है। शुक्ल जी का अनुभव था कि सुख-दुख की भूल अनुभूतियाँ ही विषय-भेद से प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा आदि ही मनोविकारों का रूप धारण करते हैं। ये मनोविकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। करुणा दु:ख की अनुभूति का एक प्रकार है। क्रोध भी दु:ख की अनुभूति में ही गिना जा सकता है किन्तु उसका परिणाम करुणा से विपरीत होता है क्योंकि क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। इस प्रकार करुणा के भाव के मूल में पात्र की भलाई की उत्तेजना की भूमिका होती है।

मनुष्य समाज में रहता है। उसकी अनुभूतियाँ समाज के अन्य सदस्यों की 'क्रिया अथवा अवस्था पर अधिक केन्द्रित हो जाती हैं। इसीलिए वह दूसरों की दु:ख की अवस्था में दु:खी होता है और सुख की स्थिति में सुखी। किन्तु सुख की अपेक्षा दु:ख की अनुभूति अधिक व्यापक प्रभाव डालती है। जिसके लिए दु:ख होता है उसके प्रति मन में करुणा उपजती है। इस करुणा के लिए पात्र में दु:ख की स्थिति एकमात्र अनिवार्यता होती है जबकि सुख की अवस्था में ऐसा नहीं होता है। अज्ञात व्यक्ति के दु:ख देखकर हम दु:खी होते हैं लेकिन अपरिचित के सुख में आनन्दित नहीं होते। आचार्य शुक्ल इसका विश्लेषण इस प्रकार करते हैं। ''सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दु:ख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या संबंधी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान होने के कारण समाज का मित्र या हित् हो।'' शुक्ल जी के अनुसार इससे स्पष्ट हो जाता है कि दूसरों के दु:ख से दु:खी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। दूसरों के दु:ख के कारण होने वाले दु:ख को आचार्य शुक्ल करुणा कहते हैं जो अपने कारण को दूर करने का भाव निर्मित करता है ''पर दूसरों के दु:ख के परिज्ञान से जो दु:ख होता है वह करूणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।''

करुणा के भाव में 'सापेक्षिक तीव्रता' होती है। अपरिचित व्यक्ति पर होने वाली करुणा परिचित मित्र पर होने वाली करुणा से कम गहरी और सघन होती है।

शुक्लजी करुणा के भाव को उदात्त मानवीय मूल्य के रूप में प्रस्तावित करते हैं। मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता आदि का संस्थापक यही करूणा का मनोभाव है। आचार्य शुक्ल शील की व्याख्या इस प्रकार करते

हैं, ''दूसरों के उपस्थित दु:ख से उत्पन्न दु:ख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के सम्भाव्य दु:ख का ध्यान वा अनुमान जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दु:ख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है।'' इस शील और सद्वृत्ति के निर्वाह में सत्य बोलने, बड़ों की आज्ञा का पालन करने के नियम यदि बाधक बनते हैं तो उन्हें त्याग देना चाहिये क्योंकि नियम शील और सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। करूणा मानव-हृदय में शील, सद्वृत्ति और सात्विकता के मूल्यों की स्थापना करती है। अपनी इसी उदात्तता के कारण जैन और बौद्ध धर्मों में इसे ईश्वरीय भाव कहा गया है।

करूणा का भाव श्रद्धा से भी संबद्ध है। करुणा और श्रद्धा दोनों के मूल में सात्विकता होती है। किसी व्यक्ति के दु:ख की स्थिति दूसरे व्यक्ति के मन में दु:ख की मूल अनुभूति को जाग्रत करती है और तीसरा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के दु:ख की अनुभूति से प्रभावित होकर उसके प्रति श्रद्धानत हो जाता है। यह श्रद्धा का भाव करूणा के अतिरिक्त किसी अन्य मनोविकार में नहीं होता है। घृणा, भय, आश्चर्य, आनंद, क्रोध किसी भी मनोविकार की स्थिति को देखकर श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती।

करूणा का विषय प्राय: दूसरे का दु:ख होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रिय के वियोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले दु:ख को भी करूणा के अन्तर्गत मानते हैं। ''प्रिय के प्रति अनिष्ट की कल्पना करके व्यक्ति के मन में करुणा जन्म लेती है। शुक्ल जी इस अवस्था की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अत: प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है।'' आगे वे इसे और भी स्पष्ट रूप से समझाते हैं, ''जो करूणा हमें साधारणजनों के वास्तविक दु:ख के परिज्ञान से होती है, वही करूणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारणजनों का तो हमें दु:ख असह्य होता है, पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चय ही।'' तात्पर्य यह है कि प्रिय की अनुपस्थिति के कारण होने वाली करुणा में प्रिय के सुख का अनिश्चित होना है क्योंकि जिससे प्रेम किया जाता है उसके सुख का निर्धारण प्रेम करने वाला व्यक्ति करता है। उसके निकट न रहने पर प्रेमास्पद के सुखकारी स्थितियों में होने के विषय में अविश्वास रहता है। यानी प्रिय के विरह के कारण जन्म लेने वाले दु:ख में जो करुणा की अनुभूति होती है उसके मूल में प्रिय के सुख का अनिश्चय है। प्रेमी प्रिय के प्रति इतना संवेदनशील होता है कि उसे लगता है प्रिय के सुख का जितना ध्यान वह रखता है उतना कोई और नहीं रख सकता।

प्रिय के वियोग की स्थिति में उसके सुख के अनिश्चय के कारण होने वाली करुणा के अतिरिक्त एक दूसरी स्थिति भी है जिसमें प्रिय के चिर-वियोग के कारण शोक की अवस्था होती है। प्राय: मानव का संसार कुछ इष्ट-मित्रों, प्रियजनों को मिलाकर बनता है। इन प्रियजनों की मृत्यु या चिर-वियोग शोक की भावना पैदा करता है। यही शोक करुणा को जन्म देता है। इस प्रसंग में आचार्य शुक्ल लिखते हैं, ''संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उनका संसर्ग और व्यवहार है। अत: ऐसे लोगों में किसी का दूर होना उनके लिए संसार के एक अंग का उठ जाना वा जीवन के अंग का निकल जाना है।'' शोक की मानसिकता में विशेषकर मृत्यु के कारण होने वाले शोक की अवस्था में मृतक या चिरवियुक्त प्रिय के प्रति अनपेक्षित दु:खदायी आचरण व्यक्ति के अन्त:करण में करुणा का भाव जगाते हैं जिसमें अपने ऊपर क्षोभ अधिक होता है। लेखक करुणा के इस भाव में अधीरता और व्याकुलता की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानता है। ''किसी प्रिय व सुहृद के चिर वियोग वा मृत्यु के शोक के साथ करुणा व दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय व कुव्यवहार तथा उनकी इच्छापूर्ति के संबंध में अपनी त्रुटियों को स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।''

करुणा एक विशिष्ट मनोविकार होता है। इसमें अन्य मनोभावों की भाँति आदान-प्रदान की प्रक्रिया नहीं होती अपितु जिसके दु:ख के कारण करुणा की जाती है वह करुणा करने वाले के प्रति सम्मान का भाव रखता है। यानी

जिस प्रकार क्रोध, प्रेम आदि भावों के प्रसंग में यानी जिन पर क्रोध, प्रेम होता है उनसे बदले में क्रोध और प्रेम की ही अपेक्षा होती है, परंतु करुणा के भाव में ऐसा नहीं होता है। आचार्य शुक्ल इस स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, ''करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा व प्रीति करता है।'' करूणा और श्रद्धा का संयोग साहित्य के क्षेत्र में विशेषकर बंगला साहित्य में प्रभावशाली रूप में उपस्थित रहा है जो साहित्य की प्रभावोत्पादकता बढ़ाता है।

आचार्य शुक्ल सहानुभूति को भी मूल्यवान मानते हैं। सहानुभूति को वे इस प्रकार परिभाषित करते हैं, ''दूसरों के विशेषत: अपने परिचितों के क्लेश वा करुणा पर जो वेग रहित दु:ख होता है, उसे सहानुभूति कहते हैं।'' यह मनोभाव भी करुणा की ही भाँति उच्च और उदात्त भाव है किन्तु शिष्टाचार और औपचारिकता के सन्निवेश के कारण यह प्राय: अर्थहीन हो जाता है। सहानुभूति के भाव में शिष्टाचार और औपचारिकता समा जाने से भाव की सघनता, आन्तरिकतता प्रभावित होती है जिससे लेखक दु:खी और क्षुब्ध होता है।

सामाजिक स्थिति की सार्थकता करुणा के विस्तार से देखी जा सकती है। सामाजिकता आर्थिक दृष्टि से दीन –असहाय लोगों की असमर्थता करुणा उत्पन्न करती है। यह महान उद्देश्य है। समाज का कमजोर वर्ग अपनी अशक्तता के कारण हमारी करुणा का अधिकारी बन जाता है। आचार्य शुक्ल का विचार है कि परस्पर सहाय के जो व्यापक उद्देश्य हैं, उनको धारण करने वाला मनुष्य का छोटा सा अन्त:करण नहीं विश्वात्मा है। इस प्रकार मानव जीवन मनोविकारों से अर्थ ग्रहण करता है। आचार्य शुक्ल धार्मिकों और नीतिज्ञों के मनोवेज्ञों पर नियंत्रण के प्रयास को पाखंड समझते हैं। इन धार्मिकों–नीतिज्ञों की तुलना में कवि अधिक श्रेयस्कर हैं क्योंकि वे मनुष्यों के जीवन में इन मनोभावों के महत्त्व को जानते और मानते हैं। यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते हुए भी मनुष्य बिल्कुल जड़ है। पाखंडी लोग मनोवेगों को मारने–दबाने की बात करते हैं। लेखक आधुनिक मनुष्य के इस पाखंडी आचरण से क्षुब्ध है क्योंकि इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है।

निबंध में मात्र तीन ऐसे अवसरों को आचार्य शुक्ल रेखांकित करते हैं जिनमें मनोवेश, विशेषकर करुणा का महत्त्व घट जाता है। ये अवसर हैं–आवश्यकता, नियम और न्याय। ये ऐसी स्थितियाँ हैं जहाँ करुणा व्यवस्था और कर्तव्य के मार्ग में बाधक बनती है अत: उसकी भूमिका गौण हो जाती है। फिर भी इन तीनों परिस्थितियों में यदि संबंधित व्यक्ति के दु:ख से करुणा उत्पन्न होती है तो दु:खी व्यक्ति के दु:ख को व्यक्तिगत स्तर पर दूर किया जा सकता है क्योंकि करुणा का द्वार तो सबके लिए खुला है।

शिल्प

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी के बेकन कहे जाते हैं। गंभीर निबंध लिखने की परिपाटी एक प्रकार से शुक्ल जी ने ही चलाई।

शुक्ल जी अपने दृष्टिकोण का निर्माण कई स्रोतों से करते हैं। परंपरा, इतिहास, धर्म, विज्ञान, परिवेश, मनोभाव उनके दृष्टिकोण के स्रोत हैं। इन सभी स्रोतों को वे आलोचनात्मक मन से देखते हैं और उनमें जो ग्राह्य और त्याज्य है उसका ग्रहण और त्याग करते हैं।

भाव या मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों में आचार्य शुक्ल की गहन विचारधारा मिलती है। इस प्रसंग में करुणा निबंध का यह अंश देखिए, ''जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारी तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है।'' या यह पंक्ति, ''सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।'' यहाँ लेखक जीवन की पहचान बता रहा है। वास्तव में शुक्ल जी नए और मौलिक कोण से जीवन और जगत को देख रहे हैं।

'करुणा' निबंध के शिल्प में संश्लिष्टता और विशिष्टता विकसित होती दिखाई पड़ती है। (संश्लिष्टता का अर्थ है समग्र जीवन के साथ करुणा के भाव का संबंध निर्धारण और विशिष्टता का अर्थ है जीवन की परिस्थितियों भाव-दशाओं को पृथक करने वाले उपकरणों की पहचान और भाव विशेष की क्रिया-प्रतिक्रिया को खोलना)

इस निबंध में शुक्ल जी ने विश्लेषणात्मक शिल्प का भी इस्तेमाल किया है। इसका उदाहरण यह अंश है, ''करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में हीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता जैसाकि क्रोध और प्रेम में होती है बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करने वाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। कोमलभाव की योजना में दक्ष बंगला-लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।'' यहाँ जो करुणा करता है और जिस पर करुणा की जाती है उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा जो श्रद्धा, कृतज्ञता या प्रीति के भाव जन्म लेते हैं उनका विश्लेषण हुआ है।

शुक्ल जी ने उद्धरण शैली का प्रयोग किया है। इस शैली से विषय-स्पष्ट रूप में समझ आता है। जैसे जब वे करुणा को सात्विकता की ज्योति जगाने वाली कहते हैं तो अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए गोस्वामी तुलसीदास की कविता का उदाहरण देते हैं–

''पर-उपकार सरिस न भलाई,
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई।''

इसी प्रकार प्रिय से वियोग जनित दु:ख में करुणा का जो अंश होता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। इसको शुक्ल जी गीतावली को उन पंक्तियों से समर्थित करते हैं जिनमें राम, सीता और लक्ष्मण के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दु:खी होती हैं –

बन को निकरि गये दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिध तर भीजत हवै हैं राम लखन दोउ भाई।

कुछ प्रसंगों में शुक्लजी ने उद्बोधनात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। इससे मन में उद्बोधन या प्रेरणा मिलती है।

कुछ स्थलों पर कहानी शैली का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है।

''आचार्य शुक्ल प्राय: सांस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करते हैं। इस निबंध में भी भाषा संस्कृत निष्ठ ही है।

आशय स्पष्ट कीजिए।

''जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारी तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत-सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है।''

यह अंश आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध 'करुणा' से उद्धृत है। यह निबंध उनके निबंध संग्रह 'चिन्तामणि' में संकलित है जिसके तीन भाग हैं। यह मनोविकार संबंधी निबंधों में से एक है। इस निबंध में करुणा के विशेष भाव को लेखक व्याख्यायित करता है।

प्राय: मानव जिससे प्रेम करता है उसके जीवन में घटित होने वाली घटनाओं कार्यों से वह प्रभावित होता है। यह प्रभाव उसकी भावदशा का निर्माता होता है। प्रेमास्पद के जीवन में कुछ दु:खद घटता है तो प्रिय भी दु:खी होता है, जबकि उसके व्यक्तिगत जीवन में शोक का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है। वह अपने प्रिय के प्रति करुणा के भाव का अनुभव करता है। यहाँ उसके जीवन की मनोवृत्तियों की आधारभूमि प्रिय को मिलने वाले दु:ख, कठिनाइयों से बनती है। यानी व्यक्ति के जीवन का केन्द्र प्रेमास्पद की तत्कालीन स्थिति से बनती है। उसका संसार उन लोगों से

नहीं बनता जिन्हें वह नहीं जानता या कम जानता है बल्कि उसका संसार प्रिय से बनता है।

इस निबंध में आचार्य शुक्ल जीवन के साथ विशेष भाव करुणा का संबंध निर्धारण करते हैं। व्यक्तिगत परिस्थितियों भावदशाओं का प्रिय की परिस्थितियों और भावदशाओं से निर्मित होने की स्थिति का विश्लेषण उन्होंने किया है। नए और मौलिक कोण से जीवन की भावदशा को देखा और परखा है जिसमें गहन विचार धारा दिखाई देती है। यहाँ संश्लिष्टता है जो रचना के समग्र प्रभाव, रूप और अनुभूति को अक्षुण्ण बनाए रखती है।

शैली विश्लेषणात्मक है।

शब्दार्थ –

परिमित – सीमित, मुरौवत – दया, कवायद – परिश्रम, अंतकरणवृत्ति – हृदय की भावना अधमाई – अधर्म, 'वन को निकरि .... राम लखन दोउ भाई – दोनों भाई वन की ओर निकल गए। सावन में गरज रहा है, भादों में पानी बरस रहा है, पुरवाई चल रही है, माँ कौशल्या चिन्ता कर रही हैं न जाने किस वृक्ष के नीचे राम-लक्ष्मण दोनों भाई भी रहे होंगे। 'प्रात: समय उठि... छिन-छिन आगे लै हैं? यशोदा चिंतित हैं कि प्रात: समय कौन कृष्ण को बिना मांगे माखन रोटी देगा? कौन बालकृष्ण को क्षण-क्षण (गोद में) लेगा? नदी किनारे धुँआ...न डालता होय।... नदी किनारे धुँआ देखकर पति वियोगिनी सोचती है कि कहीं कुछ हो रहा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि जिसके कारण मैं जली (वियोग में) वह भी न जल रहा हो। संदेशों देवकी ...करत संकोचा–सूर का पद है। यशोदा उद्धव के माध्यम से देवकी को संदेश देती हैं। यशोदा ने बालकृष्ण का जिस प्रकार लालन-पालन किया, जिस स्नेह से उन्हें बड़ा किया उस स्नेह को देवकी से बनाए रखने की प्रार्थना करती हैं। टेव-आदत, वासर-दिन, सोच-चिंता, अकिंचन-निर्धन, मातहत अधीन।

प्रश्न :

1. 'करुणा' निबंध का मूल कथ्य स्पष्ट कीजिए।
2. 'करुणा' निबंध के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शिल्प की विवेचना कीजिए।
3. आशय स्पष्ट कीजिए।

   ''न्याय और करुणा का विरोध प्राय: सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतिकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे 1,000 रुपये उधार लिये तो न्याय यह है कि वह हमें 1,000 रुपये लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले। यदि 1 रुपया लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है।''

(iii) अशोक के फूल
(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)

– डॉ. सीमा जैन

लेखक परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के अद्‌भुत विचारक एवं साहित्यकार हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास, उपन्यास एवं निबन्ध के क्षेत्र में उनका योगदान उल्लेखनीय है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् 1907 में बलिया जिले के ग्राम ओझवलिया में हुआ। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ज्योतिष एवं संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की। सन् 1930 से 1950 तक वे शान्ति निकेतन में हिन्दी के अध्यक्ष पद पर कार्य करते रहे। सन् 1950 से 1960 तक वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में अध्यक्ष एवं प्रोफेसर के पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसके पश्चात उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुल-निदेशक एवं उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के उपाध्यक्ष पद का कार्यभार भी सम्भाला। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि से सम्मानित किया। भारत सरकार ने उन्हें 'पद्‌मभूषण' की उपाधि से भी सम्मानित किया। 19 जून सन् 1979 में उनका निधन हुआ।

द्विवेदी जी ने अनेक रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। उनकी रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है। उन्होंने विविध विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :-

आलोचनात्मक साहित्य	:	'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'विचार और वितर्क', 'सूर साहित्य', 'नाथ सम्प्रदाय', 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ'।
निबन्ध साहित्य	:	'अशोक के फूल', 'कुटज तथा अन्य निबन्ध'।
इतिहास	:	'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'।
उपन्यास	:	'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारूचन्द्रलेख' और 'अनामदास का पोथा'।

अनूदित रचनाएँ

'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'प्रबन्ध कोष', 'विश्व परिचय', 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'। उन्होंने 'सन्देश रासक' तथा 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन कार्य भी किया। इसके अतिरिक्त 'विश्वभारती' पत्रिका, 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका, हिन्दी अनुशीलन हिन्दुस्तानी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी जर्नल आदि शोध पत्रिकाओं का सम्पादन कार्य भी उन्होंने किया। इनका समस्त साहित्य ग्यारह खण्डों में राजकमल प्रकाशन से 1981 में प्रकाशित हो चुका है। ग्रन्थावली के बाद भी दो पुस्तकें (1) पत्र : हजारी प्रसाद द्विवेदी (सं०-डॉ० मुकुन्द द्विवेदी) (2)'महापुरुषों का स्मरण' प्रकाशित हुई।

पुरस्कार

द्विवेदी जी के 'कबीर' शीर्षक ग्रन्थ पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद ने 1947 में मंगला प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया। 'सूर-साहित्य' पुस्तक पर इन्हें मध्य भारत हिन्दी समिति इन्दौर से सरजू प्रसाद स्वर्ण पदक मिला। 'बाण भट्ट की आत्मकथा' पर नागरी प्रचारिणी सभा का सर्वोत्तम पदक महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वर्ण पदक, 'हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास' पुस्तक पर उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा उत्तम पाठ्य पुरस्कार, 'नाथ सम्प्रदाय' पर उत्तर प्रदेश सरकार के पुरस्कार से इन्हें सम्मानित किया गया। 1957 में भारत सरकार के पद्‌मभूषण तथा सन् 1973 में केन्द्रीय हिन्दी साहित्य अकादमी के द्वारा भी अलंकृत किया गया।

विचारधारा एवं व्यक्तित्व

आचार्य द्विवेदी के समस्त साहित्य में एक विशिष्ट सांस्कृतिक गरिमा एवं उदार मानवतावादी दृष्टि का प्रसार दिखाई देता है। उनके अनुसार मनुष्य ही साहित्य का सर्वोपरि लक्ष्य है। मनुष्य के विचारों को सही दिशा देना और सहज मानवीय विकास ही साहित्य का एकमात्र लक्ष्य है। उनकी यह मानवतावादी विचारधारा सभी कृतियों में दिखलाई पड़ती है।

आचार्य द्विवेदी के अनेक निबन्धों में प्रकृति के सहज एवं नैसर्गिक सौन्दर्य के चित्र भी मिलते हैं। यह प्रकृति के प्रति उनकी अनुरक्ति का परिचायक है। अशोक, शिरीष आदि के विषय में लिखे गए अपने निबन्धों में द्विवेदी जी ने इन पुरुषों के सौन्दर्य का बारीकी से अंकन किया है। यह द्विवेदी जी के सौन्दर्य-बोध को व्यक्त करता है।

द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति एवं ऐतिहासिक परम्पराओं के प्रति आस्था रखते थे। वे सामान्य से विषय से अपना निबन्ध प्रारम्भ करते थे और उसे गहरे सांस्कृतिक चिन्तन से जोड़ देते थे। किसी भी तथ्य का वर्णन करते हुए वे उसका ऐतिहासिक साक्ष्य अवश्य देते थे। द्विवेदी जी का यह इतिहासबोध, सांस्कृतिक चिन्तन एवं मानव की शक्ति के प्रति आस्था ये सभी मिलकर उनके व्यक्तित्व का निर्माण करते थे और उसे विशिष्टता प्रदान करते थे।

द्विवेदी जी आस्थावान होने के साथ ही अध्ययनशील भी थे। उनके अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला आदि भाषाओं तथा इतिहास, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, धर्मशास्त्र आदि विषयों का उन्हें गहरा ज्ञान था। द्विवेदी जी की इस विद्वत्ता की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र दिखाई देती है। इस प्रकार द्विवेदी जी का व्यक्तित्व पांडित्य, विद्वत्ता, सहजता, आत्मीयता, संवेदनशीलता के सम्मिश्रण से निर्मित है और इन सब गुणों की छाप उनकी रचनाओं में और विशेषकर निबन्धों में मिलती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में विषयों की विविधता मानवता, लोकसंग्रह की भावना, भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा, प्राचीन एवं नवीन का सामंजस्य तथा गाँधीवाद का प्रभाव लक्षित होता है। इनकी भाषा में तत्सम शब्दों की प्रधानता होते हुए भी सहजता, सरलता एवं सुबोधता है। विवेचनात्मकता, भावात्मकता, उद्धरण बहुलता इनके निबन्धों की अन्यतम विशेषता है।

सार

'अशोक के फूल' निबन्ध हिन्दी साहित्य के प्रख्यात आलोचक एवं निबन्धकार आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित है। प्रस्तुत निबन्ध में अशोक वृक्ष के फूलों के सौन्दर्य का चित्रण किया गया है। प्राचीन काल में विभिन्न उत्सवों, त्योहारों में इस फूल का माहात्म्य था परन्तु समय के प्रवाह में उसके प्रति वह सौन्दर्यबोध विलुप्त होता चला गया। यह बात लेखक को उदास कर जाती है।

अशोक वृक्ष पर लाल-लाल फूलों के मनोहर गुच्छों को देखकर लेखक का मन मुग्ध हो जाता है और उसे लगता है कि उसके सौन्दर्य एवं कमनीयता से प्रभावित होकर ही कामदेव ने उसे अपने तूणीर में स्थान दिया होगा। कामदेव के पाँच बाण हैं - कमल, आम, नीलोत्पल, नवमल्लिका एवं अशोक। प्राचीनकाल में जिस अशोक को इतना सम्मान दिया जाता था आज उसके प्रति उदासीनता और उपेक्षा क्यों है, इसके कारणों को जुटाने के लिए वह भारत के अतीत पर दृष्टिपात करता है।

अतीत में विचरण करते हुए वह साहित्य पर दृष्टिपात करता है तो देखता है कि यद्यपि कालिदास से पहले भी भारतवासी अशोक के फूलों से परिचित रहे होंगे परन्तु जीवन एवं साहित्य में इसका प्रवेश कालिदास के युग में ही हुआ था। कालिदास की रचनाओं से पहली बार हमें ज्ञात होता है कि उस समय लोगों के मन में यह विश्वास था कि सुन्दरियों के पदाघात से अशोक फूलता है। वे अपने कानों में अशोक के फूल एवं किसलय आभूषण के रूप में धारण करती थी और उनसे अपने केशों का प्रसाधन करती थी। इन फूलों को सौन्दर्य एवं कामोद्दीपन का प्रतीक भी माना जाता था। परन्तु मुसलमानों के शासन के आरम्भ होते ही कवियों और नाटककारों ने उसकी अवमानना करनी

आरम्भ कर दी और वह साहित्य के सिंहासन से अपदस्थ हो गया। उसके बाद भी उसे याद तो किया गया परन्तु किसी प्राचीन अनुपयोगी वस्तु की तरह। लेखक को अधिक दुख इस बात का है कि आज असली अशोक को तो हम पहचानते तक नहीं और लहराते पत्तों वाले उस वृक्ष को अशोक कहने लगे जिस पर फूल तक नहीं आते।

इसी चिन्तन प्रक्रिया में लेखक भरहुत, बोधगया, साँची, मथुरा आदि की यक्षिणी मूर्तियों की गठन और बनावट से अशोक का सन्दर्भसूत्र जोड़ता है। उसका कथन है कि ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अशोक को अतीव गौरव और महत्त्व प्राप्त था। गन्धर्व और कन्दर्प को एक ही शब्द के भिन्न उच्चारण बताते हुए वह कहता है कि गन्धर्व और यक्ष आदि आर्येतर जातियाँ थी। उनके उपास्य वरुण थे, कुबेर थे और वज्रपाणि थे। इन्होंने भारतीय धर्मसाधना को एक नया रूप दिया। इनकी संस्कृति में भोग-विलास पर बल था - धन, सोम-पान, अप्सराएँ, फूलों का प्रयोग – इसके साक्षी हैं। वामन पुराण की यह कथा कि कामदेव का धनुष जब पृथ्वी पर टूटकर गिरा तो विभिन्न प्रकार के कोमल फूलों में बदल गया। यह इस बात का संकेत है कि इन जातियों को पुष्पों से बड़ा लगाव था। उनका रहन-सहन, सुख-सुविधाओं, ऐश्वर्य और भोग-विलास से परिपूर्ण था। महाभारत की अनेक कथाएँ जिनमें सन्तान की इच्छा के लिए स्त्रियों को यक्षों के पास नियोग के लिए जाते दिखाया गया है, पत्थरों पर उत्कीर्ण नग्न स्त्री मूर्तियाँ, अशोक के लाल फूलों को स्मरवर्धक मानकर उनका सेवन, चैत्रशुक्ल अष्टमी को व्रत और अशोक की पत्तियों के भक्षण से स्त्री के सन्तानवती होने का उल्लेख, यक्षों में पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों का पता लगाने की कला, उनकी नृत्य एवं संगीत में रुचि – सभी तथ्य इस ओर संकेत करते हैं कि यक्ष, गन्धर्वों की सभ्यता भोग-विलास, आमोद-प्रमोद की सभ्यता थी।

लेखक इसके पश्चात पुराणों का हवाला देते हुए कहता है कि आर्यों का अनेक जातियों - असुरों, दानवों, दैत्यों, राक्षसों, गन्धर्वों, यक्षों, वानरों एवं भालुओं से संघर्ष हुआ। इनमें कुछ जातियों - जैसे असुर, दानव, दैत्य, राक्षसों ने आर्यों की अधीनता स्वीकार नहीं की और उनसे संघर्ष किया; इसीलिए आर्यों ने उनका उल्लेख घृणा के साथ किया। इसके विपरीत पहाड़ों पर बसने वाले यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर आदि जो शान्तिप्रिय जातियाँ थीं उन्होंने आर्यों की अधीनता स्वीकार कर ली। वे उनके मित्र बन गये। आर्यों ने उन्हें द्वितीय कोटि के देवता या अपदेवता माना है। अतः वर्तमान भारत की सभ्यता-संस्कृति, रीति-नीति अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का मिश्रण है।

लेखक कहता है कि गन्धर्वों की भोगवादी जीवन-दृष्टि से प्रभावित होने के कारण ही बौद्ध, शैव एवं शाक्त धर्मों में विकृतियाँ आयीं। वैराग्य, साधना, तपस्या, इद्रिय दमन आदि का मार्ग छोड़ ये मदिरा के सेवन में ही साधना का चरमोत्कर्ष मानने लगे। योग एवं भोग के इस अपूर्व मिलन ने व्यभिचार एवं माया का जन्म दिया।

दूसरी ओर गन्धर्व और यक्षों के कला प्रेम के परिणामस्वरूप पूजा, उत्सव एवं समारोह का आयोजन होने लगा। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में मदनोत्सव का वर्णन मिलता है और उनसे स्पष्ट होता है कि उस समय भारत कितना समृद्ध, सुखी एवं समुन्नत देश था तथा यहाँ के लोग कितने कला-प्रेमी और प्रकृति-प्रेमी थे। अशोक वृक्ष की पूजा यक्षों एवं गन्धर्वों की देन है।

अशोक वृक्ष चाहे जितना मनोहर-रहस्यमय एवं अलंकारमय क्यों न हो, वह उस सामन्त सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक है जो प्रजा के परिश्रमों पर पली थी और लाखों-करोड़ों लोगों की उपेक्षा करके समृद्ध हुई थी। समय की धारा में ये सामन्त उखड़ गये,समाज ढह गये और उस समय प्रचलित मदनोत्सव की धूमधाम भी खत्म हो गई। पीरों, भूत-भैरवों, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। अशोक पीछे छूट गया और दुनिया आगे बढ़ गई। दुनिया उतना ही याद रखती है जितने से उसका स्वार्थ सधता है।

लेखक के अनुसार काल का दुर्गम चक्र किसी को नहीं बख्शता - देश, जाति, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, कला सभी काल की दुर्दम धारा में बहकर लुप्त हो जाते हैं या नया रूप धारण कर लेते हैं। काल और परिवर्तन से भी अधिक शक्तिशाली मानव की जीने की इच्छा, जीवन-शक्ति है। इसी कारण वह कुछ चीज़े ग्रहण कर लेता है और

कुछ त्याग देता है। इतिहास इसका साक्षी है। विभिन्न जीवन पद्धतियाँ, धर्माचार्यों की साधना-पद्धतियाँ, धनिक वर्ग द्वारा जुटाये गये ऐश्वर्य एवं भोग के उपकरण सभी समय के साथ लुप्त हो गये। अत: सामन्ती सभ्यता के पतन के साथ लोग अशोक को भी भूल गये।

अन्त में लेखक पाठकों को परामर्श देता है कि परिवर्तन सृष्टि का नियम है। उत्थान-पतन, सुख-दुख का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। अत: हमें समय के अनुरूप स्वयं को ढालना चाहिए जैसी बयार चले उसी के अनुरूप अपनी पीठ करनी चाहिए। ''जैसी चले बयार पीठ तब तैसी दीजे।''

प्रतिपाद्य

'अशोक के फूल' निबन्ध हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार आचार्य हज़ारी प्रसाद द्वारा रचित है। शान्ति निकेतन एवं रविन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क में रहने वाले हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण मानववादी है। वे मानव-जीवन के प्रवाह को अखण्ड तथा मानव की जिजीविषा को अक्षुण्ण मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य को मानव-सापेक्ष होना चाहिए। उसका लक्ष्य मनुष्य का उत्थान करना, मानव-समाज को सुन्दर बनाना, मानव चरित्र का उन्नयन करना और सामाजिक चेतना को विश्व मंगल की दिशा में उन्मुख करना होना चाहिए। मात्र वैयक्तिक भावोच्छ्वास को वे साहित्य नहीं मानते। अपने निबन्धों के विषय में उनका कहना है कि ''इसमें मेरा मनुष्य प्रधान है, शास्त्र गौण।''

'अशोक के फूल' में अशोक के वृक्ष और उसके मनोहर लाल फूलों के प्रभाव का वर्णन करते हुए लेखक कभी भारतीय धर्म साधना, कभी कालिदास की रचनाओं, कभी आर्य और आर्येत्तर जातियों के संघर्ष का वर्णन करने लगता है। कभी उसकी दृष्टि भारत की प्राकृतिक सम्पदा पर पड़ती है तो कभी वह देश के सौन्दर्य, वैभव और कला-सम्पदा की कहानी कहने लगता है। लेखक की विचार-तरंगें कभी इतिहास की ओर दौड़ती हैं और वह कालिदास के युग की संस्कृति पर प्रकाश डालने लगता है, कभी मुसलमानी सल्तनत के पतन, ह्रास एवं अवनति पर आँसू बहाने लगता है, कभी यक्षों एवं गन्धर्वों के ऐश्वर्य एवं रसपूर्ण जीवन के चित्र उकेरता है, कभी भारतीय धर्म साधनाओं - बौद्धों, शैवों एवं शाक्तों में फैलने वाले अभिचार की निन्दा करता है। पुराणों, महाभारत की कथाओं, भरहुत, साँची और मथुरा में प्राप्त मूर्तियों का साक्ष्य देकर आर्यों एवं आर्येतर जातियों के संघर्ष और उसकी परिणति की जानकारी देता है।

'अशोक के फूल' निबन्ध लेखक की प्रकृति-विषयक दृष्टि एवं ज्ञान का परिचायक है। अशोक के फूलों के माध्यम से वह प्रकृति एवं वैदिक, संस्कृत साहित्य एवं लोकजीवन का अनुपम चित्रण करता है। प्रकृति एवं मानव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति में मानव की संवेदना जाग्रत करने की अद्भुत शक्ति है। अंगनाप्रिय, कर्णपूरक, मंजरीक, मधुपुष्प, मौलि, रामा जैसे नाम अशोक के पर्यायवाची हैं। कामदेव के पाँच पुष्पबाण माने गये हैं - अशोक, आम्र, नवमल्लिका, नीलकमल और रक्तकमल।

लेखक अशोक के फूलों के माध्यम से आधुनिक जीवन शैली में आती जा रही उदासीनता, संवेदनहीनता का वर्णन करता है और अशोक के फूलों को देखकर उदास हो जाता है। जो फूल भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास में अद्वितीय महत्त्व रखते थे आनन्द और उल्लास तथा उमंग का परिचायक थे, मादकता एवं कोमलता के द्योतक थे। आज उस अशोक के वृक्ष एवं उसके फूलों को न तो कोई जानता है और न याद करता है। यदि किसी अशोक के वृक्ष को जाना जाता है तो वह एक तरंगायित पत्तों वाला वृक्ष है जिस पर न तो फूल आते हैं न उसमें कुछ सुगन्ध होती है।

लेखक इसी अभिव्यक्ति के क्रम में कामदेव से सम्बन्धित मदनोत्सव या मदन महोत्सव का भी वर्णन करता है। नवयुवतियाँ इस पुष्पगुच्छ को कर्णफूल की तरह प्रयुक्त करती थीं। यह भी प्रसिद्ध था कि यह पुष्प सुन्दरी युवती के पैरों के आघात से प्रस्फुटित होता था। होली का उत्सव भी मदनोत्सव का ही पर्याय था। वस्तुत: लेखक यह कहना चाहता है कि भारतीय लोकपरम्परा में प्रकृति के तत्त्व मणि-माणिक्य की तरह गुँथे हुए हैं। प्रकृति की सुन्दर धरोहर के प्रति संवेदनशील हुए बिना भारतीय जीवन की परम्परा, सभ्यता एवं संस्कृति को समझने में हम असमर्थ हैं। संस्कृति

मनुष्य-जीवन को उदात्तता प्रदान करती है, यही नहीं वह जीवन का रसास्वादन कराने की क्षमता भी प्रदान करती है। परन्तु मनुष्य आज अपनी जीवनशैली के कारण प्रकृति के इस अनुपम योगदान से अनभिज्ञ होता जा रहा है। अशोक वस्तुतः यौवन की उमंग एवं स्फूर्ति का प्रतीक है।

लेखक कहता है कि प्रकृति का व्यापार निर्बाध गति से चलता रहता है, प्रकृति के विभिन्न क्रिया-व्यापार अपने नियत समय पर होते रहते हैं। प्रकृति अपनी क्रियाओं के द्वारा मनुष्य को अपनी उत्सवधर्मिता को बनाये रखने के लिए प्रेरित करती है। आज भारतीयों के जीवन में वह उत्सवधर्मिता कम दिखलाई पड़ती है, जनमानस उदासीन हो चला है, उमंग, उत्साह की तरंग विलुप्त होती जा रही है। लेखक कहता है कि अशोक का वृक्ष उदास नहीं है, वह पूरी मस्ती के साथ आज भी झूम रहा है, यद्यपि यह भी सच है कि लेखक अशोक के प्राचीन माहात्म्य का स्मरण करके उदास हो जाता है परन्तु अशोक स्वयं आज भी उसी उल्लास, उमंग और मस्ती से सराबोर होकर झूम रहा है। वह मानव मात्र को यह सन्देश भी दे रहा है कि आनन्द, खुशी, उल्लास किसी अवसर विशेष के मोहताज नहीं होते। मनुष्य अपनी जीवनशैली के माध्यम से भी इन तत्त्वों को प्राप्त कर सकता है।

अन्त में लेखक यह भी स्पष्ट करता है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। सभ्यता एवं संस्कृतियाँ समय के साथ परिवर्तित हुई हैं। मनुष्य की शक्ति इसमें है कि उसने हर परिवर्तन के अनुरूप स्वयं को ढाला है और यह उसकी दुर्दम जिजीविषा का परिणाम है। अतः उदास होना व्यर्थ है। अशोक आज भी उसी मौज और मस्ती से लहरा रहा है, वहाँ कुछ भी नहीं बदला। केवल मनुष्य की मनोवृत्ति ही बदली है। बदले बिना जीवन का विकास असम्भव था। लेखक एक स्थिति की कल्पना करता है कि यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष प्रारम्भ हो जाता, विज्ञान का पहिया घूम जाता तो बुरा होता और हम पिस जाते। अतः यह उचित ही हुआ कि हम अशोक के फूलों के सौन्दर्य में ही रमे नहीं रह गये और परिवर्तन के नियम का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ते रहे। परन्तु यह भी सत्य है कि प्रकृति का रस तथा राग भी अपनी जगह मोहक है। वही एक ऐसा तत्त्व है जो जीवन के आनन्द को बनाये रखने की क्षमता रखता है।

आलोचनात्मक अध्ययन

'अशोक के फूल' : एक ललित निबन्ध

हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने इतिहासकार, आलोचक, उपन्यासकार एवं निबन्धकार सभी रूपों में ख्याति अर्जित की है। उनके आठ निबन्ध-संकलन प्रकाशित हुए हैं जिनके कुछ निबन्ध भाषण के रूप में और कुछ आकाशवाणी से प्रसारित होने वाली वार्ता के रूप में लिखे गये थे। कुछ पत्र-पत्रिकाओं के लिए या स्वान्तःसुखाय लिखे गये। संस्कृत, साहित्य, इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन, भाषा-विज्ञान, ज्योतिष एवं प्राच्य-कला सभी क्षेत्रों में उनके ज्ञान का प्रसार था। उनके निबन्धों में इसका आभास मिलता है। उनके निबन्धों की प्रतिपादन शैली के दो रूप हैं - एक में विषय-विवेचन के क्रम में उनका व्यक्तित्व झाँकता है, दूसरी में विषय का प्रतिपादन ही प्रमुख है।

पहले वर्ग के निबन्धों में लालित्य, भावोच्छवास, लेखक की आत्मीयता, कल्पना की उड़ान, कथा की रोचकता और कलात्मक अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं तो दूसरे वर्ग के निबन्धों में गूढ़ गम्भीर विचार, विषय का सूक्ष्म विवेचन विश्लेषण और लेखक का अपार ज्ञान और पांडित्य दिखलाई पड़ता है। पहले वर्ग के निबन्धों को व्यक्ति-व्यंजक या ललित निबन्ध और दूसरे वर्ग के निबन्धों को विचारपरक निबन्धों की संज्ञा दी जा सकती है। ललित निबन्ध में बुद्धितत्त्व की अपेक्षा हृदय तत्त्व की, विचारों के स्थान पर भावों की प्रधानता रहती है। लेखक का आत्मतत्त्व, उसका व्यक्तित्व, निजी प्रतिक्रियाएँ, निजी रुचि, उसका भावोच्छवास दृष्टिगत होता है। ऐसे निबन्ध पाठक के हृदय को स्पर्श करते हैं और भावमग्न करते चलते हैं। विषय-वैविध्य और लेखक की मनःस्थिति के कारण उसमें कहीं धारा शैली और कहीं विक्षेप शैली का प्रयोग होता है।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी का 'अशोक के फूल' एक ललित निबन्ध है जिसमें भावना, कल्पना एवं अनुभूति की धारा प्रवाहित है। जिसमें लेखक के अनुभवों की दीर्घ परम्परा समाविष्ट है। वह नगण्य पदार्थों एवं सामान्य घटनाओं पर लिखते हुए अतीत में विचरण करने लगते हैं, भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं और प्राचीन अतीत के गौरव का स्मरण करने लगते हैं। 'अशोक के फूल' में भी लेखक इस फूल के माध्यम से भारतीय धर्म, साधना, इतिहास, कालिदास के साहित्य आदि सभी पर दृष्टिपात करता है। वह भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य, वैभव-ऐश्वर्य, कला सभी क्षेत्रों में विचरण करने लगता है।

विषय का वस्तुनिष्ठ प्रतिपादन करते हुए भी द्विवेदी जी का व्यक्तित्व, उनका मानवतावादी दृष्टिकोण, उनकी भावुकता, सहृदयता, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति उनका लगाव आदि सभी अनेक निबन्धों में दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि उनके निबन्ध में लालित्य की सघनता दिखलाई पड़ती है। कहीं वह अपनी धारणा व्यक्त करते हैं, कहीं विचार प्रकट करते हैं, कहीं अपनी सम्मति देते हैं तो कहीं मान्यता प्रकट करते हैं। कहीं भावावेग में प्रशंसा करते हैं तो कहीं निराशा तथा आक्रोश प्रकट करते हैं। प्रकृति का सौन्दर्य तो उन्हें निरन्तर अभिभूत करता है। इस प्रकार उनकी तीव्र एवं गहन अनुभूति इस निबन्ध को ललित निबन्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

लेखक प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो उठता है परन्तु लोगों की उसके प्रति उदासीनता लेखक को उदास कर जाती है। अशोक वृक्ष आज एक तरंगायित पत्ते वाले पुष्पहीन वृक्ष को कहा जाता है यह देखकर भी लेखक का मन क्षोभ से भर जाता है। लेखक प्राचीन साहित्य एवं शिल्प में अशोक वृक्ष के गौरव को स्मरण करके उसमें रमना चाहता है परन्तु यथार्थ का दबाव उसे रोकता है।

लेखक का प्रकृति-प्रेम और प्राकृतिक दृश्यों का कवित्वपूर्ण सरस, मनोरम चित्रण भी इस निबन्ध के लालित्य को बढ़ाता है। लेखक की दृष्टि अशोक के फूल के सौन्दर्य को उकेरने के सन्दर्भ में इतिहास, कालिदास युग, मुगल सल्तनत, यक्ष-गन्धर्वों के ऐश्वर्य-वैभव, धर्म-साधनाओं, पुराण, महाभारत की कथाओं, आर्य और आर्येतर जातियों के संघर्ष इत्यादि सभी पर गई है। पुराने संस्मरण और कथाप्रसंग निबन्ध को और रोचक बना देते हैं। गम्भीर विचारों और शास्त्र ज्ञान के मरुस्थल में विचरण करने वाला पाठक रेगिस्तान में थके-प्यासे यात्री के समान उनका स्वागत करता है। 'अशोक के फूल' में शिव द्वारा कामदेव के भस्म की कथा और उसके धनुष के टूटकर गिरने और कोमल फूलों में बदल जाने की कथा निबन्ध को रोचक बनाती है।

मीठी चुटकियाँ लेने, व्यंग्य करने एवं हास्य के छींटों द्वारा पाठकों का मनोविनोद करने में भी द्विवेदी जी पीछे नहीं हैं। इस शैली के कारण गम्भीर, विचारपूर्ण विषय को भी वे सहज बना देते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में एक जगह लेखक उन विद्वानों पर व्यंग्य करते हैं जिन्हें सुन्दर वस्तुओं को अभागा समझने में आनन्द मिलता है और जो जिस-तिस के बारे में भविष्यवाणी करते रहते हैं -''वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं।'' निबन्ध के अन्त में पण्डितों का मज़ाक भी उड़ाते हैं -''पण्डिताई भी एक बोझ है – जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है।''

लेखक मानव की जीवन-शक्ति को तीव्र-दुर्दम एवं निर्मम धारा बताता है जो अपने अन्तर्गत सब कुछ बहाती हुई भी विशुद्ध और निर्मल रहती है - 'शुद्ध' है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सबको हज़म करने के बाद भी पवित्र है।''

जहाँ-जहाँ लेखक अपने जीवन-दर्शन, साहित्य-आदर्श सामने रखता है पाठक लेखक को अपने समीप पाता है। शोषण पर आधारित सामन्त सभ्यता, सृष्टि का परिवर्तन चक्र, महाकाल, दुर्दम जिजीविषा, विषम क्षणों में उदास न होने का परामर्श आदि सभी कुछ पाठक को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। वह उसकी अनुभूतियों को व्यापक बनाता है, संवेदनाओं को तीक्ष्ण करता है और चिन्तन-मनन के लिए बाध्य करता है।

अत: 'अशोक के फूल' ललित निबन्ध का आदर्श प्रस्तुत करता है जिसमें एक ओर विचारों का गुम्फन है तो दूसरी ओर सहृदयता एवं संवेदनशीलता। लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण और संस्कृति-प्रेम यहाँ स्पष्ट झलकता है।

भाषा शैली

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के शीर्षस्थ गद्यकार हैं। शैली वह तत्त्व है जो एक व्यक्ति के लेखन को दूसरे के लेखन से भिन्न बना देता है। प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति लेखक के व्यक्तित्व से जुड़ी होती है। 'Style is the man' उक्ति द्विवेदी जी पर पूर्णत: चरितार्थ होती है। उनका पाण्डित्य, हंसोड़ एवं फक्कड़ स्वभाव, सहृदयता, भाषा पर पूर्ण अधिकार, उनका इतिहास-ज्ञान, जीवन-दर्शन, संस्कृति-प्रेम उनके लेखन में सर्वत्र झाँकता है।

द्विवेदी जी की धारणा है -''लेखक की पराजय उस स्थान पर है जहाँ वह अपने प्रयोजन को प्रकट करने के लिए कम शब्दों का प्रयोग करके अस्पष्ट कर दे या अधिक शब्दों का प्रयोग करके निरर्थक।'' इससे स्पष्ट है कि वे विषय को स्पष्ट करना लेखक का लक्ष्य मानते हैं साथ ही सरल, सहज, सजीव शैली के पक्षधर हैं। द्विवेदी जी की शैली विषय की अनुवर्तिनी है, विषय के अनुरूप उनकी भाषा-शैली रूप परिवर्तन कर लेती है। गहन गम्भीर विषयों पर लिखते समय उनकी शैली चिन्तनमूलक होती है, भावुकता के प्रवाह में वे एक विशेष प्रकार की तरंग शैली का प्रयोग करते हैं, कहीं रुक-रुक कर खंड-खंड में और कहीं ज्वार-भाटे की तरह उनके भावों का उतार-चढ़ाव लक्षित होता है। उनके विचारात्मक निबन्धों में गवेषणा शैली का प्रयोग हुआ है। व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों में भी गवेषणा-तत्त्व मिल जाता है। अशोक के फूल को देखकर उनकी गवेषणा प्रवृत्ति जाग्रत होती है और भारतीय इतिहास एवं साहित्य के विभिन्न कालों में इसे जो सम्मान प्राप्त था, इसकी छानबीन करने लगते हैं।

विषय का समीचीन प्रतिपादन करने के लिए वे कहीं व्यास शैली तो कहीं समास शैली को अपनाते हैं। समास शैली का प्रयोग कम ही हुआ है परन्तु वहाँ भी पाठक को किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। द्विवेदी जी ने निगमन और आगमन दोनों ही पद्धतियों को अपनाया है। कहीं वे आरम्भ में विषय को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करके फिर उसकी व्याख्या-विवेचना करते हैं और कहीं विषय का स्पष्ट विवेचन करने के उपरान्त अन्त में उसका सार या निष्कर्ष प्रस्तुत कर देते हैं।

पाठक के सम्मुख अपनी बात सरल, स्पष्ट एवं प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने के लिए वे बीच-बीच में अवान्तर कथाएँ प्रस्तुत करते हैं, कहीं पुराने संस्मरण और अनुभव बताकर पाठक के साथ आत्मीयता स्थापित करते हैं। संस्कृत रचनाओं से अनेक उद्धरण देकर अभिव्यंजना को सशक्त बनाया गया है। सूत्रवाक्यों और सूक्तियों का भी थोड़ा बहुत प्रयोग उनके निबन्धों में हुआ है। जहाँ किसी दृश्य, स्थान या प्रसंग का वर्णन करने लगते हैं वहाँ चित्र शैली का प्रयोग उसे सजीव बना देता है। ऐतिहासिक तथ्यों तथा जीवन और जगत के सत्यों का निरूपण करते समय वे विचारात्मक शैली का प्रयोग करते हैं।

अवसरानुकूल उन्होंने अलंकृत शैली का भी प्रयोग किया है परन्तु वह चमत्कृत करने के लिए नहीं, सहज ही है। जैसे -''उस प्रवेश में नववधू के गृह प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है।'' दूसरे के मत का खण्डन और अपने मत का समर्थन करते समय उनके कथन में ओजस्विता आ जाती है। विपक्ष का खण्डन करने के लिए कहीं-कहीं वह प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं -''क्या यह मनोहर पुरुष भुलाने की चीज़ थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या खो गई थी?''

द्विवेदी जी सहज, सरल भाषा के पक्षधर हैं। द्विवेदी जी उच्चकोटि के शब्द-शिल्पी हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं में तत्सम शब्दावली की प्रधानता है परन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर उसमें जटिलता एवं क्लिष्टता नहीं आ पायी है। अधिकांश निबन्धों में उनकी भाषा सरल, सहज एवं प्रवाहमय है -''अशोक में फिर फूल आ गये हैं इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुरुषों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है।''

द्विवेदी जी का भाषा के प्रति दृष्टिकोण संकीर्ण न होकर उदार है -''मैं अन्य भाषाओं से शब्द लेने का बिल्कुल विरोधी नहीं हूँ।'' अत: भाषा में प्रवाह लाने के लिए उर्दू, अंग्रेजी शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया है। अर्थ और ध्वनि

के पारखी द्विवेदी जी जहाँ एक ओर शानदार, गवाह, मस्तानी, चाल, रईस, मौज-मस्ती इज्ज़त आदि उर्दू शब्दों का प्रयोग करते हैं वहीं अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों, पलटन, सोसायटी आदि का भी प्रयोग करते हैं। स्थानीय और देशज शब्दों से भी उन्हें परहेज़ नहीं है। विषय को सरल और स्पष्ट बनाने के लिए और भावों की सहज अभिव्यक्ति के लिए भिड़ना, पिटना, झबरा, रटना आदि शब्दों का वे प्रयोग करते हैं। भाषा में लय, संगीत, प्रवाह लाने के लिए वे कहीं शब्दों और वाक्यांशों की आवृत्ति करते हैं, कहीं सहायक क्रियाओं का क्रम बदल देते हैं तो कहीं समानार्थक शब्दों का प्रयोग करते चले जाते हैं। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से कथन में शक्ति और दृढ़ता आ गई है –''मेरा मन उमड़-घुमड़ कर ˙˙ ˙ बरस जाना चाहता है।''

पूर्णविराम, अर्धविराम, आश्चर्यबोधक और प्रश्नार्थक चिह्नों के सार्थक प्रयोग से उनके कथन में स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता आ गई है। द्विवेदी जी की वाक्य-रचना अपने सन्तुलन, सामंजस्य, सरलता, सहजता और संक्षिप्तता के लिए विख्यात है। उन्होंने अधिकतर छोटे-छोटे और सरल वाक्यों का प्रयोग किया है। सरल और संक्षिप्त होने के कारण उनके वाक्य सुगठित, सुनियोजित और सुसम्बद्ध होते हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग द्विवेदी जी के निबन्धों में कम ही हुआ है परन्तु जहाँ भी हुआ है वहाँ वे बड़ी सटीक व्यंजना करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में 'जले पर नमक', 'गला सुखा रहा हूँ', 'माया काटे कटती नहीं' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहा है, यह बात द्विवेदी जी पर भी पूर्णतः चरितार्थ होती है। उनकी लेखनी के समक्ष भाषा की सभी सिद्धियाँ हाथ बाँधकर खड़ी हो जाती हैं। द्विवेदी जी के निबन्ध में बुद्धितत्त्व एवं हृदय तत्त्व का मणिकांचन संयोग है।

व्याख्या

(क) **''मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हज़ारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या वह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज़ थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या सो गई थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्र वाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।''**

प्रसंग

प्रस्तुत गद्यावतरण आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी रचित ललित निबन्ध 'अशोक के फूल' से उद्धृत है। अशोक वृक्ष पर छोटे-छोटे लाल-लाल फूलों के गुच्छों को देखकर लेखक का मन मुग्ध हो उठा। वह उसके प्राचीन गौरव का स्मरण करता है परन्तु वर्तमान काल में उसके प्रति उपेक्षा को देखकर उदास हो जाता है। अशोक के वृक्ष और पुष्पों को जो आदर, मान-सम्मान हमारे पूर्वजों ने दिया था, उसका स्मरण करते हुए लेखक लिखता है :-

व्याख्या

जैसे वायुमंडल में दबाव बढ़ने पर बादल उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं और जब वायु उनके भार को वहन नहीं कर पाती तो वे बरसने लगते हैं उसी प्रकार लेखक का मन अशोक वृक्ष के प्रति भारतीयों की उदासीनता देखकर उदास हो जाता है। उसकी उदासी इतनी बढ़ जाती है कि वह हजारों वर्ष पूर्व के प्राचीन धर्म, साहित्य-कला, आमोद-प्रमोद के उत्सवों, समारोहों की स्मृति में डूब जाता है। उस समय साहित्य और जीवन दोनों में आनन्द व्याप्त था – कवि-कलाकार और सौन्दर्यप्रेमी नागरिक सभी रस की साधना करते थे। कवि कलाकार अपनी रचनाओं में सरस प्रसंगों का रसपूर्ण वर्णन करते थे। नागरिक दैनांदिन जीवन में कलाओं की उपासना करते थे और उल्लास तथा उमंग के साथ पर्व, उत्सव समारोहों में भाग लेते थे। जीवन में आनन्द ही आनन्द था। उस समय अशोक वृक्ष और उसके फूल लोगों को प्रिय थे। उसकी पूजा होती थी, उसकी कलियों और फूलों से स्त्रियाँ अपना शृंगार करती थीं। परन्तु आज लोग उसे भूल गये हैं। आज के भारत में न कहीं उसकी पूजा होती है, न साहित्यकार अपनी रचनाओं में उसे स्थान देते हैं। इस उपेक्षा का कारण क्या है? क्या हमारी सौन्दर्य-चेतना जड़ हो गई है? क्या हम सौन्दर्य को पहचानने और उस पर मुग्ध होने की शक्ति खो बैठे हैं? क्या कवियों की कवित्व शक्ति, कल्पनाशक्ति लुप्त हो गई है? लेखक कहता है कि मेरा मन

ऐसा मानने को तैयार नहीं होता। न तो जन-साधारण की सौन्दर्य-चेतना सोयी है, न कवि-कलाकार हृदयहीन हुए हैं, और न ही उनकी काव्यशक्ति विलुप्त हुई है, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। सब कुछ पहले जैसा ही है। लेकिन यह भी सत्य है कि अशोक के प्रति लोगों के मन में वह मोह भाव नहीं है जो हमारे पूर्वजों के मन में उसके प्रति था। सबसे कष्टकर और दुखदायी तो यह है कि आज लोग अशोक की पहचान भी खो बैठे हैं, असली अशोक को पहचानते ही नहीं हैं। यही कारण है कि सारे उत्तर भारत में लोग एक ऐसे वृक्ष को अशोक कहने लगे हैं जिस पर फूल तक नहीं आते। लेखक का दुख इससे और अधिक बढ़ जाता है कि आज हम उसे याद तो नहीं ही करते वरन् उसके रूप को न पहचान कर उसका अपमान भी कर रहे हैं। किसी अनधिकारी को अधिकार देना, किसी कुपात्र की प्रशंसा करना, किसी मूर्ख को विद्वान् कहना अनुचित ही नहीं वरन् अधिकारी, सुपात्र और विद्वान् का अपमान करना है। इसी प्रकार एक ऐसे वृक्ष को जिसमें अशोक के अन्य गुण तो क्या फूल तक नहीं आते, अशोक कहना उसका घोर अपमान है।

विशेष

लेखक के भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के अपार ज्ञान का पता चलता है। पहले वाक्य में रूपक अलंकार है, तरंग शैली का सुन्दर प्रयोग है। प्रश्नवाचक वाक्य लेखक के भावावेश एवं पीड़ा को दर्शाते हैं। 'ना' शब्द के प्रयोग से एक सहजता एवं आत्मीयता का समावेश हुआ है। 'निपूते' शब्द के साम्य पर 'निफूले' शब्द का निर्माण किया गया है जिससे लेखक के क्षोभ और आक्रोश का आभास होता है। 'जले पर नमक' मुहावरे का सुन्दर प्रयोग किया गया है।

(ख) **'' धन्य हो महाकाल ! तुमने कितनी बार मदन देवता का गर्व खंडन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय-तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्त्तत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुंठनृत्य से ध्वस्त हो जाएगा, कौन जानता है ! मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जाएगी।''**

प्रसंग

प्रस्तुत गद्यखण्ड हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी के प्रसिद्ध निबन्ध 'अशोक के फूल' से अवतरित है। लेखक अशोक के फूल के प्रति उपेक्षा के कारणों की खोज करता है। एक कारण तो यह है कि अशोक वृक्ष के प्रति प्रेम, मोह सामन्ती-सभ्यता से जुड़ा था और उसके पतन के साथ अशोक का गौरव भी लुप्त हो गया। राष्ट्रों, संस्कृतियों, सभ्यताओं के उत्थान-पतन के विषय में सोचते हुए वह कहता है कि मानव-जाति की धारा अखंड है क्योंकि मानव की जिजीविषा दुर्दम है। परिवर्तन चक्र की शक्ति को समझाते हुए वह कहता है -

व्याख्या

काल की शक्ति अपरिमित है। वह अजेय है। परिवर्तन का चक्र रोके नहीं रुकता। वह अबाध गति से आगे बढ़ता ही जाता है। संसार की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती। कामदेव रूप, सौन्दर्य और प्रेम का देवता माना जाता है परन्तु यमराज इनमें से किसी को नहीं बख्शता। सबका घमंड चूर-चूर कर देता है। रूपवतों का रूप-सौन्दर्य ढल जाता है, प्रेम भी फीका पड़कर लुप्त हो जाता है। धर्मराज सत्य, धर्म और न्याय के देवता हैं परन्तु काल इनको भी नहीं बख्शता; इतिहास में सत्य पर असत्य, धर्म पर अधर्म, न्याय पर अन्याय हावी होते देखे गये हैं। यमराज मृत्यु का देवता है परन्तु भारतीय धर्म और दर्शन आत्मा को अमर मानते हैं; जिनकी मृत्यु होती है, वह पुनः जन्म लेता है - ऐसा हमारा विश्वास है। अतः यमराज भी परिवर्तन के आगे नतमस्तक होता है। ब्रह्मा या विधाता को सृष्टि का रचयिता कहा जाता है, उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वकर्त्तत्ववान् कहा जाता है परन्तु संसार की कोई वस्तु, कोई प्राणी अनश्वर नहीं हैं। सब नाशवान

एवं क्षणभंगुर हैं। अतः ब्रह्मा का अभिमान भी मिथ्या है, जब इतने शक्तिवानों का मोह, गर्व मिथ्या है तो मनुष्य क्या है उसका मोह, आसक्ति, क्षणभंगुर पदार्थों के प्रति आकर्षण एवं भोग-विलास में प्रवृत्ति सब कुछ व्यर्थ है।

संस्कृति चाहे वह कितनी भी प्राचीन, समृद्ध और गौरवशाली क्यों न हो, समय के साथ बदल जाएगी, कलाओं की शैली और शिल्प में परिवर्तन अवश्यंभावी है : धर्म कितना भी महान, उदार और सात्विक विचारों से सम्पन्न क्यों न हो, विकृत हो जाएगा, कोई पूर्णतः बदलेगा, कोई आंशिक रूप से। संसार परिवर्तनशील है, उसमें परिवर्तन अवश्य होंगे। केवल एक चीज़ अजर-अमर है, वह है मानव की जिजीविषा। मनुष्य की जीने की इच्छा इतिहास में उथल-पुथल होने के बावजूद, प्राकृतिक और मानव-निर्मित आपदाओं के बावजूद बनी रहती है। यही कारण है कि मानव जाति जीवित है और विकास के मार्ग पर चल रही है।

विशेष

'धन्य हो महाकाल' में लेखक का भावोच्छ्वास लालित्य को जन्म देता है। लेखक का जीवन-दर्शन है कि परिवर्तन संसार का नियम है परन्तु मानव की जिजीविषा में उसकी आस्था बनी हुई है। भाषा शैली में प्रवाह है। अभिव्यक्ति में सरलता एवं स्पष्टता है।

तूफानों के बीच

रांगेय राघव

– डॉ. सीमा जैन

लेखक-परिचय

रांगेय राघव हिन्दी साहित्य के प्रतिभाशाली एवं प्रगतिशील साहित्यकार हैं। उनका जन्म 17 जनवरी 1923 को आगरा में हुआ। उनके जन्म का नाम त्र्यंबक वीर रंगाचार्य था। उनके पिता टी.एन. रंगाचार्य तमिल, संस्कृत एवं फ़ारसी के विद्वान थे। माता का नाम कनकम्मा था।

रांगेय राघव की आरम्भिक शिक्षा सेन्ट जौन्स स्कूल एवं विक्टोरिया स्कूल में हुई। स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षा आगरा के सेन्ट जोन्स कॉलेज से हुई। 1948 में उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से 'गोरखनाथ और उनका युग' विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

रांगेय राघव साहित्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला, भारतीय संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व आदि में भी रुचि रखते थे। परन्तु लेखन को ही उन्होंने अपनी आजीविका का साधन बनाया। उनकी रचनात्मक प्रतिभा अनेक क्षेत्रों में सक्रिय रही। आरम्भ में उन्होंने चलचित्र के लिए पटकथा, संवाद, गीत आदि लिखे परन्तु बाद में वे स्तरीय साहित्य-लेखन में जुट गये। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, रिपोर्ताज़ आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखन-कार्य किया। कुछ प्रसिद्ध रचनाओं का उन्होंने अनुवाद भी किया। उनकी रचनाओं का संबंध संस्कृति, मानवशास्त्र तथा इतिहास से भी है। उनकी कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार हैं –

काव्यग्रन्थ : 'अजेय खंडहर', 'पिघलते पत्थर', 'पांचाली', 'मेधावी', 'राह के दीपक' इत्यादि।

कहानी संकलन : 'ऐय्याश मुर्दे', 'अंगारे न बुझे', 'साम्राज्य का वैभव', 'देवदासी', 'जीवन के दाने', 'अधूरी सूरत', 'समुद्र के फेन', 'इन्सान पैदा हुआ', 'पाँच गद्ये' आदि उनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।

उपन्यास : उन्होंने 50 के लगभग उपन्यासों की रचना की जिनमें 'मुर्दों का टीला', 'सीधा-सादा रास्ता', 'कब तक पुकारूँ', 'लखमा की आँखें' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके उपन्यासों को अनेक भागों में बाँटा जा सकता है –

(क) ऐतिहासिक उपन्यास : 'घरौंदा', 'हुजूर', 'आखिरी आवाज़', 'मुर्दों का टीला' आदि।

(ख) सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास : 'सीधे-सादे रास्ते', 'विषादमठ', 'कब तक पुकारूँ' आदि।

(ग) व्यक्तिमूलक सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यास : 'देवी का बेटा', 'यशोधरा जीत गई', 'लखमा की आँखें', 'लोई का ताना', 'रत्ना की बात', 'मेरी भव बाधा हरो' आदि।

आलोचनात्मक साहित्य : 'काव्यकला और शास्त्र', 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार', 'गोरखनाथ और उनका युग', 'हिन्दी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पीठिका', 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' आदि।

अनुवाद : रांगेय जी ने शेक्सपीयर के नाटकों के साथ-साथ संस्कृत के 'ऋतु संहार', 'मेघदूत', 'मुद्राराक्षस', 'मृच्छकटिक', 'दशकुमारचरित', 'गीत-गोविन्द' आदि कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया।

रांगेय राघव अपने साहित्यिक योगदान के लिए जिन अकादमियों एवं संस्थाओं द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत हुए उनका विवरण इस प्रकार है :-

(1) 'मेधावी' – हिन्दी साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत।

(2) 'मेरी प्रिय कहानियाँ' – राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत।

(3) 'कब तक पुकारूँ' एवं 'पक्षी और आकाश' – उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत।

(4) 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' – डालमिया पुरस्कार।

(5) राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा (महाराष्ट्र) द्वारा महात्मा गाँधी पुरस्कार (मरणोपरान्त)

रांगेय राघव मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित हैं। उनकी जीवन-दृष्टि यथार्थवादी और प्रगतिशील है। पूँजीवादी मानसिकता, रूढ़िवादिता, भ्रष्टाचार, वंचितों, दलितों के प्रति अन्याय आदि के वे घोर विरोधी थे। उनकी दृष्टि समसामयिक यथार्थ पर केन्द्रित रही है उसी को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया।

रांगेय राघव 12 सितम्बर 1962 ई० में लगभग 40 वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हो गये।

सार

'तूफानों के बीच' रांगेय राघव द्वारा रचित रिपोर्ताज़ है। रांगेय राघव का रिपोर्ताज़-साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान है। वस्तुतः रांगेय राघव रिपोर्ताज़-विधा के प्रारम्भ-कर्त्ताओं में रहे हैं। 'तूफ़ानों के बीच' बंगाल के भीषण अकाल से संबंधित रचना है। अकाल पीड़ित बंगाल की यात्रा के दौरान उन्होंने अनेक रिपोर्ताज़ लिखे जो सबसे पहले 'हंस' पत्रिका में क्रमिक रूप से प्रकाशित हुए। बाद में 'तूफ़ानों के बीच' नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए।

लेखक ने पूर्वी बंगाल में अकाल के दौरान हुए भीषण-विनाश, भूख, स्वार्थ की लीला और मृत्यु का जो भयंकर तांडव देखा उसी का वर्णन 'तूफ़ानों के बीच' के रिपोर्ताज़ो में हुआ है। इन रिपोर्ताज़ों में जनता की साम्राज्य विरोधी चेतना स्वतन्त्रता आन्दोलन में उत्साह, साम्प्रदायिक सद्भाव सभी का मार्मिक चित्रण हुआ है। ये रिपोर्ताज़ 'बाँध भंगे दाओ', 'एक रात', 'मरेंगे साथ जिएँगे साथ', 'अदम्य जीवन', 'तूफान के विजेता', 'अन्धकार', 'एक प्रेम पत्र', 'बूचड़खाना', 'यह ग्वालियर है' आदि उपशीर्षकों में विभाजित हैं। चाहे बंगाल का भीषण अकाल हो या ग्वालियर के मज़दूरों पर हुए गोलीकांड का चित्रण सभी में लेखक जनता की प्रतिरोधी चेतना का अंकन करता है। यही इन रिपोर्ताज़ों की प्रमुख विशेषता है।

कुष्टिया

लेखक अपने डॉक्टर साथियों के साथ कुण्टिया टाउन पहुँचता है और वहाँ की स्थिति का वर्णन ''बाँध भंगे दाओ'' में करता है। रेलगाड़ी के सफ़र में जो भागती हरियाली और झिलमिलाते ताल उन्होंने देखे उनके ठीक विपरीत कुण्टिया के लोगों की हँसी में एक उदासी और एक कराह देखी। वहाँ के निवासियों ने उनका स्वागत किया और डॉक्टरों की टीम को देखकर निश्चिंतता की साँसें ली। उनके ठहरने की व्यवस्था एक स्कूल के होस्टल में की गई थी।

रास्ते में चलते हुए एक व्यक्ति ने बताया कि किसी समय कुण्टिया किसी के आगे हाथ नहीं फैलाता था परन्तु आज स्थितियाँ बदल गई हैं और एकता के अभाव ने इस स्थिति को और भी भयावह बनाया है। एक व्यक्ति मज़दूरों की यूनियन के विषय में भी बताता है, कोई बताता है कि सरकार के द्वारा बीज के लिए मना करने पर कैसे किसानों के संयुक्त मोर्चे के सामने उसे हार माननी पड़ी।

होस्टल पहुँचने पर जब वहाँ के विद्यार्थियों को देखा तो उनके होठों की हँसी के बावजूद आँखों में एक भय और उदासी की छाया भी दिखाई पड़ रही थी। ये विद्यार्थी भयानक अकाल से बच निकलने के लिए तो गर्व का अनुभव कर ही रहे थे; इसलिए भी गर्वित थे कि डॉ० कुंटे और उनके साथी वहाँ के लोगों की सेवा करने के लिए आये हैं और यह देखकर मानवता की विजय का भाव भी था। लेखक अनेक बच्चों और व्यक्तियों द्वारा बताये गये वहाँ के अन्न संकट की दास्तान भी सुनता है। लोग घर के बाहर मरते हुए लोगों को देखते हुए तो डरते ही थे और घर के भीतर माँ, बेटी, पति-पत्नी आदि भूखे बैठे लोगों को देखकर भी डरते थे। वहाँ के निवासी हिन्दुस्तान के सामने हाथ पसारने में लज्जा का अनुभव नहीं करते क्योंकि इसे वे अपनी यानि मनुष्यता का अधिकार समझते हैं जो समाज के नर-पिशाचों से लड़ने की शक्ति देता है। वस्तुतः आज हिन्दू और मुसलमानों के दो वर्ग नहीं हैं अगर दो वर्ग हैं तो वे हैं भूखे और लुटेरे। अन्त में लेखक यही कहता है कि इस यन्त्रणा अत्याचार के सामने सिर नहीं झुकेंगे। एक दिन यह त्रस्त बंगाल फिर से समर्थ और शक्तिशाली हो जाएगा।

'एक रात' रिपोर्ताज़ में टेक्सटाइल मिल के कोयले की कमी के कारण बंद होने पर स्थिति कितनी भयंकर हो उठी इसका वर्णन है। 2500 आदमी बेकार हो गये। सरकार को कोई चिन्ता नहीं थी और चावल का दाम बढ़ता जा रहा था। तभी एक आदमी खबर लाया कि कोई अन्धेरे में चावल से भरी छः गाड़ी निकलवा कर ले जा रहा है और सभी उसको रोकने के लिए दौड़ पड़े। सर्वत्र अकाल के कारण फैला सर्वनाश दिखाई पड़ता है। लेखक रूपलाल के जीवन का किस्सा भी सुनाता है। रूपलाल किसी तरह कहीं से थोड़ा-सा चावल लाकर अपनी पत्नी प्राणबाला को देता है कि पकाकर बच्चों को खिला देना परन्तु पेट की आग इतनी भयंकर होती है कि वह पकाकर सारा चावल स्वयं खा जाती है और बच्चे भूख से चिल्लाते रहते हैं। रूपलाल गुस्से के कारण अपनी प्यारी पत्नी का कल्ल कर देता है। प्रश्न यह है कि प्राणबाला राक्षसी थी, रूपलाल राक्षस था या फिर भूख राक्षस का रूप ले चुकी थी। लेखक ठगों के उस गिरोह को खूनी ठहराता है जो चन्द सिक्कों के लालच में सारी मानवता को निगल गया और खून से भीगे दाँतों से हँस रहा है।

''मरेंगे साथ, जिएँगे साथ'' रिपोर्ताज़ संकट के समय एकजुट होते मानवों का वर्णन करता है। डॉक्टरों की टीम गाँव के सभी लोगों को टीका लगा रही है परन्तु कुछ लोग टीका लगवा रहे हैं और कुछ नहीं। अन्त में सब निर्णय करते हैं कि हमें अपनी मदद स्वयं ही करनी होगी। डॉक्टर के साथियों और गाँव के लोगों के बीच एक भाईचारे का सम्बन्ध बनता है। दुश्मन भी दोस्त हो जाते हैं। लेखक वहाँ के लोगों के अनन्त दुखों की गाथा कहता है। कुण्टिया की पूरी कहानी संक्षेप में यही है कि पहले सभी सुखी थे, अकाल के कारण चावल के दाम बढ़े और वह नहीं मिला। लोग मरने लगे। अनेक बीमारियाँ फैली, मौत का ताण्डव नृत्य होने लगा परन्तु जनता एक-जुट हो गई और लेखक का भी यही नारा है कि साथ जियेंगे, मरेंगे नहीं, क्योंकि जीना है, जीना है।

'अदम्य जीवन' रिपोर्ताज़ में लेखक बंगाल के अकालग्रस्त गाँव शिद्धिरगंज का बखान करता है। अकाल ने गाँव को पूरी तरह बदल डाला है। लेखक एक चिकित्सक दल के साथ रिपोर्टर की हैसियत से शिद्धिरगंज पहुँचता है। वहाँ जगह-जगह मिट्टी के ढूह देखता है जो वास्तव में कब्रें हैं। गाँव के हर घर में मौत हो चुकी है, किसी-किसी घर में सभी व्यक्ति मौत का शिकार हो चुके हैं। मरे हुए व्यक्तियों को ठीक से कफ़न भी नसीब नहीं हुआ, एक-एक कब्र में कई-कई लाशें हैं।

अकाल से पहले शिद्धिरगंज भरा-पूरा गाँव था परन्तु अब अधिकांश घरों की टीनें उखड़ चुकी हैं क्योंकि पेट की आग बुझाने के लिए उन्हें बेचा जा चुका है। ढाके की प्रसिद्धि मलमल बनने वाले जुलाहों के घरों में गिनती के ही लोग रह गये हैं। शिद्धिरगंज के लोगों के पास रोजी-रोटी का कोई उपाय ही नहीं बचा है। अधिकांश लोगों को एक समय ही भोजन मिल पाता है। इसके अतिरिक्त रोगों के प्रकोप के कारण गाँव के लोग पीड़ित हैं। उपयुक्त चिकित्सा-सेवा भी उपलब्ध नहीं है। सरकारी दवाखाने में भी दवाई नहीं मिलती। स्त्रियों को वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर होना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि अकाल के कारण शिद्धिरगंज का पूर्व रूप समाप्त हो गया है। परन्तु वहाँ के भूखे-नंगे बच्चों द्वारा उठाये गये 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' के नारे से लेखक को दृढ़ विश्वास हो गया है कि बंगाल कभी मर नहीं सकता, जनशक्ति कभी पराजित नहीं हो सकती।

'तूफ़ान के विजेता' रिपोर्ताज़ में लेखक जहाँ बंगाल के अकाल की विभीषिका के चित्र खींचता है वहीं मृत्यु के ताण्डव के बीच बच गये मानव के साहस, जिजीविषा एवं संवेदना का परिचय भी देता है। लेखक मछुआरों के एक गाँव का वर्णन करता है जहाँ किसी समय मछुआरे रहते थे परन्तु आज वे स्वयं मछलियों जैसे असहाय हो गये हैं। वहाँ के अधिकांश लोग अशिक्षित और गँवार हैं। हर चीज़ के प्रति उनके मन में शंका पैदा होती है यहाँ तक कि हिन्दुस्तान से आये डॉक्टरों को भी वे सरकारी एजेन्ट समझते हैं और इलाज करवाने से कतराते हैं। डॉ० कुंटे और उनके साथियों ने निःस्वार्थ भाव से जनता की सेवा की इसलिए लोग उनको दुआएँ देते हैं।

एक घटना के माध्यम से लेखक बंगाल की जनता के विजेता रूप की ओर संकेत करता है। डॉ० और उनके साथी दवाई लेने नारायणगंज गये तो लौटते हुए अन्धेरा हो गया। नदी की लहरों में उफ़ान आ गया परन्तु माँझी और उसके पुत्र ने जान पर खेलकर सबकी जान बचायी। सभी को निर्भय दान दिया कि ऐसे तूफ़ानों से घबराने की ज़रूरत

नहीं क्योंकि ऐसे तूफ़ान यहाँ रोज ही आते रहते हैं। माँझी अपने ऊपर निर्भर लोगों को अपने से पहले बचाता है। लेखक कहता है कि किसी भी तूफ़ान में फँसी मानवता की नाव को बचाने में बंगाल का बालक पूर्ण समर्थ है अत: वह तूफ़ानों का विजेता है।

'अन्धकार' रिपोर्ताज़ में सोनार गाँव की स्थिति का वर्णन किया गया है। डॉक्टर सोनार गाँव के लोगों का इलाज करने किसी के साथ चला जा रहा है, कब गाँव आया इसका पता जहाँ-तहाँ उठने वाली लोगों की कराह से चला। जीवन की कठोर विषमताओं ने सुख पर से उनका विश्वास मिटा दिया और अब एकमात्र मृत्यु के कठोर सत्य को ही वे समझते थे। जगह-जगह बीमारी से जूझते लोग ही दिखाई दे रहे थे। मुखोपाध्याय नाम का वृद्ध डॉक्टर के स्वागत के लिए बाहर निकल आया था। एक स्त्री को देखकर हठात् उसके मुख से कलंकिनी निकला। वह स्त्री जीवन की विषम परिस्थितियों का शिकार होकर वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर हो गई थी। डॉक्टर ने स्त्री को देखा और अन्दाज़ा लगाया कि वह बीस वर्ष की होगी परन्तु अकाल और बीमारी के कारण तीस से भी अधिक वर्ष की लगती थी। स्त्री के कहने पर डॉक्टर उसके साथ घर चल दिया। चटाई पर एक नर कंकाल-सा व्यक्ति पड़ा था उसे दिमाग का डिलेरियम (सरसाम) हो गया था, थोड़ी ही देर बाद मर जाने वाला था। स्त्री बोली 'नहीं बचेगा'? कहकर मुस्करा दी। डॉक्टर के द्वारा रोने से मना करने पर वह कह उठी कि मैं किसके लिए रोऊँ, न तो कोई मोह है न लाज। उसकी हँसी में ही अथाह रुदन छिपा हुआ था। एक स्त्री के सामने जीने का कोई उपाय शेष नहीं था।

'एक प्रेम-पत्र' रिपोर्ताज़ पत्र शैली में है इसमें लेखक अपनी प्रिया को चटगाँव की स्थिति के ब्यौरे सुनाता है। हालात सभी तरफ़ एक जैसे हैं सब तरफ़ बीमारियाँ हैं हैजा, मलेरिया, चेचक इत्यादि। लेखक को इस विराट दुख के समक्ष प्रेम और उससे उत्पन्न समस्याएँ बहुत थोथी और हल्की तथा बेकार लगती हैं। लेखक चटगाँव के एक रिलीफ़ अस्पताल में पड़े विभिन्न रोगियों की दशा का वर्णन करता है जो सड़कों पर से उठा लिये गये हैं। एक मुस्लिम व्यक्ति अनाथालय के उस बालक का वर्णन करता है जो अपने घर जाना चाहता है परन्तु उसके सभी अपने मच्छरों की तरह मर चुके हैं। चटगाँव की आबादी 35000 से 80000 हो गई है क्योंकि कस्बे में राशनिंग है और देहातों में लोग भूखे मर रहे हैं, अत: अधिकांश लोग कस्बे में चले आते हैं। हर घर में कुछ व्यक्ति मर चुके हैं। लेखक के मन में विश्वास है कि मनुष्यता विजयी होगी। चालीस करोड़ जनता जब आज़ाद होगी तभी मानवों का प्रेम गुलामों का प्रेम न रहकर स्वतन्त्र और सच्चा मानव-मानवी का प्रेम होगा।

'बूचड़खाना' रिपोर्ताज़ बंगाल के भीषण अकाल के पश्चात बूचड़खानों में तब्दील होते शहरों की गाथा कहता है। परन्तु लेखक को विश्वास है कि यह बूचड़खाना शीघ्र ही बन्द हो जाएगा क्योंकि नाव एक तूफ़ान का सामना कर चुकी है और दूसरे का सामना कर रही है। दूसरा तूफ़ान भयंकर महामारियों के रूप में सामने खड़ा है परन्तु हड्डियों में इतनी शक्ति आ चुकी है कि उन्होंने पतवारों को सम्भाल लिया है। अत: उसका पार होना अवश्यम्भावी है।

'यह ग्वालियर है' रिपोर्ताज़ ग्वालियर में मिल मज़दूरों पर हुए गोलीकांड से संबंधित है। बर्बरता के विरुद्ध उनका हृदय हाहाकार करता है। लेखक मनुष्य की प्रतिरोधी चेतना का वर्णन करता है। वारेन हेस्टिंग्स की लाश के सड़ने के माध्यम से लेखक साम्राज्यवाद के विनाश का संकेत देता है।

प्रारम्भ में ही लेखक माता लक्ष्मीबाई का स्मरण करता है जिन्होंने विदेशियों के दाँत खट्टे किये थे और आज़ादी की नींव रखी थी। लेखक सम्पूर्ण संसार में हुई क्रान्तियों का ज़िक्र भी करता है जिसमें निम्न मध्यवर्ग ने अत्याचार के खिलाफ़ आवाज़ उठाई थी। ग्वालियर के मज़दूरों पर हुए गोलीकांड में औरतों को भी नहीं बख्शा गया तो ग्यारह वर्ष का बालक साहसपूर्वक आगे खड़ा हो गया। आततायियों ने उसे भी भून दिया। परन्तु लेखक कहता है कि कौन कहता है कि वह बालक मर गया, वह सदा जनता के बीच रहेगा और जनता में साहस और शक्ति का संचार करता रहेगा।

लेखक ने 'तूफ़ानों के बीच' संग्रह के तमाम रिपोर्ताज़ों में चाहे बंगाल के अकाल का वर्णन किया हो या ग्वालियर के मज़दूरों पर हुए गोलीकांड का; सभी में मानव की उस प्रतिरोधी ताकत का वर्णन किया है जो पराजित नहीं होती।

यही कारण है कि ये सारे रिपोर्ताज हमें द्रवित करते हैं, संवेदना जाग्रत करते हैं परन्तु साथ ही हममें वह शक्ति उत्पन्न करते हैं जो तमाम विरोधी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती हैं।

प्रतिपाद्य

'तूफ़ानों के बीच' रिपोर्ताज़ रांगेय राघव रचित है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान-1942 में बंगाल के अकाल की विभीषिका को लेखक ने स्वयं अपनी आंखों से देखा था और उसने उनकी संवेदना को पूर्णतः झकझोर डाला था। डॉ० कुंटे के नेतृत्व में जो चिकित्सक दल पूर्वी बंगाल भेजा गया था उसी के साथ एक रिपोर्टर की हैसियत से रांगेय राघव गये थे। अतः प्रस्तुत रिपोर्ताज़ लेखक के प्रत्यक्ष दर्शन एवं निजी शोध पर आधारित है।

बंगाल की दारुण एवं त्रासद स्थिति उस काल के लेखकों को अपने-अपने ढंग से प्रभावित कर रही थी। रांगेय राघव ने भी उस स्थिति से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने के लिए उस पीड़ित क्षेत्र का दौरा किया और पूर्वी बंगाल के भीषण विनाश, भूख, महामारी, स्वार्थ और मृत्यु का जो तांडव नृत्य वहाँ देखा उसी का विस्तृत ब्यौरा 'तूफ़ानों के बीच' संग्रह के रिपोर्ताज़ो में मिलता है जो मानव के अन्तर्मन को झकझोर देता है। ये रिपोर्ताज 'हंस' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। ये रिपोर्ताज़ जिस समय लिखे गये वह स्वतन्त्रता आन्दोलन का समय था। जगह-जगह जुलूस निकाले जा रहे थे, लाठियाँ चलती थी, गोलियाँ चलती थी, गिरफ़्तारियाँ होती थी। रांगेय राघव स्वयं इस आन्दोलन का हिस्सा थे।

रांगेय राघव रचित 'तूफ़ानों के बीच' संग्रह 'बाँध भंगे दाओ', 'एक रात', 'मरेंगे साथ जिएँगे साथ', 'अदम्य जीवन', 'तूफ़ान के विजेता', 'एक प्रेम-पत्र', 'बूचड़खाना', 'यह ग्वालियर है' आदि उपशीर्षकों में विभाजित हैं। इन सभी रिपोर्ताजों में बंगाल की भीषण त्रासदी का तो वर्णन है ही, जनता की साम्राज्य विरोधी चेतना, स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी का उत्साह, साम्प्रदायिक सद्भाव जाग्रत करने की प्रेरणा भी है। लेखक चाहे बंगाल के अकाल पर दृष्टि केन्द्रित करे या ग्वालियर के मज़दूरों पर हुए गोलीकांड पर - सभी में उन्होंने जनता की प्रतिरोधी चेतना का अंकन तीव्रता से किया है। शासन के अधिकारियों की और व्यापारियों की बर्बरता से उनका हृदय काँप उठता है। बंगाल के अकाल का ग्रास कितने लोग बन गये, कितने लोग भूख का शिकार हो गये, कितने लोगों को पेट की आग ने निर्मम, कठोर और संवेदनहीन बना दिया, कितनी स्त्रियों को वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर होना पड़ा - सभी स्थितियों का वर्णन तीक्ष्ण शैली में हुआ है। पाठक इन सबको पढ़कर बरबस स्तब्ध रह जाता है।

लेखक के अनुसार बंगाल का अकाल मानवता के इतिहास का ऐसा कलंक है जिसे धोया नहीं जा सकता। यह आपदा प्राकृतिक इतनी नहीं थी अपितु मानव-निर्मित अधिक थी। यह साम्राज्यवादी षड्यन्त्र का हिस्सा थी। कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ की खातिर बंगाल की जनता को अकाल की भट्टी में झोंक दिया। देश की गुलामी भी इस अकाल के अधिक भयंकर रूप लेने के लिए जिम्मेदार है। यह भाव भारत की जनता को अपनी गुलामी की बेड़ियों को काटने के लिए प्रेरित करता है। लेखक जिस दल के साथ बंगाल गया था उसमें बंगाली, असमिया, हिन्दू और मुसलमान सभी थे। इन्होंने बंगाल के विभिन्न गाँवों में जाकर जिस विनाश लीला को देखा उसके बीच भी जनता को हतोत्साहित नहीं देखा। यह उत्साह जहाँ एक ओर बंगालवासियों के अपनी स्थितियों से उबरने के संकेत देता है वहीं दूसरी ओर आज़ादी के लिए आशा की किरण भी जगाता है।

लेखक सारे रिपोर्ताजों में आशा-निराशा के झूले में झूलता रहता है जहाँ लोगों का उत्साह लेखक के मन में आशा की किरण जगाता है वहीं बंगाल की भूमि का मृत्यु के महा-श्मशान में बदल जाना उन्हें उद्वेलित करता है। जिस धरती ने बंकिम बाबू जैसे महान रचनाकार को जन्म दिया जिन्होंने 'आनन्दमठ' की रचना की वही धरती आज 'विषादमठ' में परिवर्तित हो गई दिखायी देती है। बंगाल की धरती की सारी मार्मिक घटनाएँ लेखक को द्रवित करती हैं, पीड़ित करती हैं। रूपलाल की पत्नी का सारा चावल स्वयं खा जाना और भूखे बच्चों को एक दाना तक न देना और फिर रूपलाल द्वारा क्रोध से पागल होकर गडाँसे से उसको काट देना - दिल दहला देने वाला चित्रण है। प्रस्तुत घटना इस बात का उदाहरण है कि भूख की आग इतनी भीषण होती है कि वह मनुष्य की सारी संवेदना को निगल जाती है।

लेखक रांगेय राघव ने बंगाल की सारी भयंकर परिस्थितियों को अपनी आंखों से देखा था इसी कारण उनके वर्णन में एक गम्भीरता एवं सच्चाई की झलक मिलती है कि किस तरह परिवार के पुरुषों द्वारा घर छोड़कर चले जाने पर उनकी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर हो गई। किस तरह वहाँ के बच्चे अस्थि-पिंजर मात्र दिखाई पड़ने लगे। ढाके की कोमल मलमल बनाने वाले कारीगर किस तरह धीरे-धीरे चूहों की मौत मरने लगे। किस तरह परिवार के परिवार मौत के गाल में समा गये। किस तरह मृत व्यक्तियों को ढेर का ढेर एक जगह दफ़ना दिया गया। यही नहीं अकाल के बाद की महामारियों मलेरिया, चेचक, हैजा आदि ने भी उन्हें पूरी तरह तोड़ दिया। तमाम बंगाल अकाल के हाथों ही नहीं साम्राज्यवादी और पूंजीवादी ताकतों के गठबन्धन के कारण एक भयंकर बूचड़खाने में बदल गया।

ग्वालियर से संबंधित रिपोर्ताज़ मजदूरों पर हुए गोलीकांड और परिणामस्वरूप मजदूरों द्वारा अपने अधिकारों के प्रति सचेत होकर हुंकार करने को व्यक्त करता है। लेखक के अनुसार इस तरह की घटनाएँ साम्राज्यवाद की निरंकुश नीति का परिणाम हैं। यह गोलीकांड किन्हीं सम्प्रदायवादी ताकतों का परिणाम नहीं था क्योंकि इसका शिकार होने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। पूँजीवादी और साम्राज्यवादी ताकतें निम्न मध्यवर्ग का खून चूसती हैं। जीवन उनके लिए चौपड़ का खेल है जिसमें मनुष्य उनके लिए गोटियाँ है जिनकी चालें मनुष्यों को ही अपना शिकार बनाती हैं और इस खेल में मानवता का खून हो जाता है। मजदूरों की सजग हुंकार में लेखक 1857 की क्रान्ति के बीज भी देखता है। ऐसी ही हुँकार उसे जालियाँबाला बाग में, 1930 में और सन् 1942 की घटनाओं में दिखाई देती है। यह आग ग्वालियर की सीमा लाँघकर आगरा, अहमदाबाद, कलकत्ता, बम्बई सब जगह फैलती दिखाई पड़ती है। यह विद्रोह उसे देश की सीमा पार करके न्यूयॉर्क, इंडोनेशिया, ईरान सभी जगह दिखाई पड़ता है।

इसके माध्यम से लेखक यह भी ध्वनित करता है कि जब हैवानियत अपनी सभी हदें पार कर जाती है तो मानव का क्रोध उबाल लेता है और वह सीना तानकर खड़ा हो जाता है। ग्वालियर में स्त्रियों पर गोली चलने पर इसी कारण एक युवक बन्दूक के समक्ष छाती खोलकर खड़ा हो जाता है। मानवों का दुस्साहस लेखक को देश की आज़ादी के लिए आश्वस्त करता है। लेखक को महारानी लक्ष्मीबाई की भी याद आती है जिसने विदेशियों के दाँत खट्टे किये थे। लेखक वारेन हेस्टिंग्स की लाश को साम्राज्यवाद की मृत्यु के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करता है।

'तूफ़ानों के बीच' रिपोर्ताज़ बंगाल के अकाल की व्यथा-कथा का वर्णन तो करता ही है वह व्यथा के कारणों पर भी दृष्टिपात करता है। रचना जहाँ अकाल की भयावहता, त्रासदी से हमें संत्रस्त करती है वहीं बंगाल के मानवों की जिजीविषा, उत्साह और साहस का परिचय देकर आश्वस्त भी करती है कि यह मानव इतना सक्षम है कि स्वयं को इस स्थिति से उबार ले जाएगा। संकटग्रस्त व्यक्तियों के प्रति मानव की संवेदना जगाने का भरपूर प्रयास भी इन रिपोर्ताज़ों में मिलता है।

वस्तु विश्लेषण

लेखक रांगेय राघव बंगाल के अकालग्रस्त क्षेत्रों का दौरा करने के पश्चात इतने विह्वल हुए कि उन्होंने नैतिक दायित्व से पीड़ित होकर रिपोर्ताज़ लिखने के लिए लेखनी उठायी और 'तूफ़ानों के बीच' की रचना की। रिपोर्ताज को उच्च कोटि का बनाने के लिए जिन विशेषताओं की आवश्यकता है, वे सभी इनमें मौजूद हैं। अकालग्रस्त क्षेत्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति, मन:स्थिति भी उनसे छिपी नहीं रही और उन्होंने बारीकी से उनका विश्लेषण किया। 'तूफ़ानों के बीच' का वस्तुविश्लेषण निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है -

(1) अकालग्रस्त बंगाल की व्यथा कथा

अविभाजित भारत के बंगाल में 1942 ई० में पड़ने वाला अकाल अत्यन्त भीषण एवं दारुण था। 'तूफ़ानों के बीच' में उसी बंगाल के प्रलयंकारी अकाल की व्यथा कथा को प्रस्तुत किया गया है। अकाल पीड़ित बंगाल लेखक के अनुसार 'कठोर पीड़ा का देश' और 'हाहाकार का देश' है। अकाल की भीषणता को व्यक्त करने के लिए लेखक द्वारा प्रयुक्त शब्द 'बूचड़खाना' पर्याप्त है। अकाल पीड़ित बंगाल एक बूचड़खाने में तब्दील हो गया है। अकाल की भयावहता की तुलना वह लुबनिन के बूचड़खाने से करता है जहाँ चौदह सौ आदमियों को रोज़ भुट्टों की तरह भूनकर

राख का ढेर कर दिया जाता था। अन्तर केवल यह था कि लुबनिन में एक ही जगह बूचड़खाना था जबकि पीड़ित बंगाल का प्रत्येक क्षेत्र – शिद्धिरगंज, सोनारगाँव, चटगाँव, नोआपाड़ा, फटिक चेरी, कुष्टिया, हरिशंकरपुरा, नारायणगंज आदि मानों नरमेधस्थल बन गये थे। यहाँ तक कि बंगाल का सबसे बड़ा शहर कलकत्ता भी उससे बच नहीं सका।

'तूफ़ानों के बीच' में बंगाल की व्यथा-कथा दो रूपों में कही गई है कहीं क्षेत्र विशेष के निवासी का परिचय देकर या नाम लेकर और कहीं बिना परिचय के समूह के रूप में। परिवार की व्यथा-कथा भी इन्हीं दो रूपों में मिलती हैं। रूपलाल और प्राणबाला की कथा पहले वर्ग से जुड़ी है। रूपलाल शहर से कुछ चावल लाकर अपनी पत्नी प्राणबाला को पकाने के लिए देता है। प्राणबाला चावल पकाकर स्वयं खा जाती है और उसके दोनों बच्चे भूख से बिलबिलाते-चिल्लाते रह जाते हैं। लौटकर जब रूपलाल यह देखता है तो क्रोध से पागल होकर पत्नी की हत्या कर देता है। रूपलाल की व्यथा-कथा यथार्थ है काल्पनिक नहीं। इसी तरह की यथार्थ करुण कथाएँ जूट फैक्ट्री में काम करने वाले नारायण एवं कल्याणी की मृत्यु से जुड़ी हैं।

इसी तरह लेखक अनेक स्थलों पर बिना किसी का नाम लिये व्यक्तियों एवं परिवारों की व्यथा-कथा कहता है जैसे-''कहानियाँ सैकड़ों, इतिहास अनेकों मगर मतलब की बात यह है कि आदमी के पास न साधन है, न कोई सहूलियत है, जिन्दा है क्योंकि मरे नहीं हैं, मरे नहीं है यानी कि सड़ रहे हैं और सड़ेंगे तो दुर्गन्ध फैलना लाज़मी है।''

इसी शैली में परिवार का भी परिचय दिया गया है-''पिता रोगी है, पति पशु है, पुत्र कंकाल है और मनु की नारी विचित्र परिस्थिति में है।''

व्यथा-कथा कहने के लिए लेखक प्रतीकों का सहारा भी लेता है। जैसे-''यह एक हड्डी ही काफ़ी है बंगाल का 1943-44 का इतिहास दिखाने को।'' या ''तट पर अपार हीरों की तरह हड्डियाँ चमक रही हैं।''

उपर्युक्त अंशों में प्रतीकात्मक ढंग से बंगाल में हुई अनगिनत मौतों का संकेत देकर त्रासद स्थिति का अंकन किया गया है। वस्तुतः बंगाल के अकाल का इतिहास कंकाल बने हुए या कंकाल बनने की प्रक्रिया में पड़े हुए व्यक्तियों का इतिहास है।

अकालजनित संकट

'तूफ़ानों के बीच' में अकालजनित संकट दो स्तरों पर दिखायी देता है—बाह्य और आभ्यंतर।

बाह्य संकट में सर्वप्रथम जो संकट दिखायी पड़ता है वह है अन्न का संकट। दीर्घकाल तक अन्न का संकट बने रहना बहुत से अन्य अभावों को जन्म देता है जैसे वस्त्र संकट, आवास की समस्या और कुपोषण एवं अन्य शारीरिक रोग। लेखक ने अन्न के संकट का जिक्र अनेक स्थलों पर किया है-

''यहाँ चावल किसी दाम पर नहीं मिलता था। साढ़े तीन सौ आदमी तो इस गाँव को छोड़ गये।''

इस अंश से यह तो पता चलता ही है कि अन्न का अभाव हो गया था। यह भी स्पष्ट है कि लोगों को अपने गाँव भी छोड़ने पड़े। अन्न के संकट में व्यक्ति सब कुछ बेचकर अन्न खरीदने की चेष्टा करता है और पूँजी गँवाता जाता है। फलस्वरूप न तो उसके पास वस्त्र खरीदने के लिए पैसे होते हैं, न बीमारी के इलाज के लिए।

बंगाल के अकाल के पश्चात जनता अन्न की समस्या से ही नहीं, वस्त्र की समस्या से भी पीड़ित हुई। जनता प्रायः अर्द्धनग्न अवस्था में रहने के लिए मजबूर थी। जैसे-

''एक औरत भीतर बेहोश पड़ी थी ... वह करीब-करीब नंगी थी।'' या

''हमने कच्ची कब्रों में कई लाशों को बिना कफ़न के गाड़ दिया।''

बंगाल के अकाल के दौरान अनेक बीमारियाँ तेजी से फैलने लगी। जैसे- अल्सर, हैजा, चेचक, कालाजार, मलेरिया, तीव्रज्वर, चर्मरोग आदि। बंगाल की जनता रोग-जर्जर होने लगी। गरीबी के कारण जो स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करने के लिए मजबूर हुई वे चर्मरोगों का शिकार हो गई।

अकालजनित संकट अनेक प्रकार के अभावों, कुपोषण, रोगों एवं मृत्यु के रूप में ही सामने नहीं आया, उसने मनुष्य के आचरण को भी प्रभावित किया और व्यक्ति की कोमल भावनाओं को खत्म करने लगा। नैतिकता और मानवीय मूल्य छूटने लगे। कोई भी बाह्य संकट जब यह रूप ले ले तो वह अधिक भयावह हो जाता है और बंगाल के अकाल ने ऐसा ही भीषण रूप धारण कर लिया था। वह व्यक्ति के आभ्यन्तर को भी प्रभावित करने लगा। हज़ारों वर्षों से नैतिकता और सदाचार में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों द्वारा बहुओं-बेटियों को बेचने पर उतारू हो जाना, स्त्रियों का वेश्यावृत्ति अपना लेना, लज्जा त्यागकर भीख माँगने लगना, बच्चों को भूखा छोड़कर माँ का स्वयं खाना खा लेना, पति द्वारा पत्नी और पिता द्वारा बच्चों की बेहिचक हत्या करना, दूसरों की इज्जत से खिलवाड़ करना ऐसे ही प्रसंग हैं जो मानवीय मूल्यों के ह्रास एवं संवेदनाशून्यता को दर्शाते हैं।

बंगाल का अकाल इस ओर भी संकेत करता है कि मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता पेट की आग शान्त होना है क्योंकि भूखा व्यक्ति न सहृदय पिता होता है न पति। वह केवल भूखा होता है जो अपनी भूख शान्त करना चाहता है। इसी तरह भूख से पीड़ित स्त्री न करुणामयी माता होती है न पतिव्रता स्त्री। जब तक पेट भरा रहता है तभी तक वह मानव बना रहता है वरना वह बर्बरता एवं पशुता पर उतर आता है और मानवीय संवेदना से रहित हो जाता है। अत: भूख मानव जीवन की मूलभूत समस्या है।

संकट एवं विघटन के कारण

भारत एक कृषिप्रधान देश है और कृषि वर्षा पर निर्भर होती है। समुचित वर्षा के अभाव में अन्न का संकट पैदा हो जाता है। अत: सूखा या अनावृष्टि अकाल के मुख्य कारण अवश्य हैं परन्तु संगठित समाजों में प्रत्येक कार्य के लिए एक सरकारी व्यवस्था होती है अत: इसकी ज़िम्मेदारी सरकार पर भी होती है। बंगाल के अकाल के पश्चात संकट एवं विघटन के कई कारण हैं –

(क) ब्रिटिश सरकार की दायित्वहीनता एवं साम्राज्यवादी नीति

बंगाल के अकाल में लाखों लोगों की मृत्यु के लिए कौन जिम्मेदार है प्रकृति, नियति या सरकार; यह प्रश्न उठता है? इतने व्यापक स्तर पर अन्न संकट, रोग और मृत्यु का कारण ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ एवं दायित्वहीनता है। यह दायित्वहीनता कई बातों में सामने आती है। अन्न संकट का कारण पूँजीपतियों द्वारा जमाखोरी था जिस पर सरकार कोई नियन्त्रण न रख सकी। सरकार का यह दायित्व था कि वह सम्पन्न क्षेत्रों से अन्न मँगवाती और अकाल पीड़ित क्षेत्रों में उसका वितरण करवाती। सरकार राशनिंग की सुचारु व्यवस्था नहीं कर सकी। बीमार लोगों के उपचार की भी वह समुचित व्यवस्था न कर सकी। वह हृदयहीन और मूक द्रष्टा बनी रही। ब्रिटिश शासन में जो भारतीय प्रतिनिधि थे वे भी जनता के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे। ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ भारतवासियों का शोषण करती थी उसका उद्देश्य जनता की सेवा नहीं था। भूखों मरती जनता की उसे चिन्ता नहीं थी। वह पूँजीपतियों की मददगार थी।

(ख) पूँजीपतियों का भ्रष्टाचार

पूँजीपतियों का उद्देश्य केवलमात्र अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है और उनका स्वार्थ होता है अपनी पूँजी बढ़ाना। जनता के सुख-दुख से उन्हें कोई मतलब नहीं होता। पूँजीवाद मनुष्य को वर्गों में बाँट देता है पूँजीपति और पूँजीहीन। पूँजीपतिवर्ग को पूँजीहीन वर्ग से कोई सहानुभूति नहीं होती। वह अपनी सफलता पूँजीहीन वर्ग के अधिकाधिक शोषण में ही देखता है। यही कारण है कि अकाल के समय भी पूँजीपति वर्ग मुनाफ़ाखोरी, जमाखोरी में ही व्यस्त रहा। जनता अनेक संकटों का सामना कर रही है, भूखों मर रही है, रोगग्रस्त हो रही है, इससे उसे कोई सरोकार नहीं था। उसके लिए तो अकाल भी अधिकाधिक धन संचय करने का माध्यम था, इसीलिए वह अन्न व अन्य उपयोगी वस्तुओं को छिपाकर, बाद में ऊँची कीमत पर उन्हें बेचकर अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाने में लगा हुआ था। 'तूफ़ानों के बीच' में अनेक स्थलों पर जमाखोरी के संकेत मिलते हैं :-

''हमारी अन्न कमेटी के वालन्टियर्स ने एक छिपा हुआ गोदाम ढूँढ़ निकाला।''

''मनुष्य ने अपने मुनाफों के लिए बेशुमार कपड़ा तालों में बन्द कर रखा था।''

अत: स्पष्ट है कि यदि पूँजीपति वर्ग जमाखोरी के घिनौने व्यापार में न लगता तो अकाल की स्थिति इतनी भयंकर न हुई होती। पूँजीवाद के इस भ्रष्टाचार का परिणाम था स्त्रियों के शरीर की खरीद-बिक्री। भूख से पीड़ित जो स्त्रियाँ बिकने को मजबूर हुईं, उन्हें पूँजीवाले ही बेधड़क खरीद रहे थे। इस प्रकार अकाल की इस भीषणता ने सांस्कृतिक विघटन को जन्म दिया।

(ग) आपसी सद्भाव एवं मानवीय संवेदना का अभाव

आपसी सद्भाव और संवेदना संकट और पीड़ा की तीव्रता को कम करती है। यदि भारतवासियों के बीच आपसी सद्भाव होता और मानवीय संवेदना होती तो अकाल का विघटन इतना व्यापक न हुआ होता। अकाल पीड़ित बंगालवासियों की मदद के लिए कुछ थोड़े लोग ही आगे आये, शेष तटस्थ द्रष्टा मात्र ही बने रहे। सम्पन्न लोगों की हृदयहीनता और भारतीय जनता के निरपेक्ष रुख के कारण समस्या के समाधान में विलम्ब हुआ। संकट की घड़ी में यदि भारतवासी बंगाल की पीड़ा को अपने कुटुम्ब की पीड़ा के समान समझते और मदद के लिए आगे आते तो स्थिति इतना विकट एवं भयावह रूप धारण न करती। किसी भी जाति की श्रेष्ठता की पहचान मुसीबत की घड़ी में ही होती है। आदर्श सांस्कृतिक विरासत के होते हुए भी हम इतने संस्कारित न हो पाये कि बंगाल के भाइयों के काम आ पाते, यह बंगाल के अकाल के दौरान स्पष्ट हो गया। हम अपने परिवार के सुख-दुख से उबरकर देशवासियों के सुख-दुख से अपने को जोड़ सकें, ऐसे समर्थ न हो सके।

(घ) पीड़ित जनता में एकता का अभाव

बंगाल के गाँवों में अकाल पीड़ितों की समस्या से लड़ने के लिए कमेटियाँ बनी, यूनियन बोर्ड बने परन्तु सभी स्वार्थों में लिप्त हो गये और चोर बन गये। कमेटी के सदस्य पीड़ितों की चिन्ता न करके अपने घरवालों एवं रिश्तेदारों को राशन कार्ड देते थे, सुविधाएँ देते थे और गरीब जनता मुँह देखती रह जाती थी। बंगाल के एक व्यक्ति का यह कथन एकदम सही है-''हममें एका नहीं है, वर्ना क्या मजाल कि वह अपनी मनमानी करें।'' यदि पीड़ित ग्रामवासियों में एकता होती, वे संगठित हो पाते तो वे कमेटी के सदस्यों की मनमानी को रोक सकते थे। इसी तरह संगठित होकर अनाजखोरों, जमाखोरों, क्रूर पूँजीपतियों से लड़ा जा सकता था परन्तु लोग अपनी-अपनी पीड़ा में डूबे रहे और संगठित होकर योजनाबद्ध तरीके से कुछ भी नहीं कर सके। जब-जब ये संगठित हुए, समस्या का समाधान अवश्य निकला जैसे सरकार के द्वारा बीज़ के लिए मना करने पर किसानों के संयुक्त मोर्चे के सामने उन्हें झुकना पड़ा।

अत: एकता एवं संगठन में बड़ी शक्ति होती है। यदि पीड़ित ग्रामवासी संगठित होकर कार्य करते तो अन्न संकट, वस्त्र संकट, रोग, व्यभिचार, ब्रिटिश नीति सभी से लड़ सकते थे, सफल हो सकते थे और अपनी जीवन की स्थिति की भयावहता को कुछ कम कर सकते थे।

संकटग्रस्त मानवों की अंतर्शक्ति

'तूफ़ानों के बीच' में प्रस्तुत रिपोर्ताज़ों का वैशिष्ट्य इसमें है कि लेखक ने पीड़ित संकटग्रस्त मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को पहचाना है। मानव की अन्तर्निहित शक्ति संकट के समय प्रकट होती है और संघर्ष की प्रेरणा देती है। अकाल के दौरान बंगालवासियों ने भी अपरिमित साहस एवं कष्ट-सहिष्णुता का परिचय दिया। संकट के समय भी क्रान्ति की चिंगारी उनमें जलती रही और जीवन अदम्य रहा। एक नदी में नहाते क्षीणकाय बालक जब लेखक के दल को देखकर समवेत स्वर से 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' का नारा लगाते हैं तो लेखक की टिप्पणी है :-

''कौन कहता है बंगाल मर गया है, जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्यों के बालकों में क्रान्ति को चिरजीवी रखने का अपराजित साहस है, वह राष्ट्र कभी भी मर नहीं सकेगा।''

संकट के समय वही जाति अपना अस्तित्व बनाये रख पाती है जिसे संघर्ष एवं विजय में विश्वास हो। बंगाल के दौरे के दौरान लेखक ने वहाँ की जनता में अपरिमित संघर्ष शक्ति एवं विजय में विश्वास के दर्शन किये। बंगाल की जनता के द्वारा गाये जाने वाले गीतों में भी वहाँ की जनता के अदम्य साहस एवं शक्ति का परिचय मिलता है।

कर्त्तव्यबोध एवं मानवीयता जगाने की प्रेरणा

'तूफ़ानों के बीच' में संग्रहित रिपोर्ताज़ों में लेखक ने मानव को अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत करने का प्रयत्न किया है और मानवीय गुणों को जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। प्रेम, करुणा, सहानुभूति, संघर्ष, क्रान्ति, एकता ऐसे ही मूल्यवान भाव हैं जो समस्या का समाधान करने में सहायक हो सकते हैं। लेखक ने पूरी शक्ति से मानवीयता की भावना जगाने का कार्य किया। पीड़ित मानवों के सन्दर्भों में जो कर्त्तव्य हैं उन्हें तभी पूरा किया जा सकता है जब देशवासियों में ये भाव जगा दिये जायें। लेखक ने अपने रिपोर्ताजों में इन्हीं भावों को प्रश्रय दिया है –

(1) 'जो जनता के काम आता है वही मनुष्य है।' (जनप्रेम)

(2) 'मनुष्यता की विजय ही मेरे जीवन का चरम लक्ष्य है।' (मानवीयता)

(3) 'हम गुलामी के ये बाँध तोड़ देने के लिए साँप की तरह ज़िन्दा हैं।' (मुक्ति का भाव)

जिस देश के निवासी मानवीय गुणों से युक्त होंगे, वे बड़े से बड़े संकटों को भी पार करने की सामर्थ्य रखेंगे। 'तूफ़ानों के बीच' में प्रस्तुत रिपोर्ताजों की सफलता स्थिति के यथार्थ चित्रण में तो है ही, इन मूल्यवान भावों को मानवमात्र में मन में जगाने में भी है। ये भाव प्रत्येक संकट के क्षण में उपयोगी एवं आवश्यक हैं। इन भावों से युक्त व्यक्तियों का जीवन अदम्य होगा, वे ही तूफ़ानों के विजेता होंगे और वे ही भविष्य का भी निर्माण कर सकेंगे।

शिल्प

इतिहास के भयानकतम अकाल में जकड़े हुए बंगाल के लोगों को राहत पहुँचाने के उद्देश्य से संगठित जत्थे के साथ रांगेय राघव बंगाल पहुँचे और उन पीड़ित लोगों के साथ लेखक ने सुबह-शाम तथा रातें गुज़ारी। रिपोर्ताज़ लेखक वास्तविक जीवन का चितेरा होता है। रांगेय राघव बंगाल के प्रलयंकारी अकाल के प्रत्यक्ष द्रष्टा थे यही कारण है कि 'तूफ़ानों के बीच' में संग्रहीत रिपोर्ताजों में यथार्थ की इतनी मार्मिक अभिव्यक्ति है कि वह पाठक को झकझोर कर रख देती है।

सफल रिपोर्ताज़ की पहली शर्त यह होती है कि वह किसी महत्त्वपूर्ण सामयिक समाचार की सूचना देता है परन्तु यह केवल मात्र समाचार नहीं होता उसमें लेखकीय जीवन-दृष्टि भी निहित होती है। लेखकीय जीवन-दृष्टि से सम्पृक्त होने के कारण ही यह रिपोर्ट से भिन्न होता है और समसामयिकता के दायरे को लाँघकर शाश्वतता की सीमा में प्रवेश कर जाता है। 'तूफ़ानों के बीच' में संकलित रिपोर्ताज़ इसी गुण से समन्वित हैं और मनुष्य को चिन्तन-मनन के लिए विवश करते हैं।

'तूफ़ानों के बीच' संग्रह के रिपोर्ताज 1942 के बंगाल के अकाल की विभीषिका को प्रस्तुत करते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य की नीतियों एवं पूँजीवादी ताकतों के स्वार्थ के कारण साठ लाख व्यक्ति भूख से तड़प-तड़पकर मर गये, अनेकों व्यक्ति कुपोषण या अपोषण का शिकार होकर मृत प्राय: हो गये, अनेकों लोग महामारियों का ग्रास बन गये, लाखों महिलाओं को अपने तथा परिवार के भरण-पोषण के लिए वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ी। यह समाचार एक ऐसा समाचार था जिसे जानना केवल भारतवासियों के लिए ही आवश्यक नहीं था वरन् मानव होने के नाते हर व्यक्ति को जानना ज़रूरी था। रांगेय राघव ने बंगाल के इसी भयानक अकाल की घटना को अपने कथ्य का विषय बनाया। उन्होंने इसे एक समाचार के रूप में ही प्रस्तुत नहीं किया वरन् मानवीय भावनाओं से जोड़कर प्रस्तुत किया। लेखक ने यह भी रेखांकित किया कि अनाज-चोर पूँजीपतियों का कोई धर्म तथा ईमान नहीं होता उनका धर्म केवल मात्र स्वार्थ होता है। उन्हें किसी भी स्थिति तथा परिस्थिति की दारुणता एवं भयावहता आक्रान्त नहीं करती, मानवीय मूल्य उन्हें छू नहीं पाते।

कोई भी सामयिक समाचार लेखकीय जीवन-दृष्टि से सम्पृक्त होने पर ही रिपोर्ताज़ की संज्ञा पाता है। रांगेय राघव मार्क्सवादी विचारधारा के व्यक्ति थे। मार्क्सवाद का मूलभूत सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज को शोषक एवं शोषित दो वर्गों में विभाजित करके देखता है। स्वतन्त्र व्यक्ति तथा दास, अमीर तथा गरीब, स्वामी तथा सेवक सभी में व्यक्त या अव्यक्त रूप से संघर्ष चलता रहा है। इस संघर्ष की परिणति या तो क्रान्ति के माध्यम

से समाज के पुनर्निर्माण में हुई है या संघर्ष करने वाले वर्ग के विनाश में। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश अवश्यम्भावी है परन्तु वह शान्तिपूर्ण तरीकों से नहीं, क्रान्ति से ही सम्भव है। मज़दूरों तथा श्रमिकों को संगठित होना होगा। ऐसे संघ एवं संगठन ही राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष चला सकेंगे। अतः यह विचारधारा दुनिया के सभी श्रमिकों को एकता के सूत्र में बाँधने का सन्देश देती है।

'तूफ़ानों के बीच' में इस मार्क्सवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई है। लेखक साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी ताकतों को बंगाल के अकाल की भीषणता के लिए उत्तरदायी ठहराता है। लेखक यह भी मानता है कि जनता के बीच एकता का अभाव भी उनकी इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार है। क्योंकि जब-जब मजदूरों एवं श्रमिकों के बीच संगठन हुआ तब-तब पूँजीवाद एवं साम्राज्यवादी ताकतों को झुकना पड़ा। बारखड़ा यूनियन का उदाहरण इस कथन की पुष्टि करता है। जनता में चेतना के जाग्रत होने पर उन्हें भूखों मारने वाले नर-पिशाचों का अन्त होना स्वाभाविक है। 'अदम्य-जीवन' रिपोर्ताज़ का जो स्वर है वह वस्तुतः पूरी कृति के केन्द्रीय स्वर के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

यों तो प्रत्येक रिपोर्ताज़ में कोई न कोई कहानी अवश्य होती है लेकिन कहानी कहना लेखक का अभीष्ट नहीं होता। रिपोर्ताज़ में कहानी के जैसा बँधा-बँधाया ढाँचा नहीं होता क्योंकि यहाँ कहानी कहना प्रमुख नहीं है बल्कि कहानी के माध्यम से घटना को प्रभावशाली एवं मार्मिक रूप देना प्रमुख है। इनमें नायक-प्रतिनायक या अन्य पात्रों की स्थिति नहीं होती। 'तूफ़ानों के बीच' रचना के सन्दर्भ में भी यही सत्य है। 'एक रात' में रूपलाल का कथावृत्त हो या फिर 'अन्धकार' में चण्डीचरण मुखोपाध्याय का -ये सभी प्रसंग बंगाल के अकाल की दारुणता एवं त्रासदी को रेखांकित करने के लिए ही आये हैं।

प्रत्येक साहित्यिक कृति में लेखक की हृदय-तन्त्री की झंकार सुनाई देती है। रिपोर्ताज़ भी इसका अपवाद नहीं हैं। इसी के कारण रचना में काव्यात्मकता का समावेश हो जाता है। रिपोर्ताज़ में यह काव्यात्मकता कल्पना का विलास-भर नहीं होती, वह घटना-विशेष में पूरी तरह रम जाने और उसके रहस्यों को उद्घाटित करने का माध्यम होती है जो सोचने-समझने के लिए विवश करती है। रांगेय राघव के प्रस्तुत संकलन में भी यही स्थिति है। उदाहरण के लिए :-

(1) ''घर वह शान्त घर चाँदनी में सो रहे थे। लेकिन मानव को इतना अवकाश, इतना समय ही नहीं था कि वह भी पानी पर बहते सोने-चाँदी की झिलमिल चादरों से आह्लादित होता।''

(2) ''आकाश में पतला चाँद चल रहा था, अन्धेरे के व्यथित हृदय में कसकन पैदा करने वाला एक काँटा। डॉक्टर का मन भारी हो गया।''

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि लेखक ने वास्तविकता का दामन कभी नहीं छोड़ा। प्रकृति का सौन्दर्य, उसकी तरलता के बीच भी लेखक की यथार्थवादी वृत्ति बनी रही है।

कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कहना रिपोर्ताज़ लेखक का दायित्व होता है। 'तूफ़ानों के बीच' में अनेक ऐसे अंश मिल जाते हैं जिनमें लेखक गागर में सागर भरने की कहावत को चरितार्थ करता जान पड़ता है। अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए डाक्टरी जत्थे के साथ लेखक जब शिद्धिरगंज पहुँचता है तो उसे मालूम पड़ता है कि सामने दिखाई पड़ने वाली चौदह कब्रों में एक-एक के भीतर कई-कई लाशें दबी पड़ी हैं। उन्हीं की ओर संकेत करते भट्टाचार्य कहता है-''हम चाहते हैं कि तुम यहाँ की एक-एक कब्र से बात करो और हिन्दुस्तान के कोने-कोने में जाकर कहो कि जिस ढाके की मलमल एक दिन शहंशाह पहनते थे, आज वहाँ जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं।'' यह उद्धरण उन लोगों पर तो व्यंग्य करता ही है जो तमाशबीनों की तरह दुर्घटनाग्रस्त क्षेत्रों का दौरा करते हैं, जुलाहों के चूहों की तरह मरने के माध्यम से उस क्षेत्र के प्लेगग्रस्त होने की ओर भी संकेत करता है साथ ही चूहों से उनकी उपमा यह भी सिद्ध करती है कि वे लोग कितने कमज़ोर और दुबले हो गये थे।

पत्रकारिता ने रिपोर्ताज़ की विधा को जन्म दिया। समाचार पत्रों की भाषा की विशेषता है वाक्यों का संक्षिप्त, स्पष्ट एवं प्रभावी होना। छोटे-छोटे वाक्यों में अपनी बात प्रभावशाली ढंग से कह देना ही रिपोर्ताज़ का भी गुण है। उसे इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि संक्षिप्तता के कारण अस्पष्टता न आये। 'तूफ़ानों के बीच' में भी इस

सिद्धान्त की अवहेलना नहीं की गई। सम्पूर्ण रचना अनुच्देदों का आकार छोटा है, यही नहीं वाक्य भी संक्षिप्त है। जैसे –

''जो भूखा है वह जीवित रहने का मूल्य जानता है।''

''कलकत्ता एक बूचड़खाना है जहाँ भूख और गरीबी मनुष्य की बलि चढ़ा रही है।''

''आज की सभ्यता की माप वहाँ है जहाँ एक ओर महल है, एक ओर झोंपड़ी। हममें कितनी सामर्थ्य और शक्ति है, किन्तु हम कितने दुखी हैं।''

उपर्युक्त उद्धरणों में छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीर बात कह दी गई परन्तु कहीं पर भी अस्पष्टता नहीं है।

रिपोर्ताज़ लेखक जिन उपमानों का चुनाव करता है वे उस जीवन से जुड़े होते हैं जिनकी कथा लेखक कहता है। ऐसा होने पर ही कथन में प्रभावात्मकता एवं मार्मिकता आ पाती है। 'तूफ़ानों के बीच' में प्रयुक्त उपमान बंगाल की माटी से जुड़े हुए हैं उस माटी से जो अनेक महामारियों का शिकार हो गई थी। यही कारण है कि वह उन निरीह बंगालियों के लिए मच्छर का उपमान चुनता है, सूजे हुए पैरों को फूली हुई लौकी के रूप में देखता है, बीमारियों से ग्रस्त लोगों को पिस्सूग्रस्त चूहों की तरह बिलबिलाता देखता है, मछेरों को मछलियों के समान निस्सहाय पाता है, सोनारगाँव को टूटी हुई बैलगाड़ी के रूप में देखता है।

कथ्य प्रभावशाली वर्णन के लिए लेखक विषयानुरूप शैली अपनाता है। यही कारण है कि वह कहीं पत्र-शैली का प्रयोग करता है, कहीं निबन्ध-शैली का, कहीं कथात्मकता दिखाई पड़ती है तो कहीं वह गद्य काव्य-सा लगता है। यह सारा शैली वैविध्य रिपोर्ताज की आत्मा को क्षतिग्रस्त नहीं करता। 'तूफ़ानों के बीच' में लेखक ने पत्र-शैली (एक प्रेम-पत्र) गद्य काव्यात्मक शैली (नवजीवन) आदि विविध शैलियों का प्रयोग किया है परन्तु बंगाल की दारूण दशा के चित्रण पर से उनकी दृष्टि नहीं हटती। उदाहरण के लिए 'एक प्रेमपत्र' रचना का शीर्षक रोमांटिक है परन्तु पूरी रचना में महामारी के चंगुल में फँसे भोले-भाले, निरीह, पददलित, लोगों की करुण कथा का अंकन है। धनी और निर्धन वर्ग की तुलना ने सम्प्रेषणीयता में वृद्धि की है। सरकार एवं समाज के पूँजीपतियों का कच्चा चिट्ठा यहाँ परत-दर-परत खुलता है। अकाल और महामारी की स्थिति में सरकार का भारत-रक्षा-कानून का उल्लंघन होते देखकर भी कुछ न करना, लोगों का भूख से बेहाल होकर तड़प-तड़पकर मरना, पूँजीपतियों के द्वारा अन्न को छिपाकर रखना और लोगों द्वारा उसकी रिपोर्ट देने वालों को ही लुटेरे कहकर पकड़ लेना ब्रिटिश सरकार एवं पूँजीपतियों के काले कारनामों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख देता है।

अत: शैली-प्रयोग की दृष्टि से इस रचना का वैशिष्ट्य है एकाधिक शैलियों का प्रयोग। एकाधिक शैलियों के प्रयोग के कारण कथा की प्रभावात्मकता को कोई नुकसान नहीं पहुँचता।

प्रस्तुत कृति में ऐसे सैकड़ों वाक्य हैं जो पाठक को प्रभावित करते हैं और उसकी स्मृति का अंश बन जाते हैं जैसे-'जो जनता के काम आता है वही मनुष्य है', 'जो डरता है वह कभी सुखी नहीं रहता', 'अपना हानि-लाभ देखने वाला नाज-चोर का ही दूसरा रूप है', आदि वाक्य पाठक के अंतर्मन में गूँजते रहते हैं। इस तरह के वाक्य बंगाल के भयावह अकाल की स्मृति को ही जीवित नहीं रखते वरन् सोचने-समझने के लिए भी विवश करते हैं।

रिपोर्ताज़ लेखक की दृष्टि मानवतावाद से परे नहीं हटती। अकाल, बाढ़, महामारी इत्यादि की सूचना देना भर ही उसका अभीष्ट नहीं होता, वरन् मानवता का सन्देश देना भी उसका उद्देश्य होता है। वह यह व्यक्त करता है कि समाज में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी दृष्टि अपने हानि-लाभ से परे नहीं जाती; वस्तुत: वे मनुष्य नहीं होते वरन् मानवता के इतिहास के लिए एक कलंक होते हैं। जो दूसरों को भूखा देखकर द्रवित होते हैं और उनकी अपनी भूख मर जाती है : जो दुश्मन से भी दोस्त जैसा व्यवहार करते हैं वे ही मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं। जब मनुष्य स्वार्थरहित होकर लोककल्याण का प्रतीक बन जाता है तो लोग उसे पसन्द करते हैं।

मानवतावाद में आस्था रखने वाले लेखक का स्वर आशावादी होता है। 'तूफ़ानों के बीच' यह आशावादी स्वर गूँजता सुनाई पड़ता है। चाहे आज बंगाल अकाल की विभीषिका के कारण मलिन हो गया है, लोगों में भूख के कारण

मानवता के गुणों का ह्रास हुआ है परन्तु आशा का स्वर नहीं टूटा है। ''बंगाल का अकाल सदा के लिए नहीं है, मैं पराजित नहीं हूँ।'' ''आज भी मनुष्य को कदम-कदम पर विश्वास है कि वह एकदम नष्ट नहीं होगा।'' आदि लेखक के और बंगाल की जनता के आशावाद की पुष्टि करते हैं।

प्रस्तुत कृति 'तूफ़ानों के बीच' रिपोर्ताज़ लेखन की कसौटी पर पूर्णत: खरी उतरती है। सत्य घटना को अपनी विवेचन शक्ति के माध्यम से मार्मिक रूप में प्रस्तुत करने में वह पूर्णत: सफल है। भाषा शैली सहज, सरल एवं भावपूर्ण है।

महत्त्वपूर्ण स्थलों की व्याख्या

(1) **''मैंने सोचा और समझा कि यह बालक इसलिए नहीं मुस्करा रहे हैं कि उन्हें उस अकाल के भयानक पिशाच से लड़कर बच रहने का गर्व था, बल्कि इसलिए कि उनके सामने आज ऐसे मनुष्य खड़े थे, जिन्होंने उनके मनुष्य बने रहने के अधिकार को स्वीकार किया था, उस समय जबकि उनके अपने उनके नहीं थे। जब वह घृणा और स्वार्थ के कारण एक-दूसरे पर विश्वास कर सकने तक की श्रद्धा को भूल चुके थे।''**

प्रसंग

प्रस्तुत गद्यावतरण रांगेय राघव रचित 'तूफ़ानों के बीच' में संकलित रिपोर्ताज़ 'बाँध भंगे दाओ' से लिया गया है। पूर्वी बंगाल में भीषण अकाल पड़ने पर डॉ० कुंटे के चिकित्सक दल के साथ लेखक भी एक रिपोर्टर की हैसियत से वहाँ गया। वहाँ पहुँचने पर लोगों की क्या प्रतिक्रिया थी इसका वर्णन करते हुए लेखक बालकों के मुस्कराने की व्याख्या करता है।

व्याख्या

लेखक कहता है कि वहाँ पहुँचने पर लोगों की आँखों में एक भय और उदासी की छाया स्पष्ट दिख रही थी। कारण स्पष्ट था, वे एक भीषण तूफ़ान के बीच से बचकर आये थे। परन्तु सामने कुछ बालक खड़े मुस्करा रहे थे और उनकी मुस्कराहट में यह गर्व नहीं झलक रहा था कि वे एक अकाल के राक्षसी पंजों से बचकर निकल आये हैं बल्कि इसलिए भी कि उनकी मानवता की भी रक्षा हो सकी है। यह पर्याप्त सम्भव था कि अकाल की मार खाते-खाते और तत्पश्चात पूँजीवादी ताकतों से लड़ते हुए वे अपनी मनुष्यता गवाँ देते परन्तु इस सहायता दल के पहुँचने ने उनको यह विश्वास दिलाया कि अभी भी मनुष्य और उनकी मनुष्यता बाकी है। आज उनके सामने ऐसे मनुष्य खड़े हुए थे जिसने उनके मानवता के अधिकार को सुरक्षित रखा था। उनके जीवन की ऐसी स्थिति हो गयी थी कि उनके अपने कहलाने वाले अपने नहीं रहे। कुछ तो अकाल का ग्रास हो गये थे और जो बचे थे - वे भी पराये हो गये थे क्योंकि भूख की आग ने सभी को आत्मलिप्त बना दिया था। घृणा और स्वार्थ का इतना बोलबाला हो गया था कि आपसी विश्वास एवं श्रद्धा के भाव को वे भूल चुके थे। कहने का तात्पर्य यह है कि आपसी भाईचारा खत्म हो गया था, प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ में मग्न था। ऐसी भयावह स्थिति में जब मनुष्य का मनुष्य पर विश्वास खत्म होता जा रहा था तो इस चिकित्सक दल ने मनुष्य के प्रति आस्था और विश्वास को पुन: जगाया कि मनुष्यता अभी मरी नहीं है, जीवित है। इसका साक्षात् उदाहरण यह चिकित्सक दल है जो अकाल पीड़ितों की सेवा करने की भावना से यहाँ आया है।

विशेष

प्रस्तुत गद्यांश में बंगाल के अकाल पीड़ित लोगों की मनोदशा का वर्णन किया गया है। अकाल के राक्षस ने मनुष्य पर से उनके विश्वास को भंग कर दिया था परन्तु डॉक्टरों के वहाँ पहुँचने पर मनुष्यता पर उनका विश्वास खंडित नहीं हुआ, बना रहा। भाषा सहज और सरल है। अकाल को पिशाच की संज्ञा देना अकाल की भयावहता को प्रस्तुत करने में सक्षम है।

(2) **''आज हिन्दुस्तानी और बंगाली का भेद नहीं किया जा सकता। आज एक ओर मनुष्य है, दूसरी ओर वे नर-पिशाच जो मनुष्य को तड़प-तड़पकर मरते हुए देखकर भी चुप रह जाते हैं और रुपये की खनखन**

में अपनी सारी सभ्यता और मनुष्यत्व को डुबाकर अपनी राक्षसी आँख तरेरा करते हैं। हमारी कराह कोई पराजय नहीं है। दुनिया हमें मर जाने देना नहीं चाहती। तभी तो आए हैं आप लोग, कोई आगरा से, कोई असम से।''

प्रसंग : पूर्ववत्

व्याख्या

लेखक कहता है कि जीवन जब सामान्य गति से चल रहा हो तो मानव जाति को वर्गों में बाँटा जा सकता है परन्तु जब मानव जीवन गम्भीर दौर से गुज़र रहा हो तो ऐसा वर्ग भेद उचित नहीं है। यही स्थिति आज बंगाल के संदर्भ में भी है। आज हिन्दुस्तानी और बंगाली वर्गों में जनता को नहीं बाँटा जा सकता। वे केवल मात्र मनुष्य हैं और यही कारण है कि डॉ० कुंटे के नेतृत्व में आया चिकित्सक दल केवल मनुष्य होने के नाते ही बंगाल के निवासियों की सेवा-सहायता के लिए आया है। आज यदि भेद किया जा सकता है तो मनुष्य और मनुष्य के रूप में पिशाच बन गये लोगों के बीच। अकाल की इस भीषण दशा में भी कुछ लोग ऐसे हैं जो मनुष्य को भूख के कारण तड़प-तड़प कर मरते हुए देखते हैं और चुप्पी लगा जाते हैं। उन्हें केवल मात्र रुपये की खनखनाहट सुनायी पड़ती है, चाँदी के सिक्कों की चमक दिखलाई पड़ती है इसी कारण वे सारी सभ्यता एवं मनुष्यता को भुलाकर केवल अपनी राक्षसी आँखों से देखा करते हैं मानव की उस मौत का नज़ारा जो किसी भी पत्थर दिल मानव को पिघला दे। परन्तु स्वार्थ उनके सिर चढ़कर बोलता है और वे लोभ-लालच से अंधे होकर कुछ भी देख नहीं पाते। बंगाल का मानव कहता है कि भूख के कारण, बीमारी के कारण हमारे मुँह से निकलने वाली आह हमारी पराजय की सूचक नहीं है क्योंकि हम फिर से शक्ति संचित करेंगे, फिर से आगे बढ़ेंगे। हमारी सहायता के लिए जो लोग आये हैं वे हमें मरने देना नहीं चाहते इसलिए देश के विभिन्न प्रदेशों से लोग मन में सेवा भाव लिये हमारी सहायतार्थ आये हैं।

विशेष

लेखक का विचार है कि सामान्यत: जातिभेद में बँटी हुई मानवजाति कठिनाई के समय उन दीवारों को गिरा देती है। लेखक के अनुसार आज मनुष्य जाति यदि बँटी हुई है तो मानव और नर-पिशाच के रूप में। मनुष्य के रूप में जो राक्षसी वृत्तियों से युक्त है वस्तुत: उन्होंने ही मानवता पर सबसे बड़ी चोट की है। बंगाल की जनता अपराजेय है, प्रथम तो उनकी अदम्य साहस और संघर्ष की भावना ही उन्हें मरने नहीं देती दूसरे उनके इस भाव की पुष्टि के लिए सहायता दल भी आ गया है। लेखक अकाल के समय भी अपनी स्वार्थसिद्धि करने वालों पर बड़ा व्यंग्य करता है। भाषा सरल सहज एवं प्रभावपूर्ण है। 'आँख तरेरना' मुहावरे का बहुत ही सटीक प्रयोग है।

(3) **''बाहर से तुम्हारी तरह बहुत-से लोग आते हैं। हम चाहते हैं कि तुम यहाँ की एक-एक कब्र से बात करो और हिन्दुस्तान के कोने-कोने में जाकर कहो कि जिस ढाके की मलमल एक दिन शहंशाह पहनते थे, आज वहाँ जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं।''**

प्रसंग

प्रस्तुत गद्यखण्ड रांगेय राघव रचित 'तूफ़ानों के बीच' में संकलित रिपोर्ताज़ 'अदम्य जीवन' से लिया गया है। बंगाल के शिद्धिरगंज में पहुँचने पर भट्टाचार्य नामक व्यक्ति लेखक को वहाँ की स्थिति के बारे में बताकर कहता है कि हम यह चाहते हैं कि यहाँ की यथास्थिति का वर्णन तुम करो।

व्याख्या

लेखक कहता है कि बंगाल के अकाल की व्यथा-कथा से पीड़ित होकर बहुत से लोग यहाँ आ रहे हैं परन्तु वे अकाल के इस विध्वंस का दृश्य देखकर चले जाते हैं। हम यह चाहते हैं कि तुम यहाँ सामने जो कब्रों के समूह हैं उनमें से एक-एक कब्र से बात करो। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ के अकाल की कथा एक सामान्य कथा नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग कथा है और प्रत्येक कथा दिल दहला देने वाली है। हम चाहते हैं कि उसको गहराई से जानो और उसका वर्णन करो। यहाँ हर कब्र कुछ कह रही है। ये सामने की कब्रों में दफन अधि कांश वे जुलाहे हैं जो ढाके की मलमल बनाते थे। ढाके की मलमल की गुणवत्ता इतनी अधिक थी कि शहंशाह भी

उसे पसन्द करते थे और पहनने की इच्छा रखते थे। आज कपड़ा बुनने वाले वे जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं। तुम हिन्दुस्तान के कोने-कोने में यह बात पहुँचाओ कि अकाल-पीड़ित बंगाल में क्या हो रहा है। शायद इससे सत्ताधारियों, पूँजीपतियों को बंगाल की वास्तविक स्थिति का परिचय मिले और वे लोगों की सहायता के लिए उचित प्रशासनिक व्यवस्था करें।

विशेष

लेखक बाहर से आने वाले लोगों पर व्यंग्य करता है कि अधिकांश लोग यहाँ के अकाल को एक तमाशे की तरह देखने के लिए आते हैं और देखकर चले जाते हैं। वहाँ के लोग लेखक से आत्मीयता की माँग करते हैं। 'कब्र से बात करो' प्रयोग लाक्षणिक है अर्थात् यहाँ की पीड़ा को आत्मसात् करो। ढाके की मलमल बहुत महीन और कोमल होती थी जिसके बारे में प्रसिद्ध था कि वह अँगूठी के छेद में से निकल सकती थी, राजा लोग भी उसे पसन्द करते थे। जुलाहे चूहों की तरह मर रहे हैं यानी प्लेगग्रस्त होकर मर रहे हैं। अकाल पीड़ित व्यक्ति भूख से ही नहीं बीमारियों से भी मर रहे थे। शिद्धिरगंज क्षेत्र की दारुण दशा का प्रभावशाली चित्र यहाँ खींचा गया है। भाषा सरल तथा सशक्त है।

(4) **''तब तो बंगाल अभी जीवित है। आज भी वह अपना रास्ता खोज निकालना जानता और चाहता है। भूख से व्याकुल होकर भी यह भारत का संस्कृति-जनक सिर झुकाने को तैयार नहीं है। आज भी वह इन सब आँधी-तूफ़ानों को झेलकर फिर से विराट् रूप में फूट निकलना चाहता है। सचमुच कोई इनका कुछ नहीं कर सकता। यदि जनता में चेतना है, तो इन्हें भूखों मारने वाले नर-पिशाच नाज-चोरों का अन्त दूर नहीं है।''**

प्रसंग

प्रस्तुत पंक्तियाँ रांगेय राघव रचित 'अदम्य जीवन' शीर्षक रिपोर्ताज़ से उद्धृत है। लेखक अकाल पीड़ित क्षेत्र शिद्धिरगंज के दौरे पर जाता है। उसे मालूम पड़ता है कि मुनाफ़ाखोर चोरबाज़ारों ने ऊँचे दाम पर अनाज बेचने के लालच में उन्हें गोदामों में छिपा दिया है। दूसरे कमेटियों एवं यूनियन बोर्ड के सदस्य राहत-सामग्री अपने लोगों और रिश्तेदारों में ही बाँट रहे हैं। शिद्धिरगंज के लोग अपनी बातचीत में इसका विरोध करते हैं एवं आक्रोश प्रकट करते हैं। उनके अदम्य साहस को देखकर लेखक सोचता है :–

व्याख्या

कि बंगाल के लोग कमेटी एवं बोर्ड के सदस्यों की भ्रष्टता के खिलाफ़ आवाज़ उठा सकते हैं तो यह स्वीकार करना होगा कि बंगाल अभी मरा नहीं है। भूख से पीड़ित होने पर भी, बीमारियों से लड़ने पर भी बंगाल के लोगों में अन्याय के खिलाफ़ लड़ने की चेतना विद्यमान है। अकाल में उसका सब कुछ उजड़ गया, पीड़ा को उसने आँधी तूफ़ान की तरह झेला है परन्तु वह पराजित होना नहीं जानता। बंगाल भारतीय संस्कृति का जन्मदाता है परन्तु आज भूख से व्याकुल, पीड़ित होकर भी वह झुकने के लिए तैयार नहीं है, उसमें अपरिमित शक्ति एवं साहस मौजूद है। अकाल की विभीषिका को उसने भयंकर आँधी-तूफ़ान की तरह झेला है परन्तु भुखमरी, बीमारी, बेकारी, विध्वंस आदि के दौर से निकलकर वह फिर से नवनिर्माण की शक्ति संचित करेगा और नवजीवन प्राप्त करेगा। विरोधी एवं विध्वंसकारी शक्तियाँ इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। यदि जनता इतनी सजग एवं अन्याय के खिलाफ़ लड़ने की चेतना से सम्पन्न है तो यह सच है कि भूख से मार देने की योजना बनाने वाले एवं भ्रष्ट अनाज-चोरों का शीघ्र ही अन्त हो जाएगा।

विशेष

लेखक बंगाल के लोगों में अनन्त जीवनी शक्ति देखता है। बंगाल में अन्य क्षेत्रों की तुलना में अनेक श्रेष्ठ कवि, चिन्तक, कलाकार, सन्त महापुरुष पैदा हुए हैं जो भारतीय संस्कृति के निर्माता हैं इसीलिए बंगाल को संस्कृति-जनक कहा जाता है। लेखक बंगाल के ध्वंस को भीषण आँधी-तूफ़ान के रूप में देखता है परन्तु वह बंगाल के भविष्य के

प्रति निराश नहीं है क्योंकि बंगाल सारी विरोधी परिस्थितियों पर विजय पाकर नवनिर्माण की शक्ति रखता है। लेखक अकाल के दौरान अन्न संग्रह करने वाले व्यापारियों को मनुष्य के रूप में राक्षस के समान देखता है जो मनुष्य की पीड़ा से द्रवित नहीं होता। 'नर-पिशाच' में रूपक अलंकार है।

(5) **''गर्व से मेरी छाती फूल उठी। कौन कहता है कि बंगाल मर गया है? जहाँ भूख और बीमारियों से लड़कर भी मनुष्यों के बालकों में क्रान्ति को चिरंजीवी रखने का अपराजित साहस है वह राष्ट्र कभी भी नहीं मर सकेगा। हड्डी-हड्डी से लड़ने वाले यह योद्धा जीवन की महान शक्ति को अभी तक अपने में जीवित रख सके हैं।''**

प्रसंग

प्रस्तुत गद्यखण्ड रांगेय राघव रचित 'अदम्य जीवन' शीर्षक रिपोर्ताज़ से उद्धृत है। लेखक नदी की पतली धारा में शरीर से कमजोर कुछ नंगे लड़कों को नहाते हुए देखता है। लेखक के दल को देखकर वे 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगाने लगते हैं। यह सुनकर लेखक को लगता है कि बंगाल के लोगों में क्रान्ति-भावना अभी भी विद्यमान है। यही देखकर गर्व से लेखक कहता है :-

व्याख्या

बंगाल के दुर्बल, पतले, नंगे लड़कों को 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगाते देखकर लेखक के मन में इस जाति के प्रति गर्व का भाव पैदा हुआ। वह कहने लगा कि यह कौन कह सकता है कि बंगाल मर गया है। वहाँ के लोगों ने भूख एवं बीमारी के प्राणघातक हमलों को सहा है परन्तु क्रान्ति का भाव उनका दबा नहीं है; आज भी प्रकृति की इतनी मार एवं मानव की मार झेलने पर भी क्रान्ति की भावना को बनाये रखने का साहस वे संजोये हुए हैं। जिस क्षेत्र के लोगों में ये साहस विद्यमान हो वह कभी भी मर नहीं सकता। ये बालक भूख एवं बीमारी से पीड़ित होकर कंकाल मात्र रह गये हैं परन्तु विपत्ति एवं अन्याय के खिलाफ़ लड़ने की उनकी शक्ति शेष नहीं हुई है। आज भी वे अन्याय के खिलाफ़ लड़के की ताकत रखते हैं अपने मन के रोष को प्रदर्शित करने का साहस रखते हैं। बंगाल का युवा ही नहीं बल्कि बच्चों में भी यह शक्ति बची हुई है अत: उसकी मृत्यु नहीं हो सकती।

विशेष

लेखक को इस बात का गर्व है कि कंकालमात्र बचे इस भूखे नंगे बंगाल के बच्चों में अन्याय के खिलाफ़ लड़ने की शक्ति मौजूद है। योद्धा मृत्यु से भयभीत नहीं होता। बंगाल के ये बालक भी अदम्य साहसी हैं जिन्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। लेखक की वाणी में एक ओज स्वर सुनाई पड़ता है जो केवल बंगाल के निवासियों के साहस एवं शक्ति का ही वर्णन नहीं कर रही है वरन् सभी मानवों को ऐसा अद्भुत एवं अदम्य साहस संचित करने के लिए प्रेरित कर रही है।

(6) **''युगान्तर से बंगाल का दलित मानव पतित नहीं हुआ। अपराजित मानवता हुंकार उठी। चंडीदास की वह पुकार - सवार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाइ ..... माँझी का धर्म है अपने ऊपर निर्भर रहने वालों को अपने से पहले बचाना। जब उसका जीवन खतरे में था, किसी ने नहीं बचाया उसे; किन्तु आज वह जीवन की बाजी लगाए, दाँव पर खेल रहा है। कौन है हम उसके? माँ ... पिता ... मेरे हैं - माँझी भी मेरा है। बंगाल की मानवता मेरी है।''**

प्रसंग

प्रस्तुत पंक्तियाँ रांगेय राघव रचित 'तूफ़ानों के बीच' में संग्रहित रिपोर्ताज़ 'तूफ़ानों के विजेता' से ली गई हैं। लेखक जब अपने साथियों के साथ नाव से नदी पार कर रहा था तो भयंकर तूफ़ान के कारण सभी का जीवन खतरे में था; परन्तु माँझी और उसकी सन्तान ने अपनी जान पर खेलकर सबकी रक्षा की। इसमें लेखक बंगाल के माँझी के साहस एवं शक्ति का परिचय तो पाता ही है; मानवता के भाव को भी देखता है।

व्याख्या

बंगाल के मानव पर युगों से आपदाओं के पहाड़ टूटते रहे। बार-बार उस पर अत्याचार हुए, बार-बार उसे दबाया गया परन्तु वह कभी भी पतित नहीं हुआ। मानवता का भाव उसका कभी नहीं दबा। मनुष्यता और मनुष्य मात्र में उसका विश्वास खण्डित नहीं हुआ। यही कारण है कि बार-बार कष्टों, पीड़ाओं को झेलकर भी, बार-बार भयंकर आपदाओं का सामना करने पर भी वह पतन के मार्ग पर नहीं चला, न ही पराजित हुआ। चंडीदास का कथन है कि मानुष का सत्य सर्वोपरि है, उसके ऊपर अन्य कुछ नहीं है। मनुष्यता जीवन का सर्वोपरि गुण है। माँझी का भी यही धर्म है कि जो उसके भरोसे नौका से पार होने का विश्वास संजोये हुए हैं उनको पार लगाना। यदि उनका जीवन खतरे में पड़ता है तो उनकी रक्षा अपने से भी पहले करना अर्थात् माँझी का यह कर्त्तव्य है कि अपने प्राणों की चिन्ता न करके अपने ऊपर निर्भर रहने वाले लोगों के जीवन की रक्षा करना। लेखक कहता है कि बंगाल के उस माँझी का जीवन जब संकट में था तो कोई उसे बचाने के लिए आगे नहीं आया परन्तु आज जब आवश्यकता पड़ी तो वह अपने जीवन की बाजी लगा रहा है, अपने प्राणों को दाँव पर लगा रहा है। प्रश्न यह भी है कि हम उसके कौन हैं - माँ-पिता या अन्य नाते रिश्तेदार। वस्तुतः हम उसके कोई नहीं हैं परन्तु मनुष्य होने के नाते वह मेरा है और हम उसके हैं। यदि आज हमें कोई एक सूत्र में बाँध रहा है तो वह है मानवता। मानवता का यह भाव केवल बंगाल का नहीं है वरन् मानव मात्र का है। बंगाल के माँझी ने जो यह मानवता का भाव दिखलाकर हमारी रक्षा की है वस्तुतः वह भाव, वह मानवता सभी के लिए स्पृहणीय है।

विशेष

लेखक बंगाल की अपराजित जिजीविषा का वर्णन यहाँ करता है। माँझी का धर्म अपने पर निर्भर व्यक्तियों की रक्षा करना है और यह धर्म मानव मात्र का भी है, यह भाव भी यहाँ व्यक्त हैं। मनुष्य आपस में किसी जाति-धर्म के आधार पर नहीं वरन् मानवता के आधार पर सम्बद्ध है यह मानवता का सूत्र एक मजबूत सूत्र है। प्रस्तुत अंश की भाषा सहज, सरल एवं प्रभावशाली है। चण्डीदास की उक्ति के माध्यम से लेखक मानवता के भाव को सर्वोपरि ठहराता है।

भोलाराम का जीव

(हरिशंकर परसाई)

– डॉ. मंजुला मोहन

लेखक-परिचय

हरिशंकर परसाई उन रचनाकारों में अग्रणी हैं जिन्होंने साहित्य की प्रचलित विधा की मर्यादा तोड़कर लिखना आरम्भ किया। परसाई जी व्यंग्य लेखक हैं। चारों ओर के समाज में फैले पाखंड, अन्याय, विद्रूप, अनुपातहीनता, विषमता, दमन, शोषण, छल, स्वार्थपरता, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेदभाव और इस तरह की दूसरी विकृतियों के कारण परसाई जी को व्यंग्य की अपार सामग्री प्राप्त हुई। पहले वे संवेदनशील कवि थे। आज भी जबलपुर में बहुत से लोग उन्हें 'कविजी' के नाम से याद करते हैं। जीवन की विकृतियों को उन्होंने सिर्फ देखा न था, झेला भी था। अपने 'गर्दिश के दिन' याद करते हुए उन्होंने लिखा था, ''गर्दिश को फिर याद करने, उसे जीने में दारुण कष्ट है।'' (आँखन देखी, सं. कमला प्रसाद, 1981. पृ. 24) यह दुख की सच्चाई है। 12-13 साल के थे, तभी गाँव में प्लेग आया। उनके परिवार के अलावा बाकी सभी लोग जंगल में भाग गये। परिवार पर गर्दिश आयी, ''पाँच भाई-बहनों में माँ की मृत्यु का अर्थ मैं ही समझता था–सबसे बड़ा था।''(उपर्युक्त. पृ. 25) पिता टूट गये। धंधा ठप्प हो गया। किसी तरह मैट्रिक पूरी हुई। जंगल विभाग से लेकर स्कूल मास्टरी तक तरह-तरह की नौकरियाँ की। थोड़ी तनख्वाहें और परिवार की भारी जिम्मेदारियाँ। मन के अनुकूल वातावरण मिल जाता तो 'गर्दिश' क्यों होती। फाके भी किये। बेटिकट यात्राएँ भी कीं। उधार भी लिये। 'भीख' भी माँगी। बेझिझक चाहे जितने हो गये हों, बेशर्म नहीं हुए। उनके संवेदनशील मन पर जीवन के जो कठोर आघात लगे, उनके अनुभव-कोष में संचित हो गये। अपने कठिन संघर्षो के कारण सफल गृहस्थ बनना तो दूर, वे गृहस्थ भी न बन पाये। अविवाहित परसाई जी अपनी बहन और भांजों के ही साथ रहते थे।

वर्तमान समाज के अंतर्विरोधों को, उससे मिलने वाली यंत्रणा को अत्यंत निकट से, घुटन और पीड़ा के साथ, अनुभव कर लेने के कारण परसाई जी के लेखन में व्यंग्य का ऐसा पैनापन उभर कर आया है कि उनके प्रहार से आहत व्यक्ति उनसे शत्रुवत व्यवहार तक कर बैठता है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। एक राजनैतिक दल के नेताओं के जीवन दर्शन और व्यवहार के अंतर्विरोध पर उन्होंने 'जनयुग' साप्ताहिक में एक लेख प्रकाशित किया था, जिस पर कुपित होकर उस दल के कुछ कार्यकर्त्ताओं ने उनके निवास पर जाकर उन्हें लाठियों से पीटा था। साहित्यजगत में इसकी बड़ी तीखी प्रतिक्रिया हुई। स्वयं जबलपुर में, बरसते पानी के बावजूद हजारों नागरिक शाम होते-होते उनके घर पर एकत्र हो गये। इस सार्वजनिक भर्त्सना से घबराकर उस दल के अधिकारी उनके पास पहुँचे और उन्होंने क्षमा माँगी, साथ ही यह भरोसा दिलाया कि आइंदा ऐसा नहीं होगा। परसाई जी आक्रमण के भय से दब जाने वाले न थे। उन्होंने स्वस्थ होने पर 'जनयुग' के अपने उसी स्तंभ में फिर एक लेख लिखा जिसमें नेताओं के फासिस्ट और सांप्रदायिक चरित्र पर और तीखे प्रहार किये। इससे यह पता चलता है कि परसाई जी अपनी बात के प्रति कुर्बानी देने को भी तैयार रहने वाले लेखक हैं। उनकी कथनी और करनी में फर्क नहीं है। कर्म और वचन की एकता ही परसाई जी के व्यक्तित्व और लेखन की गरिमा का प्रधान कारण है।

परसाई जी ने लिखना क्यों शुरू किया, इस बारे में उनका यह कथन ध्यान देने लायक है, ''मेरा अनुमान है मैंने लेखन को दुनिया से लड़ने के लिए एक हथियार के रूप में अपनाया। दूसरे, इसी में मैंने अपने व्यक्तित्व की रक्षा का रास्ता देखा। तीसरे, अपने को अवशिष्ट होने से बचाने के लिए मैंने लिखना शुरू कर दिया।'' (उप. पृ. 28) यह बात शुरू-शुरू में पूरी तरह सच रही होगी। परंतु, इससे एक और चीज ध्वनित होती है।

परसाई जी के लिए लेखन केवल लड़ाई का हथियार नहीं था, आत्मरक्षा का और आत्मविकास का एक माध्यम भी था। परसाईजी मूलतः व्यंग्य लेखक है। व्यंग्य को आमतौर पर ध्वंसात्मक विधा मान जाता है–अच्छे उद्देश्य के लिए भी व्यंग्य केवल बुरी चीजों को देखता है, उसका ध्यान सिर्फ उन्हीं बातों पर जाता है जिनका विरोध करना है। परसाई जी व्यंग्य को सकारात्मक वस्तु मानते हैं, नकारात्मक नहीं। उनका कहना है, ''व्यंग्य लेखक यही तो बताता है कि समाज में यह बुरा है, यह असंगत है, यह अकल्याणकारी है। वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि वह दुखी है कि इतना बुरा क्यों हुआ? वह एक बेहतर मनुष्य, एक बेहतर समाज-व्यवस्था के प्रति आस्था रखता है।'' (उप. पृ. 34) एक संवेदनशील मनुष्य जिन आदर्शों को साकार देखना चाहता है, उनके विपरीत जीवन-परिस्थितियाँ हों तो संघर्ष के लिए आगे बढ़ता है। परसाईजी का संघर्ष-उनका व्यंग्य लेखन–इसी भावभूमि से उत्पन्न हुआ है। उसकी भूमिका जितनी ध्वंसात्मक है, उतनी ही रचनात्मक है।

परसाईजी के व्यंग्य लेखों को न कहानी कहा जा सकता है, न निबंध। उनमें कहानी के गुण भी मिल जायेंगे, निबंध के भी और रेखाचित्र के भी। लेकिन वे इनमें से किसी भी विधा की परंपरागत मर्यादा में नहीं बंध पायेंगे। इन लेखों को अगर कोई नाम देना ही हो तो इन्हें केवल 'व्यंग्य' कह सकते हैं। व्यंग्य लेखक के रूप में परसाईजी को हिंदी और विदेशी भाषाओं की एक लंबी परंपरा विरासत में मिली है। उदाहरण के लिए भारत के कबीर और बालकृष्ण भट्ट, अमरीका के मार्क ट्वेन और रूस के अन्तोन चेखव को लें। कबीर कवि हैं, भट्ट जी निबंधकार, मार्क ट्वेन उपन्यासकार हैं और चेखव कहानीकार। व्यंग्य इन सभी में बड़ा प्रखर है। किंतु यह व्यंग्य स्वतंत्र विधा न होकर कविता, कहानी, निबंध या उपन्यास विधा के भीतर ही है। परसाईजी ने इन से व्यंग्य की कला सीखी। उन्होंने यह भी देखा कि व्यंग्य की अभिव्यक्ति निबंध और कविता में हो सकती है, कहानी और उपन्यास में भी, व्यंग्य किसी एक विधा पर निर्भर नहीं है। इससे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि व्यंग्य को इन विधाओं से बाहर भी लाया जा सकता है, विधाओं का पालन किये बिना भी व्यंग्य लिखा जा सकता है।

व्यंग्य के क्षेत्र में परसाईजी ने तरह-तरह के प्रयोग किये। कहानी, डायरी, निबंध, पैरोडी, रेखाचित्र, संस्मरण, टिप्पणी, स्वप्न-कथा आदि विभिन्न रूपों में उन्होंने व्यंग्य लिखे और साथ ही इन तत्त्वों को एक-दूसरे में घुला-मिलाकर व्यंग्य लेखन की अनेक शैलियों के प्रयोग किये। शुरू-शुरू में उनकी ये रचनाएँ पत्रिकाओं में छपती तक न थी। परंतु उन्हें अपनी कला पर दृढ़ विश्वास था। परसाई जी अकारण कहा करते हैं कि ब्राह्मण पत्रिकाएँ अपनी पांत में शूद्र व्यंग्य को नहीं बैठने देती हैं। किन्तु अपने संघर्ष की महत्ता पर, अपने न्यायपूर्ण उद्देश्य पर परसाई जी का अडिग विश्वास था। इसलिए 'ब्राह्मण' पत्रिकाएँ उनके 'अछूत' व्यंग्य का तिरस्कार करके भी उन्हें अपने पथ से विचलित न कर सकीं। उल्टे, आज यह स्थिति है कि जिस पत्रिका में व्यंग्य लेख नहीं होते, उसकी पाठक माँग नहीं करते हैं, जिस पत्रिका में व्यंग्य लेख होते हैं, उसे पाठक सबसे पहले पढ़ते हैं, और इसीलिए व्यंग्य लेखकों की आज एक लम्बी कतार हिन्दी में बन गयी है। इस तरह, परसाई जी ने अपनी कला की शक्ति से न सिर्फ अपना स्थान साहित्य में बनाया, बल्कि उन्होंने जिस विधा या शैली को अपनाया, उसे भी साहित्य में प्रतिष्ठित कर दिया।

ऊपर से देखने पर व्यंग्य बड़ा आक्रामक लगता है। उसका प्रहार ऐसा जान पड़ता है जैसे सामने खड़े व्यक्ति पर चाबुक की मार पड़ रही है। व्यंग्य से इस आक्रामकता को निकाल दीजिए। वह सस्ता और भौंडा हास्य बनकर रह जायेगा। पति-पत्नी या स्त्री-पुरुष को लेकर लिखे गए अधिकांश 'व्यंग्य' इसी फूहड़ हास्य की कोटि के हैं। व्यंग्य की आक्रामकता का एक पहलू वह है जहाँ उसकी चोट पड़ती है। लेकिन इस आक्रामकता का दूसरा पहलू वह है जहाँ से चोट की जाती है। परिष्कृत या साहित्यिक व्यंग्य में जितना महत्त्व व्यंग्य के लक्ष्य का है (जिस पर चोट की जा रही है, उसका है), उतना ही महत्त्व इस बात का भी है कि चोट किस तरह से और किस ढंग से और किस उद्देश्य से की जा रही है। कबीरदास हों या मार्क ट्वेन या अन्तोन चेखव, किसी भी विश्वविख्यात साहित्यकार ने व्यंग्य को हमेशा शत्रु के चाबुक की तरह नहीं चलाया है; वे विवेक के अकेले ठेकेदार बनकर

बाकी सबको ललकारने, दुत्कारने वाले अहंकारी की तरह पेश नहीं आये। उन्होंने मनुष्य में, उसके विवेक में, उसके संघर्ष में और उसके सुखमय भविष्य में गहरी आस्था प्रकट की है। जो भी व्यक्ति, घटना या प्रवृत्तियाँ मनुष्य और मनुष्यता के विरोध में हैं, उन्हें इन रचनाओं ने अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है।

अकारण नहीं है कि हरिशंकर परसाई ने अनेक पत्रिकाओं में 'कबीरदास' नाम से या कबीर की कोई पंक्ति चुनकर अपने कालम लिखे। कबीर की ही तरह परसाई जी की दिलचस्पी भी इस बात से है कि जनता की विरोधी शक्तियाँ कमजोर हों, जनता की वास्तविक संस्कृति, प्रेम, भाईचारे और समानता की संस्कृति सुदृढ़ हो। परसाई जी की ही तरह मार्क ट्वेन और अन्तोन चेखव भी धनी, कुलीन, अत्याचारी वर्गों के जीवन और संस्कृति पर निमर्म प्रहार करते हैं; जनता से गहरी हमदर्दी रखते हैं।

परसाईजी यह बार-बार कहते हैं कि अनुपात-बोध, पीड़ित जनों से सहानुभूति, मनुष्य में भरोसा आदि ऐसे गुण हैं जिन्हें अपनाये बिना कोई व्यंग्य नहीं लिख सकता। इन गुणों के बिना जीवन के उन मार्मिक स्थलों को पहचाना ही नहीं जा सकता जो व्यंग्य के लिए आधार और सामग्री प्रदान करते हैं। दरअसल, व्यंग्य पैदा ही तब होता है जब जीवन में असंतुलन, असमानता, असंगति, विद्रूप, कटुता, गलाकाट प्रतिस्पर्धा, अनुशासनहीनता और असामंजस्य आदि के दर्शन होते हैं। अगर सभी चीजें सही तरीके से चलें, कहीं कोई खोट न हो तो मजाक हो सकता है, हास्य हो सकता, व्यंग्य नहीं हो सकता। यह सही है कि व्यंग्य के साथ हास्य को मिला देने से व्यंग्य की पठनीयता और प्रभाव में वृद्धि हो जाती है; पर व्यंग्य का गुण है मार्मिक चोट करना और चोट उसी पर की जाती है जो गलत हो, इतिहास और मानवता के विरुद्ध हो। यही कारण है कि श्रेष्ठ व्यंग्य लेखक सदैव जनतांत्रिक विचारधारा से लैस होते हैं। परसाई जी जनतांत्रिक विचारधारा के सबसे उन्नत रूप—मार्क्सवाद—को अंगीकार करने वाले लेखक हैं। उनका यह विश्वास सर्वथा उचित है कि विचारधाराविहीन लेखक व्यंग्य नहीं लिख सकते। परसाई जी के अनन्य मित्र और राष्ट्रवादी पत्रकार श्री मायाराम सुरजन ने ठीक कहा है कि परसाई जैसी ''विषम परिस्थितियों में रहकर कोई भी सोचने-समझने वाला आदमी मार्क्सवादी हो ही जायेगा।'' (आँखन देखी, पृष्ठ—59)

सार

'भोलाराम का जीव' भोलाराम नाम के एक ऐसे जीव की कथा है जो मृत्यु के बाद यमदूत की पर्याप्त सावधानी के बावजूद यमराज के दरबार में नहीं पहुँच पाता। धर्मराज, चित्रगुप्त और यमदूत—सभी इस नयी समस्या से परेशान हैं क्योंकि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। इस नयी स्थिति पर सोच-विचार करते हुए वे अनुमान लगाते हैं कि आजकल पृथ्वीलोक में भ्रष्टाचार और राजनैतिक दाव-पेंचों का बोलबाला है, कहीं भोलाराम की आत्मा भी तो इन दाव-पेंचों की शिकार नहीं हो गयी। परंतु यह अनुमान निराधार प्रतीत होता है क्योंकि वह किसी प्रभावशाली व्यक्ति की आत्मा नहीं थी, वह तो एक अतिसामान्य नागरिक की आत्मा थी जिससे किसी का भी स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता था। इस विचार-विमर्श के दौरान नारद जी का प्रवेश होता है। वे इस विचित्र समस्या के समाधान हेतु जाँच-पड़ताल का दायित्व लेते हैं और भोलाराम का नाम-पता पूछकर उसकी खोज में पृथ्वी पर आ जाते हैं। सर्वप्रथम वे भोलाराम के घर पहुँचते हैं—इस आशा से कि संभवतः किसी ऐसे स्रोत का पता लग सके जिसके प्रति भोलाराम का मोह हो और उसकी आत्मा वहीं अटक गयी हो। बातचीत से उन्हें मोह का कारण तो ज्ञान नहीं हुआ बस यही पता लग पाया कि सरकारी दफ्तर से रिटायर होने के पाँच वर्ष बाद भी उनकी पेंशन नहीं मिल सकी। उसे पाने के लिए वे निरंतर प्रयत्न करते रहे परंतु सब व्यर्थ। नियमित आय के अभाव में भूखों मरने की नौबत आ गयी। भोलाराम की पत्नी नारद जी से आग्रह करती है कि वे ही उसकी पेंशन के लिए प्रयत्न करें जिससे कि उसके परिवार का पेट भर सके। नारद जी सरकारी दफ्तर में जाते हैं जहाँ कि भोलाराम की पेंशन की फाइल रुकी पड़ी थी। दफ्तर के कर्मचारियों से ज्ञात हुआ कि भोलाराम की अर्जियों पर इसलिए निर्णय नहीं लिया जा सका था कि उन पर वजन नहीं रखा गया था अतएव वे हवा में उड़ गयीं। दफ्तर में इतने सारे पेपरवेट रखे होने के बावजूद वजन न रखने के कारण भोलाराम की दरख्वास्तें उड़ने की बात नारद जी की समझ में नहीं आती। वे बड़े साहब से मिलते हैं। वे संकेतों से नारद जी को 'पेपरवेट' का अभिप्राय

समझाने का प्रयत्न करते हैं और अंत में नारदजी की वीणा को ही वज़न की भाँति रखने की बात कहते हैं। नारद जी के सहमत होते ही बड़े साहब भोलाराम की फाइल मँगाते हैं। भोलाराम का जीव उसी फाइल में है। अपना नाम सुनकर वह समझता है कि शायद उसकी पेंशन के आदेश लेकर डाकिया आ गया है। नारदजी उसे समझाते हैं कि वे उसे स्वर्ग ले जाने के लिए आए हैं। परंतु भोलाराम के जीव के लिए स्वर्ग का कोई आकर्षण नहीं क्योंकि उसका मन तो अपने पेंशन के कागज़ों में ही अटका है, अत: वह नारदजी के साथ जाने से इन्कार कर देता है।

प्रतिपाद्य

हरिशंकर परसाई की रचनाएँ दिन-प्रतिदिन के जीवन में घटने वाली घटनाओं और जीवन के विविध क्षेत्रों में व्याप्त अंतर्विरोधों की पड़ताल और पहचान कराती है। परसाई जी को 'वर्तमानता का रचनाकार' कहा जाता है। वे प्रसंग और घटनाएँ, वे लोग, वे स्थितियाँ जो अभी तक साहित्य की दुनिया से बाहर रखी जाती रही थीं, परसाईजी उन्हीं की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। 'भोलाराम का जीव' नामक इस रचना का मुख्य विषय-भ्रष्टाचार भी हमारे जीवन की एक ऐसी ही समस्या पर आधारित है जिससे हममें से अधिकांश को कभी न कभी किसी न किसी रूप में जूझना ही पड़ता है। यह भ्रष्टाचार किसी एक स्तर पर नहीं, पूरी की पूरी व्यवस्था में व्याप्त है। चपरासी से लेकर बड़े-बड़े अफसर तक इसमें लिप्त हैं। और किसी विषय पर उनके विचार मिलें न मिलें, परंतु इस मामले में उनका पारस्परिक सहयोग देखते ही बनता है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर करना प्रस्तुत रचना का लक्ष्य है। यह एक प्रकार का संक्रामक रोग है जिसके प्रकोप को हम सभी को किसी न किसी रूप में झेलना पड़ता है। यह रोग रेल-डाक विभाग में है, सार्वजनिक क्षेत्रों में है, राजनीति में है, कोई भी तो इससे अछूता नहीं–''महाराज, आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को कुछ चीज़ भेजते हैं और उसे रास्ते में ही रेलवे वाले उड़ा लेते हैं। होजरी के पार्सलों के मोजे रेलवे के अफसर पहनते हैं। मालगाड़ी के डिब्बे रास्ते में कट जाते हैं। एक बात और हो रही है। राजनीतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ा कर बंद कर देते हैं।''

''...नरक में पिछले सालों में बड़े गुणी कारीगर आ गये हैं। कई इमारतों के ठेकेदार हैं, जिन्होंने पूरे पैसे लेकर रद्दी इमारतें बनाई। बड़े-बड़े इंजीनियर भी आ गये हैं, जिन्होंने ठेकेदारों से मिलकर पंचवर्षीय योजनाओं का पैसा खाया। ओवरसीयर हैं, जिन्होंने उन मजदूरों की हाजिरी भर कर पैसा हड़पा, जो कभी काम पर गये ही नहीं।'' इस भ्रष्टाचार का सबसे भयंकर रूप पेंशन-विभाग में देखने को मिलता है। साधारण नौकरी पेशा व्यक्ति जीवन भर इस आशा में काम करता है कि उसके अशक्त होने पर बुढ़ापे में पेंशन का ही सहारा होगा। परंतु बिना रिश्वत दिये उसे पेंशन मिल नहीं पाती और वह भूखों मरने पर विवश हो जाता है।

वस्तुत: परसाई जी की अन्य रचनाओं की भाँति ही 'भोलाराम का जीव' स्वात™योत्तर भारत में उभरी विसंगतियों का चित्र है। स्वतंत्रता के पश्चात् मूल्य तिरोहित होने लगे, धन-पद और प्रतिष्ठा की होड़ बढ़ गयी, राजनीति और अपराध का गठबंधन हो गया। देश के विकास के नाम पर अनेक योजनाएँ बनीं, राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों और अफसरों की तिजोरियाँ भरने लगीं। परंतु आम आदमी का जीवन कठिन से कठिनतर होता गया। लेखक संकेत करता है कि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। स्वतंत्रता से पूर्व आम आदमी सपना देखता था खुशहाली का, प्रगति का, विकास का। स्वप्न-भंग की स्थिति तो स्वतंत्रता के बाद ही उत्पन्न हुई है। मूल्यों में बदलाव, अमानवीय और क्रूर दृष्टिकोण-ये सभी स्थितियों और व्यवस्था की देन हैं जिनसे सब त्रस्त हैं। भोलाराम इस आम आदमी का ही प्रतिनिधि है जो मृत्युपर्यन्त पेंशन के लिए भटकता है और मरने के बाद उसकी आत्मा भी वहीं भटकती रह जाती है। यथार्थ जीवन की इन समस्याओं ने उसे अपने पाश में इस प्रकार जकड़ लिया है कि मरणोपरान्त भी उनसे छुटकारा संभव नहीं। यमदूत के पाश से वह बच निकलता है परंतु सरकारी तंत्र की जकड़ से मुक्ति का कोई उपाय नहीं। साधु-सन्त भी इन परिस्थितियों में निरूपाय हैं। जब येन-केन-प्रकारेण अर्थ की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य बन जाए तो जीवन-मूल्य अपनी अर्थवत्ता खो देते हैं। विकास और प्रगति की बातें सिर्फ कागजों

पर ही रह जाती है और भोलाराम जैसे लोग और उनके परिवार हताशा और भूख से तड़पते रह जाते हैं। लेखक की सहानुभूति स्पष्टतया इस आम आदमी के प्रति ही है। चतुर्दिक् व्याप्त इस भ्रष्टाचार का कोई समाधान लेखक ने प्रस्तुत नहीं किया और इसका कोई निश्चित समाधान है भी नहीं। मूल्य दृष्टि में परिवर्तन से ही यह समस्या उत्पन्न हुई है और उसी परिवर्तन में ही इसका उपाय भी निहित है। दृष्टि में बदलाव के द्वारा ही व्यवस्था में भी परिवर्तन लाया जा सकता है।

शिल्प

हरिशंकर परसाई की सभी रचनाएँ व्यंग्यात्मक हैं–चाहे वे निबंध हों, कहानी, संस्मरण या रेखाचित्र, या इन सभी विधाओं का मिला-जुला रूप। व्यंग्य का मुख्य सिद्धान्त है–छद्म को बेनकाब करना और सत्य को प्रोत्साहन देना। सामाजिक विसंगतियों-विद्रूपताओं को देखकर व्यंग्यकार भावुक और करुणा-विगलित नहीं होता बल्कि अपने व्यंग्य के हथियार के साथ अखाड़े में कूदता है, उन विसंगतियों पर आघात करता है, उन के मूल कारणों की पड़ताल करता है। उसका सारा ध्यान इस बात पर केद्रित रहता है कि उसका तीर लक्ष्य को बेध रहा है या नहीं, रचना के कलापक्ष से वह उदासीन ही रहता है। लक्ष्य के अनुसार उनकी रचनाएँ स्वतः रूप-आकार ग्रहण करती जाती हैं। इसीलिए परसाईजी की रचनाएँ कभी निबंध के समीप होती हैं, कभी कहानी के, और कभी रेखाचित्रों व संस्मरणों की आत्मीयता से संयुक्त होती हैं। एक वक्तव्य में उन्होंने लिखा था : ''मैं इसलिए लिखता हूँ कि एक तो मैं स्वयं मनुष्य को, अपने समाज को और दुनिया को समझना चाहता हूँ। मैं इसलिए लिखता हूँ कि व्यक्ति और समाज आत्मसाक्षात्कार और आत्मालोचना करे और अपनी कमजोरियाँ, बुराइयाँ, विसंगतियाँ, विवेकहीनता, न्यायहीनता त्याग कर जैसा वह है, उससे बेहतर बने, वह अंधविश्वासों, झूठी मान्यताओं, अवैज्ञानिक आग्रहों और आत्मघाती रूढ़ियों से मुक्त हो। वह न्यायी, दयालु और संवेदनशील हो।'' ''भोलाराम का जीव' एक ऐसी ही व्यंग्य रचना है जिसमें एक मनुष्य की आत्मा के लुप्त हो जाने की घटना के माध्यम से शासकीय व्यवस्था, घूसखोरी, जड़ता और यथार्थ का उद्घाटन किया गया है। शिल्प की दृष्टि से यह कहानी के अधिक समीप है।

कथा विन्यास

प्रस्तुत रचना दो खंडों में है। पहले खंड में यमलोक में मची अफरा-तफरी का वर्णन है। धर्मराज, चित्रगुप्त, यमदूत-सभी परेशान हैं क्योंकि भोलाराम की आत्मा यमदूत के हाथ से फिसल कर कहीं गायब हो गयी है। इस नितान्त नवीन समस्या पर विचार-विमर्श करते हुए मर्त्यलोक की परिस्थितियों का अंकन है जहाँ भ्रष्टाचार उसका मूल चरित्र बन चुका है। नारद जी के सम्मुख यह समस्या प्रस्तुत होती है और वे भोलाराम के जीवन की खोज के लिए पृथ्वी पर जाने का निश्चय कर लेते हैं। यह खंड वस्तुतः मुख्य घटना की पृष्ठभूमि है। कहानी की मुख्य घटना है भोलाराम के जीव का मरणोपरान्त लुप्त हो जाना, इसका कारण है पेंशन न पाने की यंत्रणा, और इस छटपटाहट का कारण है सर्वत्र व्याप्त भ्रष्टाचार। इस भ्रष्टाचार के संकेत कथा के पहले खंड में दे दिये गये हैं। इन संकेतों का विस्तार कथा के दूसरे खंड में हुआ है। पृथ्वीलोक पर पहुँचने के पश्चात् नारदजी को भोलाराम के कष्ट का ज्ञान होता है। उसके परिवार की सहायता के लक्ष्य से वे पेंशन दफ्तर पहुँचते हैं और वहाँ पहुँच कर उन्हें दिखाई देते हैं 'वजन' के लिए लालायित छोटे-बड़े कर्मचारी, वज़न के अभाव में उड़ रहीं फाइलें और उन फाइलों में दबा भोलाराम का जीव। जैसे-तैसे नारद जी की वीणा वज़न के रूप में उपयोग में लाई जाती हैं, फाइल बाहर निकलती है, साथ ही भोलाराम के जीव के मन में पेंशन पाने की आशा जगती है और वह नारदजी के साथ स्वर्ग जाने का प्रस्ताव ठुकरा देता है। यहीं कहानी समाप्त हो जाती है। इसकी बनावट में कहीं कोई जटिलता नहीं। घटनाओं की अपेक्षा स्थितियों के वर्णन पर अधिक ध्यान दिया गया है। कहानी का आरंभ कौतूहलजनक तो है ही–''ऐसा कभी नहीं हुआ था।'' नाटकीय और प्रतीकात्मक भी है। ऐसा क्या था जो अब से पहले नहीं हुआ था–इसका उत्तर पाठकों को आगे धर्मराज आदि की चिंता के वर्णन से ज्ञात होता है। इसी प्रकार कहानी का अंत भी नाटकीय है। पेंशन की फाइल निकलने के बाद लगता है कि अब समस्या का समाधान हो गया, अब तो भोलाराम के जीव को मुक्ति मिल ही जाएगी। परंतु नारदजी के साथ स्वर्ग जाने के प्रस्ताव

को ठुकरा देने से पाठक को फिर झटका सा लगता है। इतने समय तक भटकते रहने से भोलाराम का विश्वास इन सरकारी अफसरों और उनके आश्वासनों से उठ चुका है इसलिए जब तक काम हो न जाए वह कहीं नहीं जाना चाहता–''आवाज़ आई–मुझे नहीं जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तों में अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मैं अपनी दरख्वास्तों को छोड़कर नहीं जा सकता।

सूक्ति-प्रयोग

'भोलाराम का जीव' में स्थान-स्थान पर सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। ये सूक्तियाँ लेखक के विशद अनुभवों और गहन संवेदनशीलता की देन हैं। मकान-मालिक की व्यवसायी प्रवृत्ति को लक्ष्य करके वे लिखते हैं–''मकान का किराया उसने एक साल से नहीं दिया, इसलिए मकान-मालिक उसे निकालना चाहता था। ... बहुत संभव है कि अगर मकान-मालिक वास्तविक मकान-मालिक है तो उसने भोलाराम के मरते ही उसके परिवार को निकाल दिया होगा।'' इसी प्रकार अन्यत्र भी–''गरीबी की बीमारी थी''।

x x x

''साधुओं की बात कौन मानता है? मेरा यहाँ कोई मठ तो है नहीं।''

इस प्रकार की पंक्तियाँ समाज के विविध वर्गों की मनोवृत्तियों, और आमजन की व्यथा, समस्याओं और छटपटाहट को और तीखेपन से व्यक्त करती हैं।

पौराणिक मिथक–परसाई जी ने अपनी अनेक रचनाओं में पौराणिक मिथकों का प्रयोग किया है। परंतु इन मिथकों का प्रयोग उनके परंपरागत रूप में नहीं वरन् नये संदर्भों में, वर्तमान की समस्याओं और स्थितियों के संदर्भ में है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में ''परसाई पौराणिक पात्रों को वर्तमान समस्याओं से भिड़ा देते हैं। मिथक अपने आप चकनाचूर हो जाते हैं।'' (देश के इस दौर में, पृ. 29) प्रथम दृष्टि में 'भोलाराम का जीव' भी पौराणिक परिवेश में लिखी गयी कहानी प्रतीत होती है, किंतु शीघ्र ही वह वर्तमान की गाथा बन जाती है। धर्मराज, चित्रगुप्त, यमदूत, नारद-ये सभी पौराणिक पात्र हैं परंतु परसाई जी उनके पौराणिक चरित्र के साथ वर्तमानकालिक संदर्भ जोड़ देते हैं। धर्मराज न्याय और धर्म के लिए प्रसिद्ध है, परंतु प्रस्तुत रचना में ''धर्मराज लाखों वर्षों से असंख्य आदमियों को कर्म और सिफारिश के आधार पर स्वर्ग या नरक में निवास-स्थान 'अलॉट' करते आ रहे थे।'' चित्रगुप्त जो सबके कर्मों का लेखा-जोखा रखने वाले माने जाते हैं, ऐसी स्थिति में उनके लेखे-जोखे का कोई मूल्य नहीं रह जाता। उन लोगों के पारस्परिक वार्तालाप में स्वात™योत्तर भारत की स्थितियों के संकेत हैं। रेलवे के अधिकारियों, राजनेताओं, ठेकेदारों, इंजीनियरों, ओवरसियरों, इन्कमटैक्स अधिकारियों, मकान मालिकों–इन सभी के आचरण पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। छल-छद्म में प्रवीण वकील जिन यमदूतों के पाश से नहीं छूट पाते, उनसे भोलाराम जैसे साधारण व्यक्ति का जीव कैसे छूट गया? राजनेता अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए विरोधी दलों के नेता को गायब करा देते हैं, कहीं उसी प्रकार का षड्यंत्र तो नहीं? रेलवे के कर्मचारियों, ठेकेदारों, इंजीनियरों आदि के भ्रष्ट आचरण से देश में नारकीय स्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं और ऐसे ही लोगों की अधिकता ने नरक में निवास की समस्या खड़ी कर दी है। पेंशन विभाग के कर्मचारी और अधिकारीगण भ्रष्ट शासकीय व्यवस्था के प्रतिनिधि पात्र हैं और पेंशन की फाइलों में दबा भोलाराम का जीव और उसकी मृत्यु से शोकग्रस्त उसकी पत्नी आम आदमी का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र हैं जो इस भ्रष्ट व्यवस्था में जैसे-तैसे जीने और मरने के लिए बाध्य हैं। ये यथार्थ जीवन के पात्र हैं। मिथकीय पात्रों का टकराव इन्हीं यथार्थपरक पात्रों से होता है। नारद जी का आगमन परलोक से हुआ है इसीलिए उन्हें इहलोक के इस भ्रष्ट वातावरण का आभास नहीं है। परन्तु यहाँ आकर वे भी इस भ्रष्टाचार का शिकार बन जाते हैं।

परसाईजी की अधिकांश रचनाएँ आकार में लघु होती हैं, अधिक से अधिक दो-तीन पृष्ठों की। पाठक जब पढ़ना आरंभ करता है तो वे बड़ी सहज, हल्की-फुल्की प्रतीत होती हैं। अंत तक पहुँचते-पहुँचते वह कभी मुस्कुराता है, कभी घृणा से भर उठता है, कभी क्रोध से तिलमिलाता है और कभी जिज्ञासावश आगे पढ़ने के लिए व्याकुल

हो जाता है। जैसे ही रचना समाप्त होती है, पाठक को एक झटका सा लगता है, वह समूची परिस्थितियों के प्रति सोचने को विवश हो जाता है। यही व्यंग्य की सफलता है जो परसाईजी को अन्य व्यंग्यकारों से अलग करके उनके व्यंग्य को गंभीर और पैना बनाता है। 'भोलाराम' का जीव में भी मनोभावों का यह संश्लेषण दिखाई पड़ता है। रचना की आरंभिक पंक्ति 'ऐसा कभी नहीं हुआ था।' पाठकों को कौतूहल से भर देती है। जो पहले नहीं घटी थी, उस घटना का ज्ञान होने पर आश्चर्य और हास्य की अनुभूति होती है। परंतु धीरे-धीरे जब वह मूल विषय–चतुर्दिक् व्याप्त भ्रष्टाचार और भोलाराम के जीव के भटकने का कारण जानता है तो व्यवस्था के प्रति आक्रोश का भाव उत्पन्न होता है। इस आक्रोश के उत्पन्न होते ही रचना समाप्त हो जाती है। यह मारक क्षमता ही प्रस्तुत रचना की शक्ति है।

भाषा–परसाईजी अपनी रचनाओं का विषय दिन-प्रतिदिन के जीवन से उठाते हैं। जिन लोगों की समस्याओं का चित्रण वे करते हैं वे लोग भी प्राय: अति साधारण होते हैं जो व्यवस्था के द्वारा मारे हुए हैं, जो स्वप्न देखते हैं परंतु उन्हें पूरा होते नहीं देख पाते, जो परिश्रम करते हैं परन्तु उसका अभीष्ट फल प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसे सामान्य जनों की समस्याओं और उनके जीवन को उन्हीं की सी सीधी-सादी भाषा में अभिव्यक्त किया जा सकता है, और परसाईजी ने ऐसा ही किया है। 'भोलाराम का जीव' की भाषा भी ऐसी ही सामान्य बोलचाल की है। यमलोक के मिथकीय वातावरण में संस्कृत गर्भित-क्लिष्ट भाषा के प्रयोग की गुंजाइश हो सकती थी, परंतु यहाँ भी लेखक की प्रवृत्ति उससे बचने की है। आवरण भले ही मिथकीय हो, परिस्थितियाँ उनमें भी वास्तविक ही हैं। इस पूरे प्रसंग में वार्तालापों के माध्यम से वकीलों की चालाकी, रेल-कर्मचारियों के आचरण, राजनैतिक उठा-पटक, इंजीनियरों, ठेकेदारों की धोखाधड़ी, पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा विकास का नाटक-इन सब पर टिप्पणियाँ हैं। वास्तविक समस्याओं की अभिव्यक्ति कृत्रिम भाषा से नहीं हो सकती थी। नारदजी के पृथ्वीलोक आने पर तो उनका साक्षात्कार भारत के आम आदमी के वास्तविक जीवन से होता ही है, अत: उस प्रकरण में भी बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ–''आप हैं बैरागी। दफ्तरों के रीति-रिवाज नहीं जानते। असल में भोलाराम ने गलती की। भई, यह भी एक मंदिर है। यहाँ भी दान-पुण्य करना पड़ता है। आप भोलाराम के आत्मीय मालूम होते हैं। भोलाराम की दरख़्वास्ते उड़ रही है, उन पर वज़न रखिए।''

बिंब योजना

'भोलाराम का जीव' परसाईजी की बिंब विधायिनी क्षमता का उत्कृष्ट उदाहरण है। ये बिंब कभी पात्रों के मनोभावों को अभिव्यक्त करते हैं, कभी स्थितियों का स्पष्टीकरण करते हैं। इसके लिए कभी वे पात्रों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का सहारा लेते हैं, कभी ध्वनियों का। निम्नांकित उद्धरण में चित्रगुप्त की खीझ की अभिव्यक्ति हुई है–''सामने बैठे चित्रगुप्त बार-बार चश्मा पोंछ, बार-बार थूक से पन्ने पलट रजिस्टर पर रजिस्टर देख रहे थे। गलती पकड़ में नहीं आ रही थी। आखिर उन्होंने खीझकर रजिस्टर इतने जोर से बंद किया कि मक्खी चपेट में आ गई।'' ऐसा ही एक दृश्य बिंब सरकारी कार्यालयों की कार्यपद्धति और वहाँ के कर्मचारियों की मनोवृत्ति स्पष्ट करता है–''नारद बड़े साहब के कमरे में पहुँचे। बाहर चपरासी ऊँघ रहा था, इसलिए उन्हें किसी ने छेड़ा नहीं। बिना 'विजिटिंग कार्ड' के आया देख साहब बड़े नाराज़ हुए। बोले–'इसे कोई मंदिर-वंदिर समझ लिया है क्या? धड़धड़ाते हुए चले आये। चिट क्यों नहीं भेजी ?'' ''माँ बेटी के सम्मिलित क्रंदन से ही नारद भोलाराम का मकान पहचान'' जाते हैं। इस शब्द बिंब के द्वारा लेखक ने भोलाराम के परिवार की शोकाकुलता को वाणी दी है।

अंतत: 'भोलाराम का जीव' श्री हरिशंकर परसाई की प्रतिनिधि रचनाओं में से एक है जिसके द्वारा हमें उनकी दृष्टि और सृष्टि–दोनों के दर्शन होते हैं। सतही तौर पर यह एक व्यक्ति की व्यथा-कथा दिखाई देती है जो भ्रष्टाचार की चक्की में पिस रहा है परंतु इस कथा के पीछे लेखक की ''मानवीय करूणा और उनका सामाजिक और पवित्र सुंदर गुस्सा सक्रिय है।'' यह 'करुणा और गुस्सा' सामाजिक यथार्थ के प्रति लेखक के सरोकारों का परिणाम है जो उनकी रचनाओं में झलकता है। राजनैतिक-सामाजिक जीवन की ये विदूपताएँ, विषमताएँ और

अमानवीयता परसाई जी की रचनाओं की वस्तु बनती है, और उसी के अनुसार उनका शिल्प निर्धारित होता है। 'भोलाराम का जीव' भी उनकी अन्य रचनाओं की भाँति स्वात™योत्तर भारत के सामाजिक यथार्थ की सशक्त प्रस्तुति है, जो पाठकों की आँख में अंगुली डालकर उन्हें वास्तविकता का बोध कराती है। परसाई जी के अखबारी कॉलमों के संदर्भ में लिखी ये पंक्तियाँ 'भोलाराम का जीव' के संबंध में भी सत्य प्रतीत होती हैं–'परसाई का यह लेखन दुनिया की मौजूदा समकालीन जटिलता में एक साहसिक सफर, एक हरावल दस्ता और एक कुतुबनुमा की शक्ल एक साथ अख्तियार कर लेता है। उसमें सतर्क बोध और आत्यंतिक मानव सह अनुभूति से उत्पन्न संवेदनात्मक आघातों की तल्ख और तात्कालिक सक्रियता होती है। वह ऐसा रचनात्मक साहित्य है जिसे ज्ञानात्मक साहित्य की तरह सही और गलत की कसौटी पर भी परखा जा सकता है और जो ईमानदारी और प्रामाणिकता की अंतर्क्रिया की आधुनिक अवधारणा पर भी खरा उतरता है।''–धनंजय वर्मा

स्मरणीय संकेत

1. स्वात™योत्तर भारत में उभरी विसंगतियों का चित्रण। हर क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, मूल्यों में बदलाव। आम आदमी की पीड़ा और छटपटाहट।
2. 'भोलाराम का जीव'–व्यंग्यात्मक रचना। लक्ष्य–छद्म को ध्वस्त कर सत्य का उद्घाटन।
3. 'भोलाराम का जीव'–कहानी विधा के अधिक समीप।
4. कथा-विन्यास–दो खंडों में। पहले खंड में मुख्य घटना और समस्या की पृष्ठभूमि, दूसरे खंड में मुख्य घटना की प्रस्तुति। आरंभ और अंत नाटकीय।
5. सूक्तियों का प्रयोग।
6. पौराणिक मिथकों का नये संदर्भों में प्रयोग।
7. रचना का आकार लघु।
8. भाषा विषयानुकूल, सीधी-सादी आम बोलचाल की।
9. उत्कृष्ट बिंब।

प्रश्न

1. 'भोलाराम का जीव' में निहित व्यंग्य को स्पष्ट कीजिए।
2. 'भोलाराम का जीव' के माध्यम से लेखक स्वात™योत्तर भारत के यथार्थ को स्पष्ट करना चाहता है।–इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. 'भोलाराम का जीव' में परसाई जी ने पौराणिक मिथकों को वर्तमानकालिक संदर्भों में प्रयुक्त किया है। –इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. 'भोलाराम का जीव' की शिल्पगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

सूखी डाली

(उपेन्द्रनाथ अश्क)

– डॉ. बृज किशोर वशिष्ट

लेखक परिचय

उपेन्द्र नाथ अश्क का जन्म 14 दिसंबर 1910 में पंजाब के जालंधर शहर में हुआ। इनके पिता का नाम श्री माधोराम था और वे रेलवे में स्टेशन मास्टर के पद पर कार्य करते थे। अश्क के छह भाई थे। ये बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि थे। जालंधर से ही बी.ए. तक की शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन्होंने 1931 में अध्यापन कार्य आरंभ किया। सन् 1933 में अध्यापन से त्यागपत्र देकर इन्होंने 'भूचाल' नामक साप्ताहिक पत्र का संपादन करना आरंभ किया। सन् 1936 में इन्होंने कानून की डिग्री प्राप्त की। 1941 में आल इंडिया रेडियो में नौकरी की। 1945 में फिल्मों में लेखन करने के लिए मुंबई चले गए। सन् 1996 में इनका देहांत हो गया।

अश्क ने लेखन की शुरुआत उर्दू से की। हिंदी लेखन का आरंभ उन्होंने कहानियों से किया। उनके आरंभिक लेखन में उर्दू का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। लेकिन बाद की रचनाओं से धीरे-धीरे यह प्रभाव समाप्त हो गया। अश्क ने साहित्य की लगभग हर विधा में लेखन कार्य किया है। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

- **नाटक :** जय-पराजय (1937), स्वर्ग की झलक (1939), छठा बेटा (1940), कैद और उड़ान (1950), पैंतरे (1953), अलग-अलग रास्ते (1954), आदर्श और यथार्थ (1954), अंजो दीदी (1955), भँवर, बड़े खिलाड़ी
- **एकांकी :** पापी (1938), वेश्या (1938), लक्ष्मी का स्वागत (1938), अधिकार का रक्षक (1938), जोंक (1939), आपस का समझौता (1939), पहेली (1939), देवताओं की छाया में (1939), विवाह के दिन (1940), खिड़की (1941), सूखी डाली (1941), चमत्कार (1941), नया पुराना (1941), बहनें (1942), कामदा (1942), मेंमूना (1942), चिलमन (1942), चुंबक (1942), तौलिये (1943), पक्का गाना (1944), तूफान से पहले (1947), चरवाहे (1948), आदि मार्ग (1950), कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन (1950), मस्केबाजों का स्वर्ग (1951), पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ (1951), भँवर (1961), अंधी गली के आठ एकांकी (1956), साहब को जुकाम है (1954-1959 के एकांकी) आदि।
- **उपन्यास :** सितारों के खेल (1940), बड़ी-बड़ी आँखें (1945), गिरती दीवारें (1947), गर्म राख (1952), पत्थर अलपत्थर (1957), शहर में घूमता आईना (1963), एक नन्हीं किंदील (1969)
- **कहानी संग्रह :** जुदाई की शाम का गीत (1933) के अलावा लगभग 150 कहानियाँ
- **काव्य :** बरगद की बेटी (1949), दीप जलेगा (1950), चाँदनी रात और अजगर (1952)। इन रचनाओं के अतिरिक्त अश्क ने संस्मरण (मंटो मेरा दुश्मन-1956), अनुवाद, निबंध आदि अनेक विधाओं में भी सृजन किया।

अश्क मध्यवर्ग की समस्याओं को अपने लेखन में आधार सामग्री की तरह प्रयोग करते हैं। सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने वाली विद्रूपताओं को उनके लेखन में अभिव्यक्ति मिली है। वे समाज की उन गुत्थियों को हमारे समक्ष खोलने का प्रयास करते हैं जो समाज के विकास में बाधा उत्पन्न करने का काम करती हैं। उनका स्वर

आदेशात्मक अथवा उपदेशात्मक न होकर व्यंग्यात्मक रहता है इसलिए इनके एकांकियों में प्रभावोत्पादकता बड़ी तीक्ष्ण होती है।

एकांकी का सार

एकांकी का आरंभ बड़ी बहू और इंदु के संवाद से होता है। इंदु बहुत गुस्से में है। बड़ी बहू के पूछने पर वह बताती है कि छोटी बहू (बेला) अपने मायके के सामने किसी को कुछ नहीं गिनती। आज उसने घर में दस साल से काम कर रही रजवा को काम से निकाल दिया। जब मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की तो वह मुझ पर भी नाराज हो गई। इंदु बड़ी बहू को यह बता ही रही होती है कि वहाँ छोटी भाभी (इंदु की माँ) आ जाती है। उसके साथ रोती हुई रजवा भी थी। रजवा छोटी भाभी से कहती है कि माँ जी आप मुझे अपने पास रखिए। मैं आज से उनका काम करने नहीं जाऊँगी। छोटी भाभी रजवा को शांत करने की कोशिश करती है। उसी समय मँझली बहू हँसते हुए प्रवेश करती है। वह बताती है कि छोटी बहू ने अपने कमरे का सारा फर्नीचर निकालकर बाहर रख दिया और वह परेश से बोली कि मैं इन टूटी-फूटी कुर्सियों को अपने कमरे में नहीं रहने दूँगी। परेश ने उसे काफी समझाने का प्रयास किया लेकिन वह नहीं मानी। अंततः परेश ही वहाँ से दादा के पास चला गया। मँझली बहू ने आगे कहा कि छोटी बहू की ज़बान बहुत चलती है। इसके जवाब में इंदु कहती है कि उसकी ज़बान ही ज़बान चलती है, दादा ने चार कपड़े धोने को कहा था वे गुसलखाने में पड़े गल रहे हैं। छोटी भाभी इंदु को कपड़े धोने का निर्देश देती है। पहला दृश्य समाप्त होता है।

दूसरे दृश्य के आरंभ में मँझला लड़का कर्मचंद दादा के पैर दबा रहा है। इतने में बाहर बच्चों के द्वारा नल चलाने की आवाज़ आती है। कर्मचंद उन्हें डाँटता है। दादा कर्मचंद को समझाते हैं कि बच्चों ने बरगद की पूरी डाल आँगन में लगा दी है लेकिन लाख पानी देने पर भी उसमें सरसता नहीं आ पाएगी। हमारा परिवार भी बरगद के पेड़ की भाँति ही है। कर्मचंद परेश के अलग होने की आशंका व्यक्त करता है। दादा के पूछने पर वह छोटी बहू के अहंकार के बारे में बताता है। थोड़ी देर बाद कर्मचंद चला जाता है और परेश आता है। दादा परेश से उसकी पत्नी की समस्याओं के बारे में बात करते हैं। वे उसे समझाते हैं कि वह अपनी पत्नी को बाज़ार ले जाकर नए फैशन का सामान खरीदवा कर ले आए। परेश दादा को बताता है कि इस घर में बेला को कोई पसंद नहीं करता। सब उसकी निंदा करते हैं। अब वह अलग गृहस्थी बसाना चाहती है। दादा उसे कहते हैं कि अलग हो जाना तो समस्या का आसान सा हल है लेकिन मेरे जीते जी यह संभव नहीं है। मैं सबको समझा दूँगा। अब से कोई तुम्हारी पत्नी का तिरस्कार नहीं करेगा। परेश चला जाता है। दादा रजवा को बुलाते हैं और कहते हैं कि छोटी बहू को छोड़कर बाकी सबको बुलाकर ले आए। दादा सबको समझाते हैं कि छोटी बहू बड़े घर की पढ़ी-लिखी लड़की है। वह बुद्धि में हम सबसे बड़ी है। हम सबको उसका आदर करना चाहिए। अगर तुममें से किसी ने अब उसका निरादर किया तो इस घर से मेरा नाता सदा के लिए टूट जाएगा। वह मँझली बहू और इंदु को अलग से समझाते हैं।

तीसरे दृश्य में बेला बरामदे में पुस्तक पढ़ रही है। वह अपने आप से कहती है कि पता नहीं कैसे लोग हैं इस घर के। कभी आग के जैसे गर्म और कभी मोम के जैसे कोमल। तभी उसकी सास आती है। वह बेला से कहती है कि तुम सही थीं। तुम परेश के साथ बाज़ार जाकर इस रद्दी फर्नीचर के स्थान पर नया फर्नीचर ले आओ। बेला के निवेदन करने पर भी वह बैठती नहीं। कहती है कि तुम बैठो बेटी मुझे घर के बहुत काम हैं। मैं तुम्हारा समय नष्ट नहीं करना चाहती। मैं तो इसलिए आई थी कि एक बार रजवा को झाड़ना-बुहारना सिखा देना फिर वह गलती नहीं करेगी। छोटी भाभी के चले जाने पर मँझली भाभी और बड़ी बहू आते हैं। वे भी आकर रजवा की सिफारिश करते हैं और मँझली भाभी कहती हैं कि मैंने एक अनुभवी नौकरानी खोजने के लिए कह दिया है। बेला बैठने के लिए कहती है। लेकिन वे भी नहीं बैठतीं। बेला शिकायत करती है कि आप मेरे साथ परायों का सा व्यवहार क्यों कर रहीं हैं। बड़ी बहू चली जाती है। तभी कहकहे लगाते हुए मँझली बहू, इंदु और पारो का प्रवेश होता है। वह हँसते हुए अपने

पड़ोस में घटित एक घटना का जिक्र करती है। तीनों हँस रही होती हैं तभी बेला को आते देखकर एकदम चुप हो जाती हैं। बेला आकर हँसने का कारण पूछती है। बेला जवाब न पाकर चुपचाप चली जाती है। इंदु और मँझली बहू आपस में बात करती हैं कि दादाजी ने हम दोनों को विशेष रूप से सतर्क रहने को कहा था।

बेला परेश से कहती है कि मुझे मेरे मायके भेज दीजिए। यहाँ कोई मुझे नहीं समझता और मैं किसी को नहीं समझती। सब मुझसे ऐसी डरती हैं जैसे मुर्गी के बच्चे बाज से। मुझे कुछ काम नहीं करने देतीं। परेश उसे कहता है कि मुझे समझ में नहीं आता कि तुम क्या चाहती हो। परेश चला जाता है। बेला का प्रवेश होता है। वह पूछती है कि भाभी आप क्यों रो रही हो। बेला को उससे पता लगता है कि दादा ने सबको बेला का विशेष आदर करने का आदेश दिया है। इंदु कपड़े धोने जा रही थी। बेला कहती है कि लाओ मैं धो दूँ। दोनों मिलकर बरामदें में धोने जाती हैं। दादा बेला को कपड़े धोते हुए देखकर विस्मित होते हैं। इंदु सफाई देती है कि मैंने भाभी को नहीं कहा, ये ही नहीं मानीं। बेला दादा से कहती है कि आप पेड़ से किसी डाली का टूटकर अलग होना पसंद नहीं करते, पर क्या आप यह चाहेंगे कि पेड़ से लगी-लगी वह डाल सूख कर मुर्झा जाए...?

समीक्षा

विद्वानों ने एकांकी के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं– कथावस्तु, पात्र और संवाद। भाषा, शैली, परिवेश, उद्देश्य और प्रभाव आदि अन्य गौण तत्त्व हैं और इनको किसी न किसी प्रमुख तत्त्व में चिह्नित किया जा सकता है।

कथावस्तु

कथावस्तु एकांकी का मूलाधार होता है। कथावस्तु के अन्तर्गत कथा के अलावा स्थितियाँ और घटनाएँ भी आती हैं। वास्तव में कथा सामग्री, स्थितियों और घटनाओं आदि का सुसंयोजन ही मिलकर कथावस्तु की निर्मिति करते हैं। इस दृष्टि से 'सूखी डाली' की कथावस्तु काफी हद तक सुसंगठित दिखाई देती है। प्रस्तुत एकांकी में घटनाओं का स्वाभाविक विकास हुआ है। आरंभ में छोटी बहू के प्रति जो रोष हमें इंदु और छोटी भाभी तथा घर के अन्य सदस्यों में दिखाई देता है वह दादा के प्रभाव के कारण अन्ततः सुखद लेकिन तार्किक निष्कर्ष में परिणत होता है। कथानक में आरंभ से अंत तक एक रोचकता का भाव बना रहता है। पाठक-दर्शक के मन में कुतूहल का यह भाव निरंतर बना रहता है कि यह परिवार एक बना रहेगा अथवा बेला की अलग होने की जिद दादा के संयुक्त परिवार के सपने को चकनाचूर कर देगी। अंतिम दृश्य में ही यह पता चल पाता है कि बेला भी संयुक्त परिवार के महत्त्व को समझ गई है।

एकांकी की कथावस्तु आरंभ, विकास, संघर्ष, उत्कर्ष और परिणति आदि चरणों में संपादित होती है। इस अर्थ में 'सूखी डाली' को परंपरानुकूल कहा जा सकता है। प्रस्तुत एकांकी में तीन दृश्य हैं। एकांकी का आरंभ इंदु और बड़ी बहू के संवाद से होता है। इस आरंभिक स्थल पर ही पाठक/दर्शक के मन में जिज्ञासा का भाव पैदा हो जाता है। पहले दृश्य में ही छोटी भाभी के प्रवेश को हम कथानक का विकास मान सकते हैं। यहीं से एकांकी की कथावस्तु को आकार मिलना आरंभ होता है। पहले दृश्य की समाप्ति तक हमारे सामने एकांकी के उद्देश्य की कुछ-कुछ झलक मिल जाती है। दूसरे दृश्य में एकांकी के पुरुष पात्रों का प्रवेश होता है। यहाँ से एकांकी की वस्तु में संघर्ष प्रारंभ होता है। 'दादा' इस एकांकी के प्रमुख पात्र हैं। वे अपनी सुझ-बूझ द्वारा परिवार में बेला के लिए 'स्पेस' निर्मित करते हैं। एकांकी में अभिव्यक्त संघर्ष सामान्यतः दो पात्रों, विरोधी परिस्थितियों, जीवन मूल्यों अथवा आदर्शों के बीच में हो सकता है। संघर्ष की अवस्था से निकलकर कथा बड़ी तेजी से उत्कर्ष की तरफ बढ़ती है। तीसरे दृश्य में इंदु और बेला का संवाद उत्कर्ष की स्थिति को अभिव्यक्त करता है। उत्कर्ष की स्थिति वह होती है जिसमें एकांकी में घटित कार्य व्यापार अपने चरम बिंदु पर पहुँच जाता है। यहाँ बेला मन ही मन संयुक्त परिवार के महत्त्व को स्वीकार कर चुकी होती है। अंत में दादा से वह कहती है कि, ''दादाजी आप पेड़ से किसी डाली का टूटकर अलग होना पसंद

नहीं करते, पर क्या आप यह चाहेंगे कि पेड़ से लगी-लगी वह डाल सूखकर मुर्झा जाए...?'' उसका यह कथन इस एकांकी में परिणति का बिंदु है। यहीं पर पाठक के समक्ष एकांकी के शीर्षक की प्रतीकात्मकता भी स्पष्ट होती है।

संकलन-त्रय

स्थान, काल और व्यापार की अन्विति को एकांकी में महत्त्वपूर्ण माना गया है। पाश्चात्य और भारतीय दोनों विद्वानों ने एकांकी में संकलन-त्रय की अन्वितियों की उपयोगिता को स्वीकार किया है।

स्थान की अन्विति का अर्थ है कि एकांकी में कथा एक ही स्थल पर घटित होनी चाहिए। ऐसा निश्चित करते समय विद्वानों के मन में शायद रंगमंचीय सुविधा-असुविधा का भाव रहा हो लेकिन आधुनिक रंगशालाओं में सुविधाओं का बहुत तेजी से विकास हुआ है। अब एक ही स्थान पर एक से अधिक मंच उपलब्ध हो सकते हैं। आलोच्य एकांकी में लेखक ने स्थान की अन्विति का बहुत ध्यान रखा है। सभी घटनाएँ एक ही घर में घटित होती हैं। एकांकी के तीनों दृश्यों में घर का बरामदा घटनाओं का केन्द्रीय स्थल है। स्थान की अन्विति को लेखक ने पूरी तरह निभाने का प्रयास किया है।

काल की अन्विति का अर्थ है समय सीमा। इसके अनुसार एकांकी की कथा का अधिकतम विस्तार एक दिन होना चाहिए। 'सूखी डाली' का आरंभ सुबह से होता है और इसमें स्पष्ट रूप से इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि अंत में जब दादा और बेला के संवाद पर एकांकी समाप्त होता है तो वह उसी दिन की घटना है या अगले दिन की। लेकिन इतना तो ज़ाहिर है कि दूसरे विकल्प को सच मान लेने पर भी एकांकी का कथानक काल की अन्विति को भंग नहीं करता। हालांकि अनेक ऐसे विद्वान हैं जो काल की अन्विति को अनपेक्षित मानते हैं इसलिए अनेक एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों में इस नियम का उल्लंघन किया है।

व्यापार-अन्विति से तात्पर्य यह है कि एकांकी में एक ही कथा को आधार बनाया जाए और अगर कोई गौण कथा एकांकी में आती भी है तो उसका कार्य प्रमुख कथा को उद्देश्य तक ले जाने वाला होना चाहिए। 'सूखी डाली' व्यापार-अन्विति की दृष्टि से अत्यंत सफल एकांकी है। एकांकी के सभी कार्य-व्यापार संयुक्त परिवार के महत्त्व को प्रतिपादित करते दिखाई देते हैं।

पात्र

पात्र एकांकी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्व है। पात्रों के बीच होने वाले संवादों से ही लेखक एकांकी में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करता है। एकांकी के सीमित कलेवर में पात्रों की संख्या कम से कम ही होनी चाहिए क्योंकि अधिक पात्रों के चरित्र को इतने संक्षिप्त कथानक में विकसित करना संभव नहीं है। साथ ही, रंगमंचीयता की दृष्टि से भी अधिक पात्र अवरोध उत्पन्न करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो किसी एकांकी में एक या दो पात्र प्रमुख और इतने ही गौण पात्र होने चाहिए।

'सूखी डाली' में कुल तेरह पात्र हैं। इस दृष्टि से 'सूखी डाली' पर पात्रों की अधिकता के आरोप लगते रहे हैं लेकिन इसकी कथावस्तु संयुक्त परिवार के महत्त्व को प्रदर्शित करती है अत: संयुक्त परिवार के सदस्यों को दिखाने के लिए पात्रों की संख्या अधिक रखी गई है। समस्या प्रधान एकांकी होने के बावजूद इसमें लेखक पात्रों के चरित्र की बारीकियों को उभारने में सफल रहा है। हालाँकि मात्र तीन ही पात्रों को हम प्रमुख पात्र का दर्जा दे सकते हैं—दादा, बेला और इंदु। इन्हीं तीनों के चरित्र को एकांकीकार ने विकसित करने का प्रयास किया है। अन्य पात्रों को कथ्य को विकसित करने की दृष्टि से ही रखा गया है। आइए हम इन तीनों के चरित्र पर संक्षेप में विचार करें—

दादा—दादा इस एकांकी के केन्द्रीय पात्र हैं। सभी घटनाओं का संयोजन उनके इर्द-गिर्द ही हुआ है। प्रथम रंग संकेत में दादा का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि, ''आयु की 72 सर्दियाँ देख लेने पर भी उनका शरीर अभी

तक नहीं झुका और उनकी सफेद दाढ़ी वट की लंबी-लंबी दाढ़ियों की भांति उनकी नाभि को छूती हुई मानो धरती को छूने का प्रण किए हुए है।'' स्पष्ट है कि एकांकी में दादा की तुलना वट के वृक्ष से करके दादा के चरित्र की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट किया गया है।

दादा संयुक्त परिवार के पक्षधर हैं। एकल परिवार की अपेक्षा वे संयुक्त परिवार को इसलिए महत्त्व देते हैं क्योंकि उनके अनुसार संयुक्त परिवार महान् वट के पेड़ की भाँति है। शाखाओं, पत्तों, फलों-फूलों से भरा-पूरा। एकल परिवार में वे सब गुण नहीं हैं जो संयुक्त परिवार में हैं। परिवार के मुखिया होने के नाते इस परिवार को एकजुट बनाए रखना वे अपनी जिम्मेदारी मानते हैं। अपने पोते परेश के अलग होने की बात पर उनका कथन है कि, ''न बेटा, मैं अपने जीते जी यह सब न होने दूँगा।''

दादा का व्यक्तित्व कठोर अनुशासन को अपने भीतर समेटे हुए है। दादा के आदेश को पूरे घर में कोई नहीं टाल सकता। सब उनके सिद्धान्तों का सम्मान करते हैं। इसलिए दादा के एक बार समझाने पर ही बेला के प्रति पूरे परिवार का व्यवहार बदल जाता है। अन्ततः उनके कठोर अनुशासन के कारण ही परिवार एकजुट रह पाता है।

एकांकी में दादा के चरित्र को लेखक ने काफी समझदार बनाने का प्रयास किया है। संयुक्त परिवार के प्रति बेला के दृष्टिकोण को सकारात्मक बनाने में दादा की समझदारी ही काम करती है। वे बेला को डाँटने-फटकारने की बजाए घर के दूसरे सदस्यों के व्यवहार में परिवर्तन करवाते हैं। सबके व्यवहार में अचानक आए इस परिवर्तन की वजह से बेला भी अपने दृष्टिकोण को बदलने के लिए विवश हो जाती है।

अतः कहा जा सकता है कि दादा के चरित्र में परंपरा और प्रगति का अपूर्व संयोजन है। वे अपनी पढ़ी-लिखी लेकिन अपने पति के साथ अकेली रहने की चाह रखने वाली बहू को अपने संयुक्त परिवार के साथ जोड़ने में सफल होते हैं।

बेला–बेला इस एकांकी का सबसे जीवंत पात्र है। एकांकी में उसके चरित्र का स्वाभाविक विकास हुआ है। उसका विवाह संयुक्त परिवार के लड़के परेश से हुआ है। वह पढ़ी-लिखी लड़की है लेकिन उसके अंदर एक अहं भावना विकसित हो जाती है जिसके कारण वह ससुराल के लोगों को नीची नज़र से देखने लगती है। उसे अपने ससुराल की कोई भी चीज़ पसंद नहीं आती। यहाँ के लोग, उनका स्वभाव, रहन-सहन, साफ-सफाई, बात करने का ढंग, यहाँ तक कि फर्नीचर भी। वह अपने पति के साथ अलग रहना चाहती है। वह अपने पति को दादा से बात करने के लिए कहती है लेकिन दादा उसकी बात को सिरे से नकार देते हैं। दादा के द्वारा किए गए उपायों के बाद उसे समझ में आता है कि दरअसल एकल परिवार की अपेक्षा संयुक्त परिवार ही अधिक श्रेयस्कर है। एकांकी के अंत में उसे अपनी भूल पर पछतावा होता है। इस तरह बेला में गुणों और अवगुणों का समन्वय है। लेखक उसके चरित्र की बारीकियों को अधिक स्पष्टता के साथ उभारने में सफल हुआ है।

इंदु–इंदु एक प्रतिक्रियावादी पात्र है। एकांकी में उसकी उपस्थिति कथ्य की रोचकता को बढ़ाती है। वह अपनी भाभी यानी बेला के व्यवहार के प्रति सर्वाधिक तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। दादा के समझाने पर वह अपने व्यवहार में परिवर्तन लाती है और उसका यही बदलाव बेला के बदलाव का कारण बनता है।

संवाद

पात्रों के चरित्र की अभिव्यक्ति उनकी आपसी बातचीत पर आधारित होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि, ''बातचीत से हम उनके (पात्रों के) भीतरी मनोभावों का आभास पाते हैं और उनकी क्रियाओं के पीछे रहने वाले उनके विचार समझ पाते हैं। इसीलिए भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पात्रों की बातचीत को नाट्य का शरीर कहा गया है।'' (साहित्य सहचर, पृष्ठ-112) संक्षिप्तता संवादों की विशिष्टता होती है। संवादों के माध्यम से ही

लेखक पात्रों के चरित्र को चित्रित करता है। 'सूखी डाली' के संवाद सजीव हैं और लेखक ने उन्हें आवश्यकतानुसार प्रयुक्त किया है। उदाहरणार्थ एकांकी के आरंभिक संवादों को देखिए :

बड़ी बहू : (इंदु के कंधों पर अपने दोनों हाथ रखते हुए) आखिर कुछ कहो भी। क्या कह दिया छोटी बहू ने?

इंदुः (चुप)

बड़ी बहू : क्या कह दिया उसने जो इतनी बिफरी हुई हो?

इंदुः (क्रोध से) और क्या ईंट से मारती!

बड़ी बहू : कुछ कहो भी ...

इंदु : मेरे मायके में यह होता है, मेरे मायके में यह नहीं होता। (हाथ मटकाकर) अपने और अपने मायके के सामने तो वह किसी को कुछ गिनती ही नहीं। हम तो उसके लिए मूर्ख, गँवार और असभ्य हैं।

बड़ी बहू : (आश्चर्य से) क्या?

उद्देश्य

उपेन्द्र नाथ अश्क ने सामान्यतः सामाजिक विषयों को अपने एकांकियों का आधार बनाया है। इस एकांकी में एकल परिवार की अपेक्षा संयुक्त परिवार को श्रेष्ठ ठहराया गया है। इन्हीं दो जीवन आदर्शों के बीच के द्वंद्व से एकांकी को विस्तार मिलता है। बेला एकल परिवार की हिमायती है और दादा संयुक्त परिवार के, लेकिन दादा अपने आदर्श को उस पर थोपते नहीं हैं बल्कि पारिवारिक परिस्थितियों को नियंत्रित करके उसे संयुक्त परिवार का महत्त्व समझाते हैं। दादा के माध्यम से लेखक एकांकी के उद्देश्य को भी स्पष्ट करता है। दादा अपने बेटे कर्मचंद को संबोधित करते हुए कहते हैं कि, ''मैं कहा करता हूँ न बेटा कि एक बार वृक्ष से जो डाली टूट गई, उसे लाख पानी दो, उसमें वह सरसता न आएगी और हमारा यह परिवार बरगद के इस महान् पेड़ की ही भाँति है...'' अतः प्रस्तुत एकांकी में लेखक ने संयुक्त परिवार के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।

रंगमंचीयता

किसी भी एकांकी के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह रंगमंचीयता को दृष्टि में रखकर लिखा गया हो क्योंकि यह दृश्य काव्य का एक रूप है और इसकी सफलता या असफलता का अनुमान मंचन के बाद ही लगाया जा सकता है। एकांकीकार मंच की सुविधा को ध्यान में रखकर लेखन करता है। संक्षिप्त कथानक, कम पात्र और उनकी मंच पर उपस्थिति योजना, मंच के अनुकूल दृश्य विधान, सरल-सहज शब्द प्रयोग तथा शुरूआत से अंत तक कुतूहल बनाए रखने की क्षमता रंगमंचीयता के लिए किसी एकांकी के आवश्यक गुण होते हैं।

'सूखी डाली' में इन सभी गुणों को देखा जा सकता है। कलेवर की दृष्टि से इसकी कथावस्तु संक्षिप्त है। पात्रों पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। लेखक ने उनकी मंचीय उपस्थिति की योजना कुछ इस प्रकार बनाई है कि एक ही समय में कई पात्र उपस्थित होने के बावजूद दर्शक को किसी परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता। मंच की साज-सज्जा का भी अश्क जी ने ख्याल रखा है। उन्होंने इसको अधिकतम साधारण बनाए रखने का प्रयास किया है और जहाँ कहीं उनको आवश्यक प्रतीत हुआ है वहाँ उन्होंने रंग संकेत दे दिए हैं। रंग संकेत उन दिशा निर्देशों को कहते हैं जिनको लेखक कोष्ठक में लिखता है और मंचन करते समय निर्देशक को उनसे लेखकीय दृष्टिकोण का पता चलता है।

एकांकी की भाषा-शैली में सहजता का गुण अनिवार्य रूप से होना चाहिए क्योंकि इस विधा में एक बार में समझ न आने के बाद दर्शक के सामने इसे फिर से देखने या सुनने की सुविधा नहीं होती। वहीं दूसरी तरफ अगर इसके शब्द कठिन और वाक्य लंबे होंगे तो पात्रों की भूमिका करने वाले कलाकार को भी परेशानी का सामना करना पड़ सकता है। इन दोनों दृष्टियों से भी हम देख सकते हैं कि 'सूखी डाली' एक सफल एकांकी है। लेखक ने न केवल दैनिक उपयोग के शब्दों का प्रयोग किया है बल्कि आवश्यकतानुसार वाक्यों को भी संक्षिप्त रखा है।

व्याख्या के लिए महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद

1. ''नहीं-नहीं, खेलने दो बच्चों को। (फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं) बच्चे...(हँसते हैं) बरगद की पूरी डाल लाकर आँगन में लगा दी और उसे पानी दे रहे हैं।...(हँसते हैं) नहीं जानते कि पेड़ से टूटी डाली जल देने से नहीं पनपती। (हुक्का गुड़गुड़ाते हैं फिर नली छोड़कर कर्मचंद से) मैं कहा करता हूँ न बेटा कि एक बार वृक्ष से जो डाली टूट गई, उसे लाख पानी दो, उसमें वह सरसता न आएगी और हमारा यह परिवार बरगद के इस महान् पेड़ की ही भाँति है...''

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश 'सूखी डाली' एकांकी से उद्धृत है। इसके लेखक उपेन्द्र नाथ अश्क हैं। अश्क जी ने सामाजिक विषयों को आधार बनाकर अनेक एकांकियों की रचना की है। इनके एकांकियों में सामाजिक विद्रूपताओं पर करारा व्यंग्य देखने को मिलता है। 'सूखी डाली' में उन्होंने संयुक्त परिवार के महत्त्व को रेखांकित किया है।

संदर्भ–मँझला लड़का कर्मचंद दादा के पैर दबा रहा है। इतने में बाहर बच्चों के द्वारा नल चलाने की आवाज़ आती है। कर्मचंद उन्हें डाँटता है। दादा कर्मचंद को समझाते हैं।

व्याख्या–दादा कर्मचंद को रोकते हुए कहते हैं कि बच्चों ने बरगद की पूरी डाल आँगन में लगा दी है लेकिन लाख पानी देने पर भी उसमें सरसता नहीं आ पाएगी। उन्हें लगता है कि डाल में पानी दे देने से वह फिर से हरी-भरी हो जाएगी। वे अभी इतने नादान हैं कि नहीं जानते कि इस तरह डाली नहीं पनप सकती। यानी अगर डाली को हरा-भरा रखना है तो हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि डाली पेड़ से टूटे ही नहीं। दादा अपने परिवार की तुलना बरगद के पेड़ से करते हुए कहते हैं कि हमारा परिवार भी बरगद के पेड़ की भाँति ही है। इस पंक्ति के माध्यम से लेखक ने संयुक्त परिवार के महत्त्व को रेखांकित किया है। स्पष्ट है कि दादा कहना चाहते हैं कि एक बार परिवार से अलग हो जाने पर व्यक्ति वैसा ही हो जाएगा जिस प्रकार पेड़ से अलग होकर डाली हो जाती है। उसके जीवन में विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा। अतः परिवार की एकता में ही सबकी सफलता निहित है।

2. ''बेटा, बड़प्पन बाहर की वस्तु नहीं-बड़प्पन तो मन का होना चाहिए और बेटा, घृणा से घृणा को नहीं मिटाया जा सकता। बहू तभी पृथक् होना चाहेगी जब उसे घृणा के बदले घृणा दी जाएगी। लेकिन यदि उसे घृणा के बदले स्नेह मिले तो उसकी समस्त घृणा धुँधली पड़कर लुप्त हो जाएगी। (हुक्का गुड़गुड़ाते हैं) और महानता भी बेटा, किसी से मनवायी नहीं जा सकती; अपने व्यवहार से अनुभव कराई जा सकती है। ठूँठ वृक्ष आकाश को छूने पर भी अपनी महानता का सिक्का हमारे दिलों पर उस समय तक नहीं बैठा सकता, जब तक अपनी शाखाओं में वह ऐसे पत्ते नहीं लाता, जिनकी शीतल-सुखद छाया मन के सारे ताप को हर ले और जिनके फूलों की भीनी-भीनी सुगंध प्राणों में पुलक भी दे।''

प्रसंग-पूर्ववत्

संदर्भ–कर्मचंद ने दादा को यह बता दिया है कि छोटी बहू और परेश इस घर से अलग होने वाले हैं। वह यह भी बताता है कि शायद छोटी बहू अपने मायके को इस घराने से बड़ा समझती है। तब उसको समझाते हुए दादा कहते हैं कि–

व्याख्या–प्रस्तुत पंक्तियों में दादा ने स्नेह के महत्त्व को समझाया है। उनके अनुसार बड़ा आदमी वह होता है जो बाहरी दिखावे के बजाय भीतर से बड़ा होता है। बड़प्पन की भावना मन की चीज़ है। घृणा करने वाले व्यक्ति की घृणा को स्नेह में बदलने के लिए घृणा के स्थान पर हमें उसे प्रेम दना होगा। छोटी बहू अगर अपने मायके के सामने इस परिवार को छोटा समझती है तो उसे ऐसा करने दो लेकिन बदले में उससे घृणा मत करो। अगर इस परिवार से उसे घृणा मिलेगी तो उसके भीतर अलगाव की भावना बढ़ती जाएगी। अगर हम उसे घृणा के बदले प्रेम देंगे तो धीरे-धीरे उसकी घृणा प्रेम में बदल जाएगी और फिर वह इस परिवार से अलग होने की बात नहीं सोचेगी। इसी संदर्भ में दादा ने महानता का अर्थ भी समझाया है। उनके अनुसार महानता अपने आचरण द्वारा अनुभव कराई जा सकती है। अगर कोई जबरदस्ती किसी पर अपनी महानता थोपना चाहे तो यह संभव नहीं है। उदाहरण के लिए उस ठूँठ पेड़ को देखा जा सकता है जो ऊँचा तो है लेकिन उसमें शीतलता प्रदान करने के लिए हरी पत्तियाँ नहीं हैं। जब उस पर हरे पत्ते और सुगंधित फूल आ जाते हैं तो वह अपनी शीतलता और सुगंध से हमारे मन के ताप को दूर कर देता है और तब हम अनायास ही उसे महान मानने लगते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दादा के माध्यम से लेखक ने इन पंक्तियों में बड़प्पन, घृणा के बदले स्नेह और महानता के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

व्याख्या के लिए कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद

1. मैं जब अपने परिवार का ध्यान करता हूँ तो मेरे सामने वट का महान् पेड़ घूम जाता है। (खाँसकर) शाखाओं-पत्तों, फलों-फूलों से भरा-पूरा। (हुक्के के एक-दो कश लगाते हैं) और फिर मेरी आँखों के सामने इस महान् वृक्ष की डालियाँ टूटने लगती हैं और वह केवल ठूँठ रह जाता है। (स्वर धीमा, जैसे अपने-आप से कह रहे हैं) और मैं सिहर उठता हूँ। न बेटा, मैं अपने जीते-जी यह सब न होने दूँगा।

2. यह कुटुम्ब एक महान् वृक्ष है। हम सब उसकी डालियाँ हैं! डालियों से ही पेड़ है। और डालियाँ छोटी हों चाहे बड़ी, सब उसकी छाया को बढ़ाती हैं। मैं नहीं चाहता, कोई डाली इससे टूटकर पृथक् हो जाय। तुम सदैव मेरा कहा मानते रहो। बस यही बात मैं कहना चाहता हूँ...यदि मैंने सुन लिया-किसी ने छोटी बहू का निरादर किया है, उसकी हँसी उड़ाई है या उसका समय नष्ट किया है तो इस घर से मेरा नाता सदा के लिए टूट जाएगा...अब तुम जा सकते हो।

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न

– 'सूखी डाली' एकांकी की समीक्षा कीजिए।

– दादा की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

– 'सूखी डाली' एकांकी के शीर्षक की सार्थकता पर विचार कीजिए।

– रंगमंचीयता की दृष्टि से 'सूखी डाली' का विश्लेषण कीजिए।

कहानी

1. 'ठाकुर का कुआँ'

(मुंशी प्रेमचन्द)

– डॉ. भवानी दास

1. लेखक-परिचय

युगनायक साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द जी का हिन्दी कथासाहित्य क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्ग एवं जाति विषमता के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष की पृष्ठभूमि में सामाजिक विकास की सांस्कृतिक-आर्थिक प्रक्रिया को व्यापकता से विश्लेषित करने वाले मुंशी जी का जन्म सन् 1880 में बनारस के नजदीक लमही नामक गांव में हुआ। इनका खेती का मुख्य व्यवसाय था और जीवन-स्तर निम्न मध्य वर्ग का था। आठ वर्ष की अवस्था में माता का और सोलह वर्ष की अवस्था में पिता का देहांत हो गया। उनकी शिक्षा का आरम्भ उर्दू से हुआ। सन् 1903 में इन्होंने 'धनपतराय' नाम से अपना पहला उपन्यास 'असरारे मआविद' उर्दू में लिखा। उर्दू में लिखी उनकी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न सत्र 1907 में प्रकाशित हुई। उर्दू कहानियों का पहला संग्रह सन् 1908 में 'सोजे वतन' नाम से निकला। उर्दू में वे 'नवाबराय' के नाम से लिखते थे। अंग्रेज सरकार की धमकियों के बाद 'प्रेमचन्द' नाम से लिखना शुरू किया। सन् 1930 में 'हंस' का प्रकाशन इन्होंने आरम्भ कर दिया। सन् 1936 में बनारस में इनकी मृत्यु हो गई।

'प्रेमचन्द' ने अनेक उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। उनके उपन्यास हैं–'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रय', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान'। उनका अन्तिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' है, जो अधूरा है। इनके अतिरिक्त 'रुठी रानी' नाम का एक ऐतिहासिक उपन्यास भी उन्होंने लिखा है।

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचन्द के अनेक कहानी-संग्रह भी हैं–'सप्त सरोज', 'नवनिधि', 'प्रेमपूर्णिमा', 'बड़े घर की बेटी', 'लाल फीता', 'नमक का दारोगा', 'प्रेमपचीसी', 'प्रेमप्रसून', 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेम-प्रतीक', 'प्रेम प्रमोद', 'प्रेमतीर्थ', 'पाँच फूल', 'प्रेम चतुर्थी', 'प्रेम प्रतिज्ञा', 'सात-सुमन', 'प्रेम-पंचमी', 'समर-यात्रा' 'प्रेरणा', 'नवजीवन' और 'पाँच प्रसून'। प्रेमचन्द की लगभग सभी कहानियाँ 'मानसरोवर' नाम से सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रेमचन्द जी के कुछ निबन्ध और टिप्पणियाँ भी हैं जो 'कुछ विचार', 'साहित्य का उद्देश्य' एवं 'प्रेमचन्द के विचार' (भाग 3) में उद्धृत हैं। ये निबन्ध विचार प्रधान हैं।

प्रेमचन्द जी ने कुछेक नाटक भी लिखे हैं। 'संग्राम', 'कर्बला', 'प्रेम की वेदी' उनके नाटक हैं। वे जीवनी-लेखक भी थे। जीवनियों में महात्मा शेख सादी, 'दुर्गादास' और 'कलम तलवार और त्याग' प्रमुख हैं। उन्होंने अनातोले फ्राँस, टाल्सटाय, गोल्सवर्दी, बर्नार्ड शॉ आदि लेखकों की रचनाओं का अनुवाद भी किया है।

प्रेमचन्द जी हिन्दी के एक महान साहित्यकार हैं। उनसे पूर्व हिन्दी साहित्य में यथार्थ चित्रण की सबल परम्परा नहीं थी। प्रेमचन्द जी ने अपने साहित्य में यथार्थवादी परम्परा के चित्रण का सूत्रपात किया। वे अपने युग के सर्वाधिक जागरूक साहित्यकार थे। अतः उनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्मता से हुआ है, जिसका आधार तथ्यात्मक है। उनकी रचनाओं में भारतीय समाज के दलित, शोषित वर्ग के–किसानों, मजदूरों और अछूतों का दुख-दर्द अधिक उभरा है। इसके पहले यह वर्ग साहित्य की परम्परा में उपेक्षित था। उन्होंने मानवीय जीवन के यथार्थ को सामाजिक अनुभवों के आधार पर उद्घाटित किया है। डॉ. रघुवंश ने कहा है कि–'प्रेमचन्द ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होंने निरन्तर युग-जीवन को पूर्णता में ग्रहण करने का प्रयत्न किया है और उनकी महानता इस बात में है कि उन्होंने मात्र वस्तु की रचना नहीं की, चरित्रों का सर्जन नहीं किया, वरन् इसके माध्यम से अपने युग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया को ग्रहण करने की चेष्टा की है'। यही कारण है कि इस

युग के समस्त प्रयत्नों, मूल चेष्टाओं, अर्थवेत्ताओं, विसंगतियों और अतिरंजनाओं को हम उनके कथा साहित्य में अभिव्यक्त पाते हैं। इनके साथ ही रचनाकार अपने युग की दृष्टि खोजने के प्रयत्न में हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द की रचनात्मकता का आधार भारतीय समाज और उसका यथार्थ है। इसीलिए वे विश्वसनीय हैं। उन्होंने जिस भी आदर्श को स्वीकार किया है, वह समाज में ही अन्तर्निहित आदर्श है। वे समाज में उन्हीं मूल्यों की स्थापना करने की बात करते हैं, जो समाज की परम्परा से प्राप्त हैं। समाज से स्वीकृत मूल्यों को वे व्यापक स्तर पर स्वीकृत कराने का प्रयास करते रहे। इसीलिए उन्हें सामाजिक आर्थिक संघर्ष के कथाचित्र आत्मीय लगते हैं। प्रेमचन्द के इस प्रगतिशीलता के साथ राष्ट्रवादी चेतना की अनुगूंज भी है। उनमें प्रगतिशीलता और राष्ट्रीयता दोनों ही थे। सन् 1930 में उन्होंने 'विशाल भारत' में लिखा–'इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता-संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं है। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो चार उच्चकोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ, लेकिन उसका उद्देश्य भी स्वतंत्रता प्राप्ति हो'। इस प्रकार प्रेमचन्द जी के साहित्य में सामाजिक स्थितियों में यथार्थवाद के राष्ट्रीय और सामाजिक दोनों ही तत्त्वों की उपलब्धि होती है।

विषय की तरह भाषा-शैली की दृष्टि से भी प्रेमचंद जी अत्यंत सफल समर्थ रचनाकार हैं। इस संदर्भ में भीष्म साहनी का वक्तव्य उद्धृत करना सर्वथा समीचीन होगा, ''मुझे प्रेमचन्द की जबान प्रभावित करती है, उसमें मुहावरा है, लोच है, बोलचाल की जबान में पायी जाने वाली सूझ है, दानिशमंदी है। प्रेमचन्द के बाद ऐसी जबान किसी ने नहीं लिखी, क्योंकि भाषा के प्रति जो खुलापन प्रेमचन्द में था और जैसा रचनात्मक प्रयोग वह कर गए और भाषा की जैसी पकड़ उनमें थी, वैसी बाद में देखने को नहीं मिली।

वास्तव में मुंशी प्रेमचन्द जी वास्तविक अर्थों में हिन्दी उपन्यास एवं कहानी के समदृष्ट हैं।

2. कथासार

मुंशी प्रेमचन्द जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार माने जाते हैं। उन्होंने भारतीय जन-जीवन को निकट से देखा और उनकी समस्याओं में पैठकर उन्हें पूरी गम्भीरता और ईमानदारी से अपने साहित्य में उतारा। उनकी पैनी दृष्टि मुख्यत: भारत के निर्धन ग्रामीण वर्ग पर ही रही, उसी के संघर्षपूर्ण जीवन का यथातथ्य इन्होंने अपने साहित्य, विशेषकर कहानियों में किया। इसीलिए इनकी कहानियाँ 'जीवन की पर्याय' सी लगती हैं। उनकी एक ऐसी ही कहानी 'ठाकुर का कुँआ' है, जो 'मानवता के हनन और निमर्मता के पोषण' की बड़ी ही करुण कथा कहती है।

कहानी की शुरुआत जोखू और उसकी प्यास से होती है। उसकी पत्नी गंगी, जोखू के लाख मना करने, डराने पर भी अपने बीमार पति के लिए बदबूदार पानी की जगह शुद्ध पानी लेने रात के नौ बजे ठाकुर के कुएँ पर जाती है। वहाँ उसे कुप्पी के मंद प्रकाश में बहुत से बेफ्रिक्र लोग एक जगह इकट्ठे दिखते हैं। वह कुएँ की जगह के पीछे अंधेरे में छिपकर बैठ जाती है। सबके चले जाने के बाद वह जल्दी-जल्दी कुएँ के जगत पर जाती है और घड़ा पानी में डूबोकर उसे ऊपर खींच लेती है और जैसे ही घड़े को जगत पर रखने को होती है, तभी अचानक ठाकुर का दरवाजा खुलता है और वह आतंकित हो उठती है। घबड़ाहट में उसके हाथ से रस्सी और घड़ा दोनों छुटकर कुएँ में गिर जाते हैं। घड़े के पानी में गिरने और उसके हलकोरों की आवाज सुनकर तथा ठाकुर के इतना कहते ही कि 'कौन है? कौन है? वह वहाँ से जान बचाने के लिए भाग खड़ी होती है। पर हाय! घर जाकर देखती है कि जोखू लोटा को मुँह से लगाये वही बदबूदार पानी पी रहा है।

समीक्षा

युगनायक साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द जी द्वारा लिखित 'ठाकुर का कुआँ' कुल तीन पृष्ठों की एक छोटी सी कहानी है, पर है बहुत महत्त्वपूर्ण। यह कहानी हमारे गांव के सामाजिक जीवन की बहुत बड़ी विसंगति पर

तीव्र प्रहार करती है। वह विसंगति है—गांव की ऊँची और नीची जातियों के आपसी सम्बन्धों और उसके जीवन-व्यापारों की, गांवों में निम्न जातियों के लोग बड़े उपेक्षित और ज्यादतियों के शिकार हैं, जिन्हें रोज नई-नई मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। ग्राम्य जीवन में व्याप्त ऊँच-नीच, वर्ग-भेद का प्रश्न किस तरह इन्सानियत को तोड़ रहा है, जीवन को जीने के लिए मुश्किल बना रहा है। वह इस कहानी में भली-भांति देखा जा सकता है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि बीमार जोखू को बीमारी की हालत में भी बदबूदार पानी पीना पड़ता है। पानी जैसी मुफ्त की वस्तु भी उसे आसानी से प्राप्य नहीं। उसके लिए उस अभागे की पत्नी-गंगी को भय और आतंक की भयानक स्थिति से गुज़रना पड़ता है और चोरी जैसी मूल्यहीन और जघन्य कर्म को करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

बड़ी जातियाँ छोटी जातियों के प्रति कितना क्रूर और निर्भय व्यवहार करती हैं, नीची जातियों में उनका आतंक किस हद तक व्याप्त है—इसका अहसास हमें इस कहानी से होता है। कहानी में शुरू से अंत तक भय और आतंक की अटूट यात्रा चलती रहती है। डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त लिखते हैं कि—'कहीं यह भय सीधे सपाट विवरणों से उत्पन्न होता है, कहीं संकेतों से, कहीं बिम्बों से और कहीं मामूली से एक दो शब्द मिलकर 'हारर' पैदा कर देते हैं।' ठाकुर और उसका कुआँ दोनों ही भय के सूचक हैं। यह भय गंगी के अन्तर्मन में व्याप्त है और जोखू शुरू में ही हाथ-पैर तुड़वा आने की बात कहकर उस भय को और बड़ा देता है। परिस्थितियों के चक्र में फंसी गंगी का ठाकुर के यहाँ पानी लेने जाने से लेकर ठाकुर के दरवाजा खोलने तक की स्थितियों तक का हर पल बेहद भयाक्रान्त होता है। उसे हर पल यह भय खाए जाता है कि कहीं कोई उसे देख न ले। भय और तनाव की ऐसी मन: स्थिति में उच्च वर्ग **ऊँची जातियों** के प्रति उसका मन ही मन बड़बड़ाना और उसकी वास्तविकता का पर्दाफाश करना कहानी को स्वभाविकता की ओर ले जाता है। फिर आगे की स्थितियों में जब ठाकुर का दरवाजा यकायक खुलता है तथा उनके यह पूछने पर कि कौन है? वह अत्यन्त डर जाती है। घबड़ाहट में उसके हाथ से रस्सी और घड़ा छूटकर कुएँ में गिर जाता है—जो स्वभाविक लगता है। और फिर वह वहाँ से भाग खड़ी होती है। बड़े लोग दलित लोगों से कितना घृणित और अमानवीय व्यवहार करते हैं—इसका गहरा अहसास 'ठाकुर का कुआँ' कहानी के 'ठाकुर' से होता है। गांव में ठाकुर एक पूरा 'हारर' है। जब उसकी कल्पना ही इतनी भयानक थी तो वास्तविकता के भयानकता का अंदाजा लगाना तो और भी मुश्किल है। वास्तव में ठाकुर एक व्यक्ति नहीं एक वर्ग का प्रतीक है।

प्रेमचन्द जी ने अपनी इस छोटी सी कहानी में गाँव की वास्तविकता, वहाँ की भ्रष्ट व्यवस्था, दलित वर्ग के प्रति उच्च वर्ग का अमानवीय व्यवहार, जाति-भेद-वर्ग भेद से उत्पन्न अस्पृश्यता, उच्च वर्ग की स्थिति एवं उनके पुरुषों द्वारा अपनी स्त्रियों के प्रति किया गया कर्कष (कठोर) व्यवहार आदि को बड़े ही विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है। डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त लिखते हैं कि—'गाँव अपनी वास्तविकता में इकहरे नहीं, अपितु बड़े संश्लिष्ट दिखते हैं। यहाँ की क्रूर विसंगतियों में शोषण, दमन, मुकदमेबाजी आदि अनेक बाते हैं, जिनके बीच जीवन पिसता है।' उदाहरणार्थ गंगू को ले सकते हैं। बेगार न दे पा सकने के कारण बेचारे की इतनी पिटाई होती है कि महीनों तक उसके मुँह से खून आता रहता है। दरअसल, गाँवों में काम करने-कराने के तौर-तरीके ठीक नहीं हैं। वहाँ हर काम के तरह साजिश की बू आती है। ठाकुर के यहाँ एकत्र बेफिक्रों एवं उनका आपसी वार्तालाप वहाँ के भाव बोध को दर्शाते हैं, जो भय और आतंक के वातावरण को और भी भयावह बना देते हैं।

इस कहानी में मुख्यपात्र गंगी है, जो भयानक यंत्रणा की शिकार है। अछूत गंगी एक जागरूक नारी के रूप में उभरती है। उसके चरित्र में स्वभाविकता है, क्योंकि वह हमारे रोजमर्रा की जिन्दगी की लगती है। उसमें धरती की महक है। यही नहीं उसे घुमा-फिरा कर बाते करना नहीं आता। वह जो कुछ कहती है, वह बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहती है। वह ऊँची जाति के लोगों को बेनकाब करती है और उन्हें उनका वास्तविक चेहरा दिखाती है। वह उन्हें उनके कथनी और करनी के फर्क को बताती है। चोट खाई हुई शेरनी के समान वह उन पर शब्दों का वार करती है। ऊँची जातियों की पोल-पट्टी खोलती हुई वह जो कुछ कहती है, उसमें सच्चाई है, एक टूटे दिल का दर्द है—''यहाँ तो जितने हैं, एक से एक छंटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे-मुकदमें ये

करे। अभी इस ठाकुर ने उस दिन बेचारे–गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद को मार कर खा गया। इन्हीं पंडित जी के घर में तो बारहो मास जुवा होता है। यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। ये काम करा लेते हैं। मजदूरी देते समय नानी मरती है। ...कभी गाँव में आ जाती हूँ तो रसभरी आँखों से देखने लगते हैं। जैसे सबकी छाती पर सांप लोटने लगता है, परंतु घमंड यह कि हम ऊँचे है।'' (प्रेमचन्द : मानसरोवर (19 पृष्ठ 143)। गंगी के इस कथन से उसकी जागरूकता और उसके अन्दर सुलगती विद्रोहाग्नि का पता तो चलता ही है, साथ ही साथ यह बात भी उभरकर सामने आती है कि उच्च वर्ग के लोग कितने नीच और कमीने हैं। वे अपने कर्मों से इतने गिरे हुए हैं कि शारीरिक सुख की प्राप्ति के लिए वे निम्न वर्ग की औरतों को ललचाई आँखों से देखते हैं, उनके लिए वे लार टपकते हैं ओर अवसर मिलते ही शरीर-सुख लुटने से नहीं चुकते। उस समय वे महिलायें अछूत और नीच नहीं रहती, क्योंकि उन्हें तृप्त जो करती हैं। पर जब वही उनके कुंए पर पानी लेने जाती हैं तो वे अछूत और नीच हो जाती है। यह कैसी विडम्बना ? डॉ. ज्ञानचन्द जी लिखते हैं कि–'ऊँच नीच के हमारे प्रतिमान कितने झूठे और बेमानी हैं–'इसका गहरा अहसास हमें गंगी के निजी अनुभव से होता है, जो यथार्थ की नग्न विसंगति को उदघाटित करता है'। एक बात और गंगी की तरह उच्च वर्ग की महिलायें भी अपने पुरुषों से पीड़ित हैं। गंगी और उच्च वर्ग की पानी भरने वाली महिलाओं के कथन में उच्च वर्ग के पुरुषों के प्रति आक्रोश और पीड़ा की झलक है। उनके अन्दर कहीं न कहीं 'मुक्ति की आकांक्षा' की तड़प है, जो पुरुष समाज की वास्तविकता को उजागर करती है।

यह कहानी रचना-विधान की दृष्टि से एक सशक्त और प्रभावशाली कहानी है। इसमें कथ्य को प्रमुखता दी गई है। क्योंकि लेखक का कहानी-लेखन का एकमात्र उद्देश्य था–ग्राम्य जीवन में जो कुछ घटित हो रहा है, उसे जन-जीवन के समक्ष प्रस्तुत करना। इसीलिए इस कहानी में चरित्रों को प्रमुखता न देकर गाँव की वास्तविकता और दलित-जाति पर किए गए जुल्मों की कथा को प्रमुखता दी गई है। कहानी के छोटे से कलेवर में साधारण सी घटना और मुख्यतया दो पात्र हैं। इसमें न तो अधिक घटनाएँ हैं, न ही अधिक प्रसंग-संदर्भ और न ही परिवेश का आज जैसी सघन 'विस्तार'। कथा की बुनावट में सहजता और घटना के बहाव में स्वभाविकता है। कहानी बड़े स्वभाविक गति से आगे बढ़ती हुई गाँव के भोले-भाले लोगों के जुल्म और दहशत की कथा कहती है। पर एक बात, कथाक्रम में कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक कहानी के बीच-बीच में स्वयं उपस्थित हो जाता है, पर ऐसा कुछ भी नहीं है। वे विभिन्न चरित्रों द्वारा कही गई बातें स्थिति और परिस्थिति का ऐसा रूप उपस्थित करती हैं, जो कथागत प्रभान्विति को और गंभीर बनाती हैं। गांव की विसंगतियाँ, विभिन्न संदर्भो, संकेतों, बिम्बों, प्रतीकों, स्थितियों एवं परिस्थितियों के दवाबों एवं द्वन्द्वों से उत्पन्न होती हैं। कथा संगठन में व्याप्त सहज विश्वसनीयता के बारे में ऐसा कहा जाता है कि इसमें लेखकीय आग्रह रचना पर हावी है, वरना गंगी एक लोटा पानी गाँव के किसी घर से मांगकर अपने बीमार पति को पिला सकती थी। पर यह शायद अनुचित होता। कारण–एक तो वह स्वाभिमानी और जागरूक नारी है, जो गाँव वालों की मानसिकता से भली-भांति परिचित है, दूसरे वह दलित जाति की है, तीसरे रात के नौ बजे, गंभीर अंधेरे और सन्नाटे में भयातुर गंगी ऊंची जाति वालों के यहाँ से पानी मांगकर लाने की बात सोच भी कैसे सकती थी, जबकि वह उनकी नियत से अच्छी तरह वाकिफ थी। जब दिन के उजाले में ही वे उसे बुरी नजरों से देखते हैं, तो रात के अंधेरे में न जाने उसे कौन सी कीमत चुकानी पड़ती, न जाने हैवानियत का कौन सा नजारा देखने को मिलता? अतः उसका पानी लेने न जाना ही तर्कसंगत लगता है। वैसे भी साधारणतया हम कई बार रात के समय अपने बराबर के पड़ोसी तक से कोई वस्तु मांगने से हिचकिचाते हैं। फिर उस बेचारी की क्या अवकात? अतः पानी मांगकर काम चलाने का प्रश्न उसकी मानसिकता और परिस्थिति दोनों के ही अनुकूल नहीं होता। अतः अपने बीमार पति के लिए चोरी करके पानी लाना ही रचनात्मक दृष्टि से युक्तिसंगत है। एक बात और, इस कहानी की अन्तिम पंक्ति को अगर हटा दिया जाय तो शायद कहानी में प्रभान्विति बढ़ जाती और पाठक को अनेक अटकलें लगाने पर विवश होना पड़ता है कि–गंगी के साथ आगे क्या हुआ? वह ठाकुर के चंगुल में फंसी या या बची? और कहानी एक साथ

अनेक प्रश्नों की यातना को अपने में समेटे पाठक को तिलमिला देती पर ऐसा नहीं हुआ क्योंकि प्रेमचन्द जी तो हमेशा अपनी कहानी को अन्जाम देना ही पसन्द करते थे।

'ठाकुर का कुआँ' कहानी भाषा–शैली की दृष्टि से प्रशंसनीय है। वैसे तो लेखक ने जन–साधारण की सामान्य भाषा को ही अपनाया है, पर थोड़े में अधिक अर्थ भरने वाले शब्द तथा सांकेतिक व्यंजना करने वाले वाक्यों का प्रयोग करके कहानी की शैली को अच्छी तरह परिष्कृत किया है। कहानी में प्रयुक्त भाषा का विशिष्ट व्यवहारिक रूप घटना और स्थितियों में जान डाल देता है। प्रेमचन्द जी के कहानी लेखन की शैली के संदर्भ में सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि– ''आमतौर से उनकी कहानियों में जो एक ठेठपन है, पाठक के हृदय में अपनी बात को सीधे उतार देने की जो ताकत है, वह उन्होंने हिन्दुस्तान के अक्षय ग्रामीण भण्डार से सीखी है। ...उनकी कहानियों में एक तरह का लोकरस है। ...जो बड़े–बड़े तकनीकवादियों के यहां तलाश करने पर भी नहीं मिलता है। जो यहाँ चरितार्थ होता है। विषय की पूरी पकड़ होने के कारण प्रस्तुत कहानी का शिल्प कहीं बिखरने नहीं पाया है। कहानी की शैली मुख्यत: वर्णनात्मक है। बीच में आए छोटे–छोटे संवाद और मुहावरे इसके मूल–शिल्प को शक्ति प्रदान करते हैं। कहीं–कहीं तो सामान्य से मुहावरे और शब्द–प्रयोग अर्थ और संवेदना दोनों को गहनता प्रदान करते हैं।

इस प्रकार संवेदना की गम्भीरता और शैली–शिल्प की सहजता के कारण 'ठाकुर का कुआँ' कहानी अपना अलग ही वैशिष्ट्य रखती है। हिन्दी जगत की कहानियों में निश्चय ही यह एक महत्त्वपूर्ण कहानी है।

महत्वपूर्ण स्थलों की व्याख्या

गंगी का विद्रोही दिल ..... परन्तु घमंड यह कि हम ऊंचे हैं।

प्रसंग–

प्रस्तुत अंश प्रेमचन्द जी की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' से उद्धृत है। प्रेमचन्द जो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं। इन्होंने अपनी कहानियों में जीवन की किसी न किसी सच्चाई को ही उजागर किया है। 'ठाकुर का कुआँ भी एक ऐसी ही कहानी है। कहानी के इस अंश में कहानी की नायिका गंगी कुएं की जगत के पीछे छिपकर बैठी मन ही मन सोचती है कि हम ऊँची जाति वालों के कुएं से पानी नहीं ले सकते, क्योंकि हम नीची जाति के हैं। वह सोचती हैं कि हम तो केवल कहने के लिए नीच जाति के हैं, पर वे तो कर्मों से भी नीच है। उसे दु:ख होता है कि ऊँच–नीच के ये प्रतिमान कितने झूठे और खोखले हैं। वह यथार्थ की ऐसी ही नग्न विसंगतियों को उद्घाटित करती हुई जो कुछ सोचती है, उसी का इस अंश में अंकन है।

व्याख्या–

कुएँ की जगत के पीछे छिपकर बैठी गंगी का मन विद्रोही हो उठा। वह सोचने लगी है कि इन उच्च वर्ग के लोगों ने हम निम्न वर्ग के लोगों पर अजीब रोक–ठोक लगा रखी है। हम निम्न वर्ग के हैं, इसीलिए इस गाँव के कुएँ से पानी नहीं ले सकते। अगर वास्तव में देखा जाय तो वे कहाँ से उच्च वर्ग के है? हम क्यों निम्न वर्ग के हैं 'क्या वे इसलिए उच्च वर्ग के हैं, क्योंकि उच्च वर्ग के प्रतीक कंठी माला उन्होंने गले में डाल रखी है? अगर इनके बारे में विचार किया जाय तो यहाँ जितने भी मिलेंगे वे सब एक से एक छटे हुए मिलेंगे। ये हर तरह के गुनाह करते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो इन गुनाहों को करने से बचा हो। ये चोरी करते हैं, जाल–साजी करते हैं, झूठे मुकदमें करते है और इसके बाद भी स्वयं को उच्च वर्ग का मानते हैं। उस दिन ठाकुर ने नीच कहे जाने वाले गडेरिए की बकरी चुरा ली और मारकर खा गये। ये चोरी करते हैं पर कहलाते हैं उच्च वर्ग के। हमारे पंडित जी जिनके घर में बारहों महीने जुआ चलता है, पर गले में कंठी पहनना नहीं भूलते, क्योंकि उच्च वर्ग का प्रतीक जो है। ठाकुर या पंडित जी की ही बात नहीं यहाँ के हर उच्च वर्ग कहलाने वाले व्यक्ति की एक ही हालत है। हमारे साहू जी को ही लीजिए। ये चीजें बेचते समय मिलावट करने से बाज नहीं आते। घी बेचते हैं तो उसमें तेल मिला देते हैं। हम नीची जाति वालों से

काम करा लेते हैं, पर उचित मजदूरी नहीं देते। उसके बाद भी बड़े उच्च स्वर में कहते हैं कि हम उच्च वर्ग के हैं। हम निम्न वर्ग के अवश्य हैं, पर हम ये सब निम्न कर्म तो नहीं करते? फिर ये किस दृष्टि से हमसे ऊँचे हैं। ये आपने आप को उच्च वर्ग और चरित्रवान होने का दावा करते हैं और हम निम्न वर्ग के होने के कारण हमसे नफरत। पर जब कभी हम गाँव में जाते हैं तो हमें बुरी नज़रों से देखते हैं। क्या उस समय हम निम्न जाति के नहीं रहते? भोग-विलास वे हमारे साथ कर सकते हैं–उस समय हम नीच जाति की नहीं रहती, पर जब कुएँ पर पानी लेने जाओ तो हम नीच जाति के हो जाते हैं। उस समय उनका उच्च वर्ग का होने का घमंड कहाँ चला जाता है–ये सब सोचकर गंगी का मन विद्रोही हो उठता है। कितना दोहरा जीवन जी रहे हैं ये। इस प्रकार वह वहाँ बैठे-बैठे ऊँची जाति वालों को बेनकाब करती है।

विशेष–

गंगी के उपयुर्क्त कथन में उसकी जागरूक चेतना और विद्रोही रूझान का पता तो चलता ही है, साथ ही साथ यह विडम्बना भी उभरकर आती है कि ये ऊँची जाति के लोग कितने नीच और कमीने हैं। भाषा इसकी सरल, सरस और मुहावरेदार है जो संवेदना को गम्भीर बनाने में सहायक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'ठाकुर का कुआँ' कहानी का सारांश लिखते हुए प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।
2. 'ठाकुर का कुआँ' कहानी के आधार पर समीक्षा कीजिए।
3. 'ठाकुर का कुआँ' कहानी अपने युग जीवन की झलक प्रस्तुत करती है –स्पष्ट कीजिए।
4. गंगी का चरित्र चित्रण कीजिए।

3. वापसी
उषा प्रियंवदा

– डॉ. शुभलक्ष्मी

उषा प्रियंवदा : जीवन परिचय

हिन्दी की महिला कहानी लेखिकाओं में उषा प्रियंवदा का शीर्ष स्थान है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. करने के बाद उन्होंने वहीं से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद वहीं पर अंग्रेजी विभाग में अध्ययन का कार्य भी किया। उन्होंने तीन वर्षों तक दिल्ली विश्वविद्यालय में 'लेडी श्रीराम' कॉलेज में भी अपने अध्यापन से छात्राओं का मार्ग निर्देशन किया। फुलब्राइट स्कॉलरशीप पाकर वे अमरीका गईं, जहाँ ब्लूमिंगटन और इंडियाना में दो वर्ष तक पोस्ट डॉक्टरल अध्ययन किया। आजकल वे विस्कांसिन विश्वविद्यालय, मैडीसन में दक्षिणेशियायी विभाग में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं।

साहित्यिक योगदान

लेखन के प्रति उषा प्रियंवदा की प्रारंभ से ही रुचि रही है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ छपती रही हैं। उनके प्रकाशित कहानी संग्रह हैं–जिंदगी और गुलाब के फूल, एक कोई दूसरा, कितना बड़ा झूठ, मेरी प्रिय कहानियाँ, पचपन खंभे लाल दीवारें, रूकोगी नहीं राधिका, शेष यात्रा उनके उपन्यास हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी कहानियाँ (अंग्रेजी में अनुवाद), मीराबाई सूरदास (अंग्रेजी में लिखित) महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। **कहानीकार के रूप में** उषा प्रियवंदा ने जहाँ एक ओर पारिवारिक संबंधों की उष्मा का अंकन किया है वहीं अंग्रेजी कथा साहित्य के गहन अध्ययन और चिंतन मनन की छाप भी उनकी रचनाओं में देखी जा सकती है। नई कहानी आन्दोलन से जुड़ी न होकर भी लेखिका ने अपने ढंग से व्यक्ति-जीवन को उसके परिवेश के साथ प्रस्तुत किया है। भारतीय परिवेश हो अथवा विदेश में रहकर भारतीय संस्कारों के कारण उत्पन्न विसंगतियाँ–उषा प्रियंवदा की कहानियों के सरोकार मानवीय संबंध ही रहे। स्त्री पुरुष संबंध, विश्वविद्यालय में शिक्षित नायिकाओं तथा कामकाजी नारी की समस्या, विदेश में रहने वाली नारियों की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थितियों का उन्होंने न केवल गहन अध्ययन किया, बल्कि कहानी के माध्यम से तत्संबंधी समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनकी कहानियों में प्रमुखतः आज की स्थिति में नारी की परिवर्तित भूमिका को स्थान मिला है। 'वापसी' कहानी में इससे अलग व्यक्ति की विवशता और मूल्यों के विघटन की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन उसका परिणाम नकारात्मक नहीं सकारात्मक दृष्टिकोण से युक्त है।

वापसी : कथा सार

यह कहानी पहली बार 'नई कहानियाँ' नामक पत्रिका में सन् 1960 में प्रकाशित हुई, जिसमें लेखिका ने तटस्थ भाव से यथार्थ को स्वीकारते हुए मानव संबंधों की 'आधुनिक' प्रस्तुति की है; जहाँ परिवार में व्यक्ति की भूमिका किसी भावात्मक आधार पर नहीं, वरन् उपयोगिता के आधार पर निश्चित होती है। स्वभाव से स्नेही गजाधर बाबू पैंतीस वर्ष के लंबे अंतराल तक रेलवे में नौकरी के बाद, सेवानिवृत्त होकर घर लौटते हैं। उनके मन में अपने 'घर' और 'घरवालों' के लिए मनोहर कल्पनाएँ हैं जिनके वशीभूत होकर, वे घर में 'मालिक' की हैसियत से घर के प्रत्येक सदस्य और क्रियाकलापों से जुड़ने का प्रयास करते हैं। लेकिन अपने परिवार में आने की जिस सुखद जीवन की कल्पना उन्होंने की थी, वही परिवार उन्हें एक अवांछित बोझ-सा महसूस करता है और कराता है। जैसे-तैसे करके पैसों का 'जुगाड़' कर उन्होंने जो मकान बनाया था, वह उनके लिए 'घर' न बन सका। वे तो यहाँ एक अवांछित बोझ से हैं, जिनके रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। ''जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबंध कर दिया जाता है उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर, बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गयी थी''। घर के सभी सदस्य-पत्नी, बेटी, बेटा, बहू

सभी का उनके प्रति उपेक्षा-भरा व्यवहार उन्हें हर कदम पर कचोटता है। घर में उनके आदेशों और सुझावों के प्रति रूखापन दिखाया जाता है। इतना ही नहीं उनके आने पर घर की व्यवस्था को फेर-बदल को लेकर उनका बड़ा बेटा अपने परिवार को लेकर कहीं और रहने की बात तक सोचने लगता है, जिसमें परोक्ष रूप से उनकी पत्नी का भी समर्थन है। बेटी को व्यर्थ घूमने फिरने से अलग हटाकर, उनके आदेश से रसोई का काम करने लगाया जाता है तो वह ऐसा खाना बनाती है कि ''एक कौर तक न निगला जा सके।''

गजाधर बाबू अपने रेलवे की नौकरी में क्वार्टर में रहते हुए, 'इंजिनों की चिंघाड़, रेल के पहियों की खट-खट, रामजी मिल के लोग और एक निश्चिन्त जीवन' को इस आस में जी रहे थे कि रिटायर होकर अपने घर में लोगों के साथ बाकी का जीवन बिताऐंगे, पर यहाँ से तो वहीं अच्छा था' का भाव उनमें मन में धीरे-धीरे प्रबल होने लगता है। उन्हें प्रतीत होता है कि 'वह जिंदगी से ठगे गए हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, उसमें से उन्हें एक बूँद भी न मिली।'' अमर के कहने पर– 'बूढ़े आदमी हैं, चुपचाप पड़े रहें। हर चीज़ में दखल क्यों देते हैं''–के उत्तर में पत्नी भी उसकी हाँ में हाँ मिलाती है, जो गजाधर बाबू के मन की कसक को और बड़ा देता है। अंततः वे इस सबसे दूर जाने का निर्णय करते हैं और सेठ रामजी की चीनी मिल में नौकरी तलाश लेते हैं। पत्नी 'सयानी लड़की और बड़ी गृहस्थी 'को न छोड़ने की लाचारी दिखाती हैं और गजाधर बाबू फिर से उस 'घर' से कहीं दूर अपनेपन की खोज में निकल पड़ते हैं।

कहानी यहीं समाप्त नहीं होती है। उनके जाने के बाद घर में सदस्यों की उसी पुराने माहौल को लौटाने की तत्परता, माँ का कहना– ''अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने लायक जगह नहीं है''। वातावरण को और भी बोझल बना देता है। त्रासदी का यह रूप अनजाना नहीं है। लेकिन, ऐसा लगता है कि सभी इसे जानकर भी नहीं जान पा रहे हैं।

समीक्षा

प्रस्तुत कहानी का कथानक लंबा चौड़ा नहीं है। प्रारंभ में गजाधर बाबू सेवानिवृत्त होने पर अपने थोड़े से सामान और अपार स्नेह और माधुर्य से जुड़े अपनत्व के भावों को लेकर अपने 'घर' आते हैं। अब तक उन्होंने एकाकीपन का नीरस जीवन ही जिया था सो वे घर-परिवार में साथ रहकर सुख भोगने का स्वप्न साकार होते देखना चाहते हैं, लेकिन घर की व्यवस्था में वे स्वयं को 'मिसफिट' ही पाते हैं। इससे उनके 'स्नेह के आकांक्षी' मन को बहुत ठोस लगती है। अब न तो उनकी पत्नी ही उनसे पूर्ववत् प्रेम करती है और न ही उनके पुत्र और पुत्री उनके प्रेम का प्रतिदान कर पाते हैं। कहानी में **संघर्ष** उनके घर में प्रविष्ट होने के साथ ही प्रारंभ हो जाता है उनका परिवार के सदस्यों की 'महफिल' में 'बिना खाँसे चले आना'–सभी को अरुचिकर लगता है। नरेन्द्र, जो पिछली रात देखी हुई फिल्म के किसी नृत्य की नकल कर रहा था, उन्हें देखते ही घप् से बैठ जाता है। बसन्ती उन्हें देखने ही अपनी हँसी दबने का प्रयास करती है। बहू जल्दी से माथा ढककर वहाँ से जाने का प्रयास करती है। सभी उन्हें देखते ही कुंठित और खिन्न हो जाते हैं, जैसे कोई अपरिचित व्यक्ति अचानक उनके बीच आ गया हो।

बाबूजी बसंती और नरेन्द्र को अनुशासित करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार ये दोनों ही समय और पैसे के महत्त्व को नहीं जानते हैं। लेकिन वे घर में जिस नियम को लागू करने का प्रयास करते हैं उसी में 'फेल' हो जाते हैं। वह घर और घर के सदस्यों में फैली अव्यवस्था को वे सुव्यवस्थित करना चाहते हैं लेकिन उन्हें तब मर्मान्तक पीड़ा होती है, जब वे यह पाते हैं कि उनकी अपनी पत्नी भी उनके साथ नहीं है। उनके सेवा निवृत्त होने पर घर की आमदनी में कमी आई है, यह सोचकर जब वे घर के नौकर को निकाल देते हैं, तो सभी एक सुर में उनका विरोध करते हैं। यह कहानी की **चरमसीमा** है। आहत हो वे फिर से बाहर नौकरी ढूँढकर, इस आशा के साथ–कि पत्नी तो कम से कम आज उनके साथ चलेगी– वे उसे अपने बाहर जाने की सूचना देते हैं। लेकिन पत्नी का उत्तर सुनकर, वे ठीक है, तुम यहीं रहो, मैंने तो ऐसे ही कहा था''–कहकर अपनी पीड़ा को दबा लेते हैं। यह कहानी का **अंत** हो सकता है लेकिन इससे कहानी का व्यंग्य अधूरा रह जाता,

इसलिए लेखिका ने अंतिम परिच्छेद में घर के बाकी सदस्यों की घर के सामान को पूर्ववत् रखने की तत्परता का जो वर्णन किया है, वह आज का कड़वा सच है।

संवेदना

भारत-पाक विभाजन के अनेक दुष्परिणामों में मानवीय मूल्यों का ह्रास भी था जिसके कारण पारिवारिक संबंधों के मध्य दरारें बढ़ती जा रही थीं। गजाधर बाबू का अपने परिवार के साथ मिलकर सेवानिवृत्त जीवन बिताने का मधुर स्वप्न जल्द ही टूट जाता है। परिवार के सदस्यों का उनके प्रति व्यवहार उन्हें यह अहसास करा देता है कि वह 'जिन्दगी द्वारा ठगे गए हैं।' कहानी की यह संवेदना नये सामाजिक संदर्भ की उपज है। आज सामाजिक संबंधों में इतना अधिक परिवर्तन आ चुका है कि पारिवारिक संबंध शिष्टाचार का निर्वाह मात्र बन गए हैं। जिस व्यक्ति के कारण 'पत्नी' माँग में सिन्दूर भरने की अधिकारिणी है, 'उसके सामने वह दो वक्त का भोजन रख देने से सारे कर्त्तव्यों से छुट्टी पा जाती है।' संबंधहीनता की यह स्थिति व्यक्ति की आत्मपरकता की ओर इंगित करती है। अपने ही घर में उनका अस्तित्व उसी तरह **असंगत** है जैसे कि 'सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई'। गजाधर बाबू की विडम्बना यह है कि उन्हें परिवार में अजनबी बनाने में परिवार के अन्य सदस्यों के साथ उनकी पत्नी का भी पूरा योगदान है। उनकी पत्नी अब केवल 'माँ' है, जो परिवार में अपने बच्चों के साथ इस हद तक स्वीकार्य हो चुकी है कि पति की मानसिकता को समझने की वह आवश्यकता ही अनुभव नहीं करती। उनका आहत अहं यह अनुभव करता है कि 'वह पत्नी और बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित-मात्र हैं। अन्य सभी बातों वे जूझ सकते हैं लेकिन पति के प्रति पत्नी की यह उदासीनता गजाधर बाबू की सहनशक्ति से परे है और इसीलिए वे पलायन की ओर उन्मुख होते हैं। यूँ भी 'किसी स्थिति के हठवश संघर्ष करने की अपेक्षा कुछ समय के लिए हट जाना ज्यादा समझदारी है।' (डॉ. नामवरसिंह)

गजाधर बाबू की यह पीड़ा आर्थिक और सामाजिक दोनों स्थितियों के बदलाव का परिणाम है। वे रिटायर होने के कारण उस घर में आर्थिक दृष्टि से 'फालतू' तो हो ही गए हैं, उससे बड़ी बात है कि अभी भी 'अपने ढ़ंग से' परिवार को देखना चाहते हैं और परिवार को यह पसन्द नहीं है। अत: जैसे ही पता चलता है कि उन्होंने फिर से बाहर नौकरी पर जाने का निश्चय कर लिया है, परिवार के सदस्य निश्चिन्तता की सांस लेते हैं और उनकी पत्नी सहित तभी पुराने माहौल को लौटा लाने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। परिवार की अपनी व्यवस्था और मूल्यवत्ता में 'पुराने' मूल्य अस्वीकृत और बहिष्कृत हो जाते हैं। ''अरे नरेन्द्र बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने की जगह नहीं''– में गजाधर बाबू की अनुपस्थिति के प्रति सहज स्वीकारोक्ति है।

कहानी में गजाधर बाबू आदर्शवादी रूमानियत से यथार्थ की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य हैं। उनके **'अकेलेपन'** को जिस रूप में चित्रित किया गया है, वह वर्तमान सामाजिक चेतना का ही एक अंग है। ''क्योंकि यहाँ अकेलापन समाज से कटकर व्यक्ति का अकेलापन नहीं, समाज के बीच होने का अकेलापन है। इस रिटायर्ड आदमी का अकेलापन जैसे अपरिहार्य है–अकेलेपन से निकलना चाहते हुए भी वह फिर से उसी अकेलेपन में वापस जाने के लिए लाचार है।'' (डॉ. नाम्बरसिंह) उषा प्रियंवदा के पात्र प्राय: इस अकेलेपन से जूझते हैं।'' स्वयं उनका भी यह कहना है–**मैं स्वयं एक बहुत 'प्राइवेट परसन' हूँ और गहरे मित्र बनाने में मुझे समय लगता है। शायद मेरे पात्रों के अकेलेपन में, मेरी इस दृष्टि और प्रवृत्ति का प्रभाव लगता है।''** इस कहानी की पृष्ठभूमि भी लेखिका ने इस तरह उजागर की थी– ''वापसी लिखते हुए मेरे मन में केवल दो दृश्य धुंधले, अस्पष्ट थे। बचपन में स्टेशन के पास बिताई गई गर्मियों की छुट्टियों की याद और वह प्रौढ़, थके, बुझे से व्यक्ति, जिन्होंने कई शामें मेरी माँ के पास अपने बच्चों की 'केयरलैसनैस' और लापरवाही का रोना रोते हुए बिताई थीं''। यहाँ कहानी में कोई भी खल-पात्र नहीं है। बस एक 'दूरी' है जो गजाधर बाबू के लंबे समय तक घर से बाहर बने रहने के कारण 'उग' आई है और घर के प्रत्येक सदस्य ने खुद को उसके अनुरूप

इस तरह ढाल लिया है कि केवल गजाधर बाबू ही वहाँ 'मिसफिट' रह जाते हैं। उनका समझौतावादी दृष्टिकोण भी अपनी भरसक चेष्टा के बावजूद उन्हें बाकी सदस्यों के साथ 'फिट' करने में सफल न हो सका। फलतः वे **'व्यर्थता-बोध** से ग्रस्त होकर फिर से बाहर नौकरी करने के लिए बाध्य होते हैं। डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री ने इस कहानी के संदर्भ में एक स्थल पर लिखा है–''वापसी कहानी आधुनिकता के बीच उभरते अकेलेपन की विवशता की ही बात नहीं उठाती, अपितु नई कहानी के लिए एक अमूल्य देन है, जो ...पुराने मूल्यों की वापसी और एक नए मार्ग की ओर अग्रसर होने की कहानी है।''

गजाधर बाबू : चरित्र की दृष्टि से :

गजाधर बाबू 'वापसी' कहानी के केन्द्रीय पात्र हैं। उनका चरित्र कहानी के कथ्य से जुड़ा है। वे **स्नेही** व्यक्ति है और **स्नेह के आकांक्षी** भी। प्रारंभ से ही वे अपने परिवार को अत्यंत स्नेह देने आए हैं। ''जब परिवार साथ था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हँसते-बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते। इसी प्रकार उन्होंने नौकरी करते हुए रेलवे-क्वार्टर के आसपास सभी के साथ स्नेह-संबंध जोड़ लिया था। छोटे-बड़े सभी उनके सामीप्य के आकांक्षी थे। गणेशी तो उनके मन के भावों को इतना समझता था, कि उनके कहे बिना ही उनके सामने खान-पान की सामग्री लाकर रख देता था। जलेबी और चाय उनका मनपसंद नाश्ता था। और ''चाय भी कितनी बढ़िया काँच के गिलास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी, और गाढ़ी मलाई''।

गजाधर बाबू अपनी पत्नी से बहुत प्रेम करते हैं। प्रारंभ से ही उन्होंने उसकी हर छोटी बड़ी इच्छा का आदर किया और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन्हें पूरा करने का भी प्रयास किया। रेलवे के क्वार्टर में रहते हुए पत्नी की लावण्यमयी छवि उनके अकेलेपन में सदैव साथ देती रही। 'कवि-प्रकृति' के नहीं थे लेकिन पत्नी की कोमल-स्मृति उन्हें अपार सुख और संतोष देती है। ''दोपहर में, गर्मी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाए रहती और उनके स्टेशन से वापिस आने पर गरम-गरम रोटियाँ सेकती उनके खा चुकने और मना करने पर भी थोड़ा सा कुछ और थाली में परोस देती और बड़े प्यार से आग्रह करती। 'इतना ही नहीं बाहर से थके-हारे' आने पर अपनी सलज मुस्कुराती आँखों से उनकी थकान दूर करने का प्रयास करती। यही छवि उनके मन में इतनी गहन थी कि लंबे अंतराल के बाद भी वे पत्नी के इसी रूप को मन में संजोए हुए, उससे इसी प्रकार के व्यवहार की आशा करते थे। लेकिन वापिस घर आने के बाद उन्हें यह देखकर बहुत धक्का लगा कि उनकी पत्नी अब पूरी तरह से केवल 'बच्चों की माँ, ही रह गयी है। अपने पति के प्रति उसके मन में केवल दो समय खाना देने के अतिरिक्त जैसे अन्य कोई भाव या विचार है ही नहीं। यूँ वह घर में बहुत अधिक सुखी हो या संतोषमय जीवन जी रही हो-ऐसा नहीं है। बहू हो या बसन्ती, नरेन्द्र हो या फिर घर का नौकर–सभी से उन्हें शिकायत है। बहू को रसोई की जिम्मेदारी नहीं सौंप सकती क्योंकि वह 15 दिन का राशन पाँच दिन में ही खत्म कर देती है। बसन्ती को सदा बाहर जाने का बहाना चाहिए। नरेन्द्र उनके कहने में है ही नहीं और नौकर कामचोर है बाजार की हर चीज में पैसा बचाता है।'' पत्नी अगर अपनी इन शिकायतों तथा अन्य समस्याओं को गजाध र बाबू के साथ बैठकर सुलझाने का प्रयास करती तो उन्हें संतोष होता और साथ ही कोई न कोई मार्ग वे अवश्य निकाल लेते। लेकिन वह तो केवल अपने मन की बात कहकर चल देती है। किसी बात का गजाधर बाबू पर क्या असर होता है वह तो यह भी जानने की आवश्यकता अनुभव नहीं करती है। जब बसन्ती, अमर या नरेन्द्र उनकी बात नहीं मानते तो उन्हें इतना दुःख नहीं होता, जितना पत्नी के उनके प्रति भावहीन होने से होता है। पुनः नौकरी पर बाहर जाने की स्थिति में उनके मन में एक क्षीण आशा रहती है कि संभवतः उनकी पत्नी उनके साथ जाना चाहे, इसलिए वे केवल इतना ही पूछते हैं– ''.....तुम भी चलोगी?'' और पत्नी के अधूरे उत्तर से ही वे उसकी मंशा समझ जाते हैं और फिर से अकेले ही निकल पड़ते हैं, किसी अनजान सुख की तलाश में।

गजाधर बाबू ने सदैव प्रयत्न किया कि वे बच्चों के लिए आदर्श पिता सिद्ध हो सके। इसीलिए जब वे सेवानिवृत होकर वापिस लौटते हैं तो बच्चों में उन्हीं की तरह घुल मिलकर रहने का प्रयत्न करते हैं लेकिन लंबे

समय तक दूर रहे पिता साथ मिलकर रहने में उनकी कोई रुचि नहीं है। गजाधर बाबू जब भी उनके साथ बैठकर उनके साथ बातचीत करने का प्रयत्न करते हैं, सभी एक-एक करके वहाँ से चले जाते हैं। वस्तुतः धन के अतिरिक्त घर के मुखिया के प्रति वे किसी प्रकार की 'आत्मीयता' प्रदर्शित ही नहीं करना चाहते और न ही किसी जिम्मेदारी से बँधना चाहते हैं।

यथार्थ में इस कड़वे घूँट को पीकर भी गजाधर बाबू का **मनोबल** टूटता नहीं है। भले ही घर के सदस्यों ने उन्हें पूरी तरह निराश किया हो, लेकिन अब भी उनमें इतना साहस है कि वे उनसे अलग होकर, अपने जीवन को अपने ढंग से जीने का प्रयत्न करें। निराशा उन्हें कुछ समय के लिए तोड़ती अवश्य है, लेकिन वे फिर से अपने ही दम पर जीवन जीने के लिए उस घर से 'वापिस' अपने **कर्मक्षेत्र** की ओर चल पड़ते हैं। प्रेमचंद ने एक स्थल पर लिखा है–''मानव-जीवन में लाग (लगन) बड़े महत्त्व की वस्तु है, जिसमें 'लाग' है, वह बूढ़ा भी जवान है।'' गजाधर बाबू इसी 'लाग' के सहाने अपने जीवन नौका को अपने ही दम पर आगे की ओर बढ़ाने के लिए तैयार हो घर से निकल पड़ते है।

शिल्प

उषा प्रियंवदा की कहानियों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि उनकी कहानियाँ जैसे प्रत्यक्ष घटना और दृश्य पर आधारित हों। कहानी का प्रारंभ तो चित्रात्मक शैली में है ही, उनका घर में प्रवेश चित्रात्मकता का अनूठा उदाहरण है, जब उनके कमरे में प्रवेश करते ही–''नरेन्द्र धप्प से बैठ गया और चाय का प्याला मुँह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढक लिया। केवल बसन्ती का शरीर रह-रहकर हँसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा''। इसी प्रकार पत्नी की प्रतीक्षा में वे अकेले बैठे हैं तो पत्नी का उन्हें देखकर चौंकना–''अरे आप अकेले बैठे हैं?'' –कहानी में नाटकीयता के साथ रोचकता को भी समृद्ध करता है। **भाषा की व्यंजक योग्यता** का कहानी में सर्वत्र प्रयोग हुआ है। रेलवे क्वार्टर छोड़ते हुए गजाधर बाबू की मानसिकता कुछ यूँ व्यक्त हुई है– ''रेलवे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने ही वर्ष बिताए थे, उनका समान हट जाने से कुरूप और भद्दा लग रहा था। आँगन में रोपे गए पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गए थे, वहाँ जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया''।

भाषा की व्यंजकता के द्वारा अनेक स्थलों पर पात्रों की चारित्रिक विशेषता को भी उभारा गया है–

''इसी आशा के सहारे वह अपने अभावों का बोझ ढो रहे थे।''

''गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे, और स्नेह के आकांक्षी भी''।

''अशुद्ध स्तुति करते हुए तुलसी में डाल दिया'' (पत्नी)

''उन्होंने नाक-भौं चढ़कर चारों ओर झूठे बर्तनों को देखा''।

''उन्हें लगा कि वह जिंदगी द्वारा ठगे गए हैं''।

''जो कुछ चाहा उसमें से एक बूंद भी न मिली''।

''वार्तालाप बहुत सीधा था, पर जिस टोन में बहू बोली, गजाधर बाबू को खटक गया''।

इस प्रकार अनेक दृश्यों, संवादों द्वारा पात्रों की आंतरिकता का संवेदनापूर्ण संकेत कहानी के कथ्य को आदि से अंत तक प्रस्तुत करता है। इस कहानी की यह विशेषता है कि यहाँ लेखिका ने मूल भाव को बिना किसी अतिरिक्त भावुकता के, सहज और सीधी-सादी भाषा शैली के माध्यम से गहन और मार्मिक प्रभाव के साथ प्रस्तुत किया है।

व्याख्या भाग

1. **''रेलवे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने ही वर्ष बिताए थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और भद्दा लग रहा था। आँगन में रोपे पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गए थे, वहाँ जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया''।**

प्रसंग

प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी साहित्य की प्रमुख कहानीकार तथा प्रियंवदा द्वारा लिखित 'वापसी' कहानी में से ली गई हैं। कहानी के प्रारंभ में गजाधर बाबू सेवानिवृत्त होने के बाद रेलवे क्वार्टर को खाली करके अपने घर जाने की तैयारी करते हैं, तो उनके मन में अनेक विचार आते हैं, जिनका यहाँ प्रस्तुतीकरण हुआ है।

व्याख्या

गजाधर बाबू ने घर से दूर रेलवे के जिस क्वार्टर में पैंतीस वर्ष बिताए थे, वही स्थान जब उन्हें खाली करना था, क्योंकि वह अब सेवानिवृत्त हो गए थे। व्यक्ति जब कहीं रहता है, भले ही वह उसका अपना न हो, फिर भी उस स्थान से उसका भावात्मक संबंध स्थापित हो जाता है। फिर गजाधर बाबू ने तो यहाँ पैंतीस वर्ष बिताए थे। जब तक वह यहाँ रहे थे उनका सामान कमरे को 'घर' बनाए हुए था, लेकिन अब सारा सामान बँध चुका था तो वह कमरा भद्दा दिखाई दे रहा था, क्योंकि चारों ओर खाली दीवारें ही तो रह गई थीं। अपने आस-पास के वातावरण को समृद्ध बनाने के लिए उन्होंने जो पौधे लगाए थे, उन्हें भी जान-पहचान वाले उनकी स्मृति के रूप में अपने पास रखने को उखाड़ कर ले गए थे। इन पौधों के उखाड़े जाने के कारण, जड़ के आस-पास की मिट्टी चारों तरफ फैल गई थी। यह देखकर गजाधर बाबू के मन में यहाँ से जाने की पीड़ा और भी बढ़ गई थी, लेकिन अब वे अपनी पत्नी और बच्चों सहित अपने परिवार में रहेंगे, इस सुखद भावना ने यहाँ से जाने की पीड़ा को कम कर दिया था। अर्थात् अपने परिवार से मिलने का सुख यहाँ से अलग होने की पीड़ा से बड़ा था, अतः उनके मन में एक प्रकार का संतोष भाव जागृत हो गया था।

विशेष

प्रस्तुत पंक्तियों में कहानी के केन्द्रीय पात्र गजाधर बाबू की मानसिकता को प्रस्तुत किया गया है। कोमलकांत भाषा के सहज प्रयोग ने पात्र की आंतरिकता को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया है। साथ ही चित्रात्मक शैली कहानी के मूल भाव को प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध हुई है।

2. **''जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबंध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर के लिए पतली सी चारपाई डाल दी गई थी। गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े, कभी-कभी अनायास ही इस अस्थायीत्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और लक्ष्य की ओर चली जातीं''।**

प्रसंग

उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी में एक सेवानिवृत्त व्यक्ति के घर वापिस लौटने के बाद की परिस्थितियों का यथार्थ और मार्मिक अंकन है। गजाधर बाबू की ही धनराशि से बने घर में उनकी क्या स्थिति है, इसका चित्रण प्रस्तुत पंक्तियों में मिलता है।

व्याख्या

गजाधर बाबू जब सेवानिवृत्त होकर घर में लौटते हैं तो पाते हैं कि उनके तीन कमरों वाले घर में उनके लिए स्थान निकालना कठिन हो रहा था, अतः उनकी पतली चारपाई (जो ज्यादा स्थान न घेरे) बैठक में ही

एक कोने में डाल दी गई थी। उसे देखकर उन्हें 'अस्थायित्व' का अनुभव होने लगा था। बैठक तो बैठने का स्थान है वहाँ चारपाई का डालना मानो थोड़े समय के लिए ही था जैसे रेलवे स्टेशन पर रेलगाड़ी आती है और थोड़ी देर रुककर फिर अगले स्टेशन की ओर बढ़ जाती है। स्टेशन उसका गंतव्य (मंजिल) नहीं है, वह रास्ता है जहाँ उसे थोड़ी ही देर रुकना है। इसी प्रकार गजाधर बाबू को लगता था कि वे यहाँ अधिक देर तक नहीं रुक सकते। यूँ उन्होंने प्रयत्न किया कि किसी तरह घर के बाकी सदस्यों के साथ घुलमिलकर रह सकें, पर सभी अपने जीवन को अपने ही ढंग से जीने के इतने आदी हो चुके थे कि कोई भी उनकी उपस्थिति से प्रसन्न नहीं था।

विशेष

कहानी के मुख्य पात्र की मानसिकता को रेलगाड़ी की उपमा से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भाषा सरल, सहज, कोमल और प्रवाहमयी है।

बच्चन की आत्मकथा

(हरिवंशराय बच्चन)

डॉ. बृज किशोर वशिष्ट

लेखक परिचय

27 नवंबर 1907 को इलाहाबाद में हरिवंशराय बच्चन का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ। बच्चन इनका बचपन में घर का पुकारु नाम था जिसे बाद में इन्होंने सदैव के लिए अपने नाम के साथ जोड़ लिया। इन्होंने 1925 में हाई स्कूल पास किया। 1929 में इन्होंने बी.ए. किया। वे 1941 से 1952 तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के लेक्चरर रहे। सन् 1952 से 1954 तक उन्होंने इंग्लैंड के केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि 'ईट्स' पर पी.एच.डी. की उपाधि हेतु शोध कार्य किया। इसके बाद उन्होंने कुछ समय तक आकाशवाणी में कार्य किया। सन् 1955 में भारत सरकार ने उन्हें विदेश मंत्रालय में हिंदी विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया। इसके दस साल बाद राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने इन्हें राज्यसभा के सदस्य के रूप में मनोनीत किया।

बच्चन ने अनेक विधाओं में लेखन कार्य किया। अंग्रेजी के विद्वान होने के बावजूद वे हिंदी के घोर पक्षधर थे। 12 वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी पहली रचना लिखी। उनको ख्याति 1934 में प्रकाशित 'मधुशाला' से मिली। सन् 1930 के आसपास इन्होंने नियमित लेखन कार्य आरंभ किया और सन् 1985 में स्वास्थ्यगत कारणों से इनका लेखन कार्य शिथिल हुआ। 18 जनवरी 2003 को मुंबई में इनका निधन हुआ। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

काव्य

तेरा हार (1932), मधुशाला (1934), मधुबाला (1936), मधुकलश (1937), निशा निमंत्रण (1938), एकांत संगीत (1939), आकुल अंतर (1943), सतरंगिनी (1945), हलाहल (1946), बंगाल का काल (1946), खादी के फूल (1948), सूत की माला (1948), मिलनयामिनी (1950), प्रणयपत्रिका (1955), धार के इधर-उधर (1957), आरती और अंगारे (1958), बुद्ध और नाचघर (1958), त्रिभंगिमा (1961), चार खेमें चौंसठ खूँटे (1962), दो चट्टानें (1965), बहुत दिन बीते (1967), कटती प्रतिमाओं की आवाज़ (1967), उभरते प्रतिमानों के रूप (1969), जाल समेटा (1973)।

गद्य

कवियों में सौम्य पंत (1960) (निबंध), नए-पुराने झरोखे (1962) (निबंध), टूटी-फूटी कड़ियाँ (निबंध), 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977) और 'दशद्वार से सोपान तक' (1985) (चार भागों में आत्मकथा)

अनुवाद

खैयाम की मधुशाला (1935), मैकबेथ (1957), जनगीता (1958), आथेलो (1959), उमर खैयाम की रुबाइयाँ (1959), चौंसठ रूसी कविताएँ (1964), नागरगीता (1965), हेमलेट (1969), किंगलियर (1972)

शोध

प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि ईट्स पर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी.एच.डी.

आत्मकथा का सार

आत्मकथा का आरंभ लेखक के पूर्वज 'मनसा' की कथा से होता है। मनसा परतापगढ़ जिले के बाबूपट्टी गाँव के निवासी थे। निर्धन और निस्संतान मनसा के रामानंद संप्रदाय के एक संत के आशीर्वाद से तीन लड़के हुए। मनसा की छठी पीढ़ी में लेखक के पिता का जन्म हुआ। लेखक के परबाबा का नाम मिट्ठूलाल था। उनकी बहन का नाम राधा था। वह जवानी में ही विधवा होकर सदा के लिए मायके आ गई थी। उनके प्रसंग में लेखक ने विधवा की दुर्दशा की तरफ संकेत किया है। लेखक के परबाबा मिट्ठूलाल नायब कोतवाल या कोतवाल के नायब थे। वे शारीरिक रूप से बहुत हृष्ट-पुष्ट थे। उनके पुत्र का नाम भोलानाथ था। भोलानाथ कद में छोटे लेकिन शरीर से मजबूत थे। मरते समय मिट्ठूलाल ने अपने पुत्र भोलानाथ से यह वचन लिया कि वह राधा की बेटी महारानी का विवाह करेगा। भोलानाथ ने पिता से किए अपने वचन को निभाया और आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद महारानी का विवाह किया लेकिन दुर्भाग्य से वह भी कुछ समय बाद ही वैधव्य दु:ख से पीड़ित होकर उन्हीं के पास वापस आ गई। भोलानाथ बाद में ललितपुर जेल में दारोगा बने। भोलानाथ के पुत्र प्रतापनारायण का विवाह मुंशी ईश्वरी प्रसाद की पुत्री सुरसती से हुआ। प्रतापनारायण 'पायनियर' में क्लर्क थे। इन्हीं के घर 27 नवंबर 1907 को छठी संतान के रूप में हरिवंश राय का जन्म हुआ। घर में इन्हें बच्चन बुलाते थे। इसी नाम को बाद में लेखक ने अपने नाम के साथ जोड़ लिया। बच्चन को बचपन से ही पढ़ने का शौक था। जहाँ छोटे बच्चे खेलते हुए अपना समय बिताते थे वही बच्चन एकांत में बैठकर पढ़ने में लगे रहते थे। युवावस्था की तरफ बढ़ते हुए बच्चन ने अपने एक मित्र कर्कल का वर्णन किया है। उनका कथन है, ''कर्कल का सान्निध्य मुझे न मिलता तो शायद मैं वह न बन पाता, जो मैं बन सका।'' कर्कल का चंपा से विवाह हो जाने के बाद भी इनके संबंधों में कोई अंतर नहीं आया बल्कि वह इन दोनों के और अधिक निकट आ गए। कुछ समय के बाद बीमारी की वजह से कर्कल का देहांत हो गया। चंपा और बच्चन के संबंधों पर भी समाज में ऊंगली उठी। बच्चन दसवीं में फेल हो गए और चंपा हमेशा के लिए अपने मायके चली गई।

मई 1926 में उन्नीस साल की उम्र में बच्चन का विवाह चौदह साल की श्यामा के साथ हुआ। बच्चन ने श्यामा का नाम 'ज्वाय' रखा। श्यामा अपनी माँ की क्षय रोग में सेवा करते-करते खुद भी बीमार रहने लगी। इस बीच आर्थिक अभावों से जूझते हुए लेखक ने बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। बच्चन और श्यामा में बहुत प्यार था। बीमार श्यामा का गौना कराके बच्चन उसे अपने घर ले आया। उसे ज्वर रहता था। बच्चन ने उसकी बहुत सेवा की। इन्होंने इलाहाबाद हाईस्कूल में अध्यापक के रूप में कार्य करना आरंभ कर दिया। सन् 1933 की गर्मियों में 'रुबाइयत उमर खैयाम' का अनुवाद किया। सन् 1934 में मधुशाला प्रकाशित हुई और चारों तरफ कवि बच्चन की धूम मच गई। इस बीच एक बड़ी रोचक घटना घटी। गांधी जी से किसी ने शिकायत कर दी कि जिस सम्मेलन के आप सभापति हों, उसमें मदिरा का गुणगान किया जाए बड़े आश्चर्य की बात है। गांधी जी ने इन्हें बुलाया तथा दो रुबाइयाँ सुनी और बोले कि, ''इसमें तो मदिरा का गुणगान नहीं है।''

17 नवंबर 1936 को पत्नी श्यामा का देहांत हो गया। इस घटना से कवि बच्चन भीतर से कहीं टूट गया।

कुछ समय बाद जीवन का पहिया फिर चल निकला। अपने दु:ख को दूर करने के लिए बच्चन फिर से कवि सम्मेलनों में जाने लगे। कवि शमशेर बहादुर सिंह से मित्रता हुई। इस बीच छोटे भाई की पत्नी का भी देहांत हो गया। कुछ समय बाद पिता ने छोटे भाई की फिर से शादी कर दी। वे यह भी चाहते थे कि बच्चन की शादी भी दुबारा कर दी जाए। लेकिन बच्चन ने हँसकर इंकार कर दिया। पत्नी को खोने की उदासी उनके भीतर बनी रही। इसी मन:स्थिति के बीच द्वितीय श्रेणी में एम.ए. की परीक्षा पास की। विश्वविद्यालय में पढ़ाने की इच्छा मन में थी लेकिन प्रथम श्रेणी न आने के कारण वह धूमिल दिखाई देने लगी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष

अमरनाथ झा ने स्थायित्व के लिए एल.टी. या बी.टी. की ट्रेनिंग करने की आवश्यकता पर बल दिया। कमच्छा के ट्रेनिंग कॉलेज में दाखिला लिया। विश्वविद्यालय में अस्थाई अध्यापक के तौर पर पढ़ाने का अवसर मिला। विश्वविद्यालय के निकट किराए के मकान में ही रहने लगे। इसी साल सुमित्रानंदन पंत से भी मित्रता हुई और कुछ समय उनके साथ भी रहे। इसी बीच आइरिस नामक ईसाई महिला से मुलाकात हुई। एक समय यह मित्रता प्रेम में तब्दील हो गई लेकिन इन दोनों के बीच धर्म आड़े आ गया। बच्चन के पिता का देहांत भी इसी वर्ष हुआ।

सन् 1941 के अंतिम दिन बरेली में ज्ञानप्रकाश जौहरी के घर तेजी सूरी से बच्चन की मुलाकात हुई। पहली ही मुलाकात में दोनों ने हमेशा एक साथ रहने का फैसला कर लिया। 24 जनवरी, 1942 को दोनों विवाह के बंधन में बँध गए। मार्च 1942 में इंदिरा जी का विवाह हुआ, जिसमें बच्चन और उनकी पत्नी तेजी ने युगल गीत गाया। इंदिरा गांधी के परिवार के साथ उनका संबंध जीवनपर्यन्त बना रहा। 10 अक्तूबर 1942 को बड़े बेटे का जन्म हुआ। पंत जी ने अमिताभ नाम रखा। विवाह को अभी सोलह माह ही हुए थे कि बच्चन के मन में फौजी प्रशिक्षण लेने का विचार आया। 1943-44 में यूनिवर्सिटी अध्यापन के साथ-साथ फौजी प्रशिक्षण भी चला। बच्चन ने तेजी के स्वभाव और उनकी योग्यताओं का खुलकर बखान किया है। बच्चन उन पर पूरी तरह निर्भर थे। इस बीच किराए के मकानों को बदलने का सिलसिला चलता रहा। 1945 में बच्चन की माँ का भी स्वर्गवास हो गया। 18 मई 1947 को दूसरे पुत्र अजिताभ का जन्म हुआ। उसका नाम भी पंत जी ने ही रखा।

बच्चन ने अपनी आत्मकथा में समकालीन साहित्यिक परिदृश्य को भी अपनी आत्मकथा में स्थान दिया है। पंत और निराला के संबंधों की चर्चा करते हुए उनकी आपसी दुश्मनी को चित्रित किया है। बच्चन ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के अध्यापकों के स्वभाव और उनके पढ़ाने के तरीकों पर भी लिखा है।

बच्चन अंग्रेजी के कवि 'ईट्स' पर शोध कार्य करने के लिए इंग्लैंड जाना चाहते थे। अनेक प्रकार से प्रयास करने के बावजूद जब वे जरूरी पैसा जुटाने में असफल रहे तो तेजी के कहने पर वे जवाहरलाल नेहरू से मिले और उनकी सहायता से लंदन जाने का इंतजाम हुआ। 12 अप्रैल 1952 को वे लंदन के लिए रवाना हुए। 1954 में पीएच.डी. करने के बाद देश वापस लौटे। तेजी ने यहाँ पर इतने दिन अपने दम पर अकेले घर को संभाला था। बच्चन जब वापस पहुँचे तो देखा कि तेजी लगभग ब्रेकडाउन की हालत में थी और आर्थिक स्थिति बहुत बुरी थी। इसी दौरान पंडित नेहरु ने बच्चन को विदेश मंत्रालय में ऑफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी (हिंदी) के पद का निमंत्रण दिया, जिसे बच्चने ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यहाँ पर वेतन विश्वविद्यालय की नौकरी से अधिक था। तेजी ने बच्चों को नैनीताल के शेरवुड कॉलेज में पढ़ाने का फैसला लिया। बच्चन ने दस साल विदेश मंत्रालय में काम किया। यहाँ रहते हुए उन्होंने हिंदी को समृद्ध बनाने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण फैसले लिए।

बाद के पृष्ठों में बच्चन ने अपने बच्चों अमिताभ और अजिताभ के जीवन संघर्षों को चित्रित किया है। उन्होंने आरंभ में अमिताभ की लगातार असफल होती फिल्मों और उस समय की उनकी मानसिक अवस्था का विस्तार से वर्णन किया है। दोनों बेटों के बंबई चले जाने के कारण बच्चन भी कभी दिल्ली तो कभी बंबई आते-जाते रहे। अमिताभ ने जया से शादी की तो अजिताभ ने रमोला से। 4 जुलाई, 1985 तक जीवन में घटित घटनाओं को बच्चन ने इसमें स्थान दिया है। उस समय उनकी अवस्था 77 वर्ष, 7 महीने और सात दिन की थी। अतिसाधारण परिवार में हरिवंशराय बच्चन ने आत्मबल और परिश्रम के कारण जीवन में वह सब प्राप्त किया जिससे उनके जीवन को सफल जीवन की संज्ञा दी जा सकती है।

समीक्षा

आत्मकथा आत्म की अभिव्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ विधा है। इसमें लेखक अपने विशिष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध करता है और उन अनुभवों के माध्यम से लेखक और पाठक का सीधा संवाद होता है। अपनी जीवन यात्रा की

अभिव्यक्ति में वह अपने समय, अपने परिवेश और अपने संपर्क में आए लोगों को चित्रित करता है। वह अपने जीवन की एक-एक घटना को अपनी आत्मकथा में माला के मोती की तरह पिरोता है। आत्मकथा लेखक अपने बारे में जितना जानता है उतना कोई दूसरा प्रयत्न करने पर भी नहीं जान सकता। आत्मकथा लिखना एक तरह से अपने आपको पुनः जीना है। ऐसा करते समय वह अपने जीवन के हर सुख-दुःख से फिर एक बार मुलाकात करता है।

हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा हिंदी की सर्वाधिक सफल और महत्त्वपूर्ण आत्मकथा मानी जाती है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (सन् 1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (सन् 1970), 'बसेरे से दूर' (सन् 1977) और 'दशद्वार से सोपान तक' (सन् 1985) – चार भागों में विभाजित उनकी आत्मकथा इस विधा को नए शिखर पर ले गई। प्रथम खंड में बच्चन ने अपने बचपन से यौवन तक के चित्र खींचे हैं। द्वितीय भाग में आत्मविश्लेषणात्मक पद्धति को अधिक स्थान मिला है। तीसरे भाग में लेखक ने अपने विदेश प्रवास का वर्णन किया है तथा चौथे और अंतिम भाग में बच्चन ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों के अनुभवों को संचित किया है। अत्यंत विस्तृत होने के बावजूद बच्चन की आत्मकथा की विशेषता उसका सुव्यवस्थित होना है। उनके गद्य की भाषा सहज-सरल है।

विवेच्य पुस्तक 'बच्चन की आत्मकथा' बच्चन के उपर्युक्त चार आत्मकथात्मक खंडों का संक्षेपण है। अजित कुमार ने इन चार खंडों में विद्यमान बच्चन जी के महत्वपूर्ण जीवन प्रसंगों को इसमें संपादित किया है, हालाँकि पुस्तक की भूमिका में स्वयं उनका कथन है, ''प्रस्तुत संक्षेपण में संपादक ने पठनीयता और अन्विति को प्रमुखता दी है, मूल पाठ के क्रम को बनाए रखा है और अपनी ओर से उसमें कुछ भी नहीं जोड़ा। लेकिन बारह सौ पृष्ठों में से यदि हजार से ज्यादा पृष्ठ छोड़ दिए जाएँ – केवल एक सौ एकसठ पृष्ठ रखे जाएँ तो संपादक यह दावा नहीं करना चाहेगा कि उसने सब दाने यहाँ चुन लिए हैं। एक से एक नायाब मोती वहाँ छूट गए हैं। कितने ही स्थल, व्यक्ति, घटनाएँ और प्रसंग उन हजार पृष्ठों में इस प्रकार गुंफित हैं – चक, कटघर, कैम्ब्रिज आदि की छवियाँ, कर्कल, रजनीश, पिता की मृत्यु आदि से जुड़े अनुभव....बिरादरी द्वारा बहिष्कार, पंत जी से मुकदमेबाजी, देश-विदेश की यात्राएँ....न जाने कितना कुछ....कि संपादक यदि मूल रचना का पुनः संक्षेपण करे तो संभव है, इस पुस्तक से नितांत भिन्न एक और ही पुस्तक तैयार हो जाए, जो इसी की भाँति प्रीतिकर और बहुमूल्य हो।'' स्पष्ट है कि बच्चन की आत्मकथा का कैनवस बहुत व्यापक है। अजित कुमार का यह प्रयास इस अर्थ में बहुत प्रशंसनीय है कि पढ़ते समय एक बार भी यह प्रतीत नहीं होता कि किसी ऐसी रचना के टुकड़ों को पढ़ रहे हैं जिसको संक्षिप्त करते समय संपादक ने अपनी तरफ से एक भी पंक्ति नहीं जोड़ी है। **'बच्चन की आत्मकथा'** की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

सरल आत्मसंस्मरणात्मक शैली

बच्चन की आत्मकथा की शैली सहज-सरल शैली है। इसको पढ़कर पाठक के मन में जिज्ञासा का भाव जाग्रत होता है। आत्मकथा सृजन की प्रेरणा का काम करती है। अजित कुमार इस विषय में लिखते हैं कि, ''एक विरल गुण इसमें यह है कि इसके पाठक में यह इच्छा स्वाभाविक रूप से उठेगी कि वह भी आत्मकथा लिख दे। रचना में कुछ ऐसी सरलता, सहजता, स्वाभाविकता और निष्प्राणता है कि हरेक के मन में ख्याल उठेगा, अरे! आत्मकथा लिखना अगर इतना आसान है, तो मैं भी क्यों न लिख मारुँ! पर संभवतः यह एक तात्कालिक या आरंभिक प्रतिक्रिया भर होगी।'' (हरिवंश राय बच्चन की साहित्य साधना, सं.पुष्पा भारती, पृष्ठ-124) एक उदाहरण दृष्टव्य है– ''जब मैं आठ बरस का हो गया, मुझको मोहतशिमगंज म्यूनिसिपल स्कूल में डाला गया। पहले दिन स्कूल जाने की मुझे याद है। माँ ने मुझे साफ-धुले कपड़े पहनाए थे। हमारे पड़ोसी मंगल पंडित के पुत्र-परिवार के सदस्य समान-कर्कल दा मुझे स्कूल तक पहुँचाने गए थे। बगल में मैंने तख्ती, स्लेट दबा रखी थी, कलम मेरी जेब में थी, स्याही का बोदका हाथ में। मेरा दाखिला दर्जा एक में करा दिया गया। उसके पहले दो दर्जे होते थे–'अ' और 'ब'। स्कूल बंद होने का

समय आया तो कर्कल लिवाने आए। छुट्टी के बाद मुझे और छेड़ने का जो मौका मिलना था, उससे अपने को वंचित पाकर, लड़के कर्कल को छेड़ने-बनाने लगे, 'गोद में ले जाओ मुन्ना का, गोद में।' यह क्रम दो-चार रोज चला; फिर मैं अकेले स्कूल आने-जाने लगा। गाली देने वालों को गाली देना, छेड़-छाड़ करने वालों से छेड़-छाड़ करना, मार-पीट करने वालों से मार-पीट करना मैं भी सीख गया था।'' (पृष्ठ-14) उनकी शैली की स्वाभाविकता को सहज ही देखा जा सकता है। बच्चन ने लगभग नदी के पानी की सी बहती जिस अभिव्यक्ति शैली को अपनाया है वह उन्हें सहज ही नहीं मिल गया था। इसके बारे में अजित कुमार का कथन है कि, ''बच्चन जी को भी अपना शिल्प अनायास या अकस्मात नहीं मिल गया था। हिंदी के सजग पाठक इसे जानते होंगे कि पहले-पहल यह आत्मकथा विभिन्न पात्रों के द्वारा प्रथम पुरुष में लिखी जानी थी-इस तरह के दो-एक अध्याय, राधा-मनसा आदि को माध्यम बनाकर बच्चन जी ने प्रकाशित किए भी थे लेकिन बाद में उन्होंने आत्मकथा को आत्मकथा की विधि से लिखना उपयुक्त माना, ताकि आदि से अंत तक एक विन्यस्त शैली निभ सके।'' *(हरिवंश राय बच्चन की साहित्य साधना, सं.पुष्पा भारती,* पृष्ठ-125)।

अभिव्यक्ति की ईमानदारी

अभिव्यक्ति की ईमानदारी किसी भी आत्मकथा को प्रामाणिकता प्रदान करती है। जीवन के उजले और काले पक्षों की ईमानदार प्रस्तुति पूरी तटस्थता के साथ कोई विरला ही कर सकता है। इसी गुण के कारण कोई आत्मकथा विश्वसनीयता का दर्जा पा सकती है। बच्चन इस संदर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए पुस्तक की भूमिका में कहते हैं कि, ''पाठकों, यह किताब ईमानदारी के साथ लिखी गई है। मैं आपको पहले से ही आगाह कर दूँ कि इसके लिखने में मेरा एकमात्र लक्ष्य घरेलू अथवा निजी रहा है। इसके द्वारा पर-सेवा अथवा आत्म-श्लाघा का कोई विचार मेरे मन में नहीं है।'' 'हिंदी का गद्य साहित्य' में रामचंद्र तिवारी लिखते हैं कि, ''आत्मकथा की रचना के लिए खुला हुआ मन, जो अपनी समस्त दुर्बलता को स्वीकार कर सके, आवश्यक है।'' (पृष्ठ-195) इस दृष्टि से प्रस्तुत आत्मकथा को उत्कृष्ट कहा जा सकता है। बच्चन अपनी प्रशंसा में तो संकोची प्रतीत होते हैं लेकिन अपने मन की बात को वह बड़ी सहजता से बिना किसी संकोच के वर्णित करते हैं। इस आत्मकथा में आत्मस्वीकारोक्ति के उदाहरण यत्र-तत्र आसानी से देखे जा सकते हैं। जैसे अध्यापकीय पेशे को अपनाने के बारे में उनका कथन है, ''लगातार पूरे ग्यारह वर्ष मेरा नियमित कार्य और मेरे जीविकोपार्जन का मुख्य साधन अध्यापन था। किसी उदात्त आदर्शवादिता में अध्यापन को मिशन मानकर उसकी ओर उन्मुख होने की बात मैं कहूँगा तो झूठ बोलूँगा, सच्चाई इतनी ही है कि मैंने अध्यापन को रोटी कमाने के लिए एक ईमानदार, स्वच्छ और सुविधाजनक साधन के रूप में स्वीकार किया था। जिस साधन से अपनी जीविका चले, उसके प्रति आस्थावान होना बहुत पहले से मेरी व्यक्तिगत नैतिकता का अंग बन चुका था।'' (पृष्ठ-91) विनीता अग्रवाल ने बच्चन की आत्मकथा में अभिव्यक्त ईमानदारी पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि, ''आत्मकथाकार ने दंभ और दयनीयता दोनों से बचने की कोशिश की है। अपने जीवन अवरोधों एवं निजी इच्छाशक्ति की कथा कहते उसने साबित किया है कि न तो सारी परिस्थितियों ने दासी बनकर सब कुछ उसके अनुकूल किया है और न वह उनका दास बनकर जैसा परिस्थितियों ने चाहा, वैसा बना है। आत्मकथा में एक साधारण मनुष्य का जीवन असाधारण स्थितियों के साथ जीवित है। लोकनिंदा, भर्त्सना, आक्रोश, अभिशाप से युक्त जीवन जिसमें चंपा के विरह से दुखी, मैट्रिक में फेल परिवार की असहानुभूति के बीच यमुना के किनारे निकलने की कथा भी शामिल है, लेखक निस्संकोच रखता है।'' *(हिंदी आत्मकथाएँ-सिद्धांत और स्वरूप विश्लेषण, पृष्ठ-143)*

भाषा-शिल्प

आत्मकथात्मक साहित्य की भाषा हमारे दैनिक प्रयोग की भाषा से अलग नहीं हो सकती। इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य अपने जीवन के विभिन्न कामों के लिए सरल भाषा प्रयोग को अपनाता है। इससे भाषा में जीवंतता का गुण

आ जाता है। आत्मकथाकार भी अपने परिवेश का यथातथ्य चित्रण करने के लिए इसी भाषा को अपनाता है और जो ऐसा करने में असफल रहते हैं उनकी आत्मकथाएँ स्तरीय साहित्यिक कृतियाँ नहीं बन पातीं। बच्चन की आत्मकथा न केवल दैनिक जीवन की भाषा को आदर्श बनाकर लिखी गई है वरन् लेखक ने उसे और अधिक जीवंतता प्रदान करने के लिए अवधी का पुट भी यथास्थान दिया है। उदाहरण के लिए लेखक के विदेश जाने के प्रसंग को देखा जा सकता है। यह समाचार सुनकर बच्चन की चाची कहती है कि, ''बेटवा, तुम तो कुल में होत आई सगरी रीत, रसम, रवाज पर हर चलाय दिहै हौ, अब का समुंदरौ कै जात्रा करबौ?'' मैंने कहा, ''चाची, हम तो हवाई जहाज से जाबै और सारी जात्रा में समुंदर के एकौ बूँ से भेंट न होई।'' भोली चाची आश्वस्त हो गई और मैं उनके पाँव छूकर चल दिया। चाची असीसती हुई दरवाजे तक आई, ''बहूरानी के सोहाग और बेटवन के भाग से कुसल-छेम से लौटो।...'' (पृष्ठ-98) 'बच्चन की आत्मकथा' के गद्य पर विचार करते हुए अजित कुमार का कथन है कि, ''....इसका गद्य अद्भुत अपूर्व है और कि वह 'गद्य ही कवियों की कसौटी है' जैसी पारंपरिक उक्ति को नए सिरे से प्रमाणित करता है। इसकी पड़ताल का मतलब होगा-गद्यकार बच्चन को समझने के साथ-साथ कवि बच्चन का भी अपने लिए पुनराविष्कार करना।'' *(हरिवंश राय बच्चन) की साहित्य साधना, सं.पुष्पा भारती, पृष्ठ-12)* छोटे-छोटे व्यंग्यपूर्ण वाक्यों के प्रयोग से उनकी गद्य भाषा को नई धार मिली है। वे बीच-बीच में मुहावरों के द्वारा अपने वक्तव्य को और अधिक गहराई देने का काम करते हैं।

यह सर्वविदित है कि बच्चन अंग्रेजी के विद्वान थे लेकिन उनकी भाषा पर अंग्रेजी साहित्य का थोड़ा-सा भी प्रभाव हमें दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत उनके गद्य में सरल उर्दू शब्दों की सुंदर छटा के साथ देशज प्रयोग देखे जा सकते हैं।

बच्चन के काव्य की भाषा के संदर्भ में कवि सुमित्रानंदन पंत की टिप्पणी को उनकी आत्मकथा की भाषा के संदर्भ में भी सटीक माना जा सकता है। उनका कथन है कि, ''बच्चन की भाषा में परंपरा का सौष्ठव है, वह साहित्यिक होते हुए भी बोलचाल के निकट है। वह छायावाद की भाषा की तरह अलंकृत, सौन्दर्यदृप्त, कल्पनापंखी एवं ध्वनि श्लक्षण नहीं है। वह सहज, रसभीनी, भावभीनी, गतिद्रवित, प्रेरणास्पर्शी, अर्थकल्पित व्यथामथित, आनंदगंधी भाषा है।'' *(अभिनव सोपान, बच्चन, भूमिका-पंत, पृष्ठ-29)* अगर संक्षेप में कहें तो बच्चन की भाषा अपनी सहजता-सरलता में जीवन के गहरे अंतर्सूत्रों को खोलने में सक्षम है।

निष्कर्षत: हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा हिंदी आत्मकथा साहित्य में मील का पत्थर कही जा सकती है। इस आत्मकथा का गद्य उस बहते हुए निर्मल जल के समान है जो निरंतर नवीन बना रह सकता है। प्रसिद्ध कथाकार कमलेश्वर के शब्दों में कहें तो ''हिंदी गद्य का वह ठाठ दुर्लभ है। जैसे उनकी कविताओं में आम बोलचाल के शब्दों का लयात्मक उपयोग किया गया है, उसी तरह उनके गद्य में भी देशज की गीतात्मकता है। दूसरी बात यह है कि अपनी आत्मकथा में सच लिखने वाला उनसे अधिक साहसी लेखक दूसरा नहीं हुआ।''

व्याख्या के लिए कुछ प्रमुख अनुच्छेद

1. **''पति-पत्नी के संबंध क्या हों, इस पर विभिन्न युगों और समाजों में तरह-तरह के प्रयोग होते आए हैं। नर-नारी का वह आकर्षण, जो प्रेम का रूप होता है, एक-दूसरे के किसी अभाव की पूर्ति करता है। दोनों को ही अपने-अपने अहं को किसी-न-किसी रूप में पोषित करने और किसी-न-किसी रूप में मिटाने की आवश्यकता होती है। जो दंपत्ति कभी एक-दूसरे के ऊपर उठकर, कभी एक-दूसरे के नीचे झुककर इस आवश्यकता की पूर्ति करते रहते हैं, वे अपने संतुलित संबंध का रहस्य जान लेते हैं। तुलसीदास ने शिव और**

राम का संबंध बताते हुए कहा है कि शिव हैं 'सेवक, स्वामि, सखा सिय पी के'–आदर्श प्रेम का संबंध शायद एक साथ इन तीनों रूपों में ही मिलता है–'पति, पत्नी का सेवक हो, स्वामी हो, सखा हो; पत्नी, पति की सेविका हो, स्वामिनी हो, सहेली हो।'' (पृष्ठ–11)

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश हरिवंश राय बच्चन की चार भागों में प्रकाशित आत्मकथा के संक्षिप्त संस्करण 'बच्चन की आत्मकथा' से लिया गया है। इस पुस्तक का संक्षेपण श्री अजित राय ने किया है। इसमें बच्चन जी के पूर्वजों के परिचयात्मक वर्णन से लेकर उनके जीवन के 77 वर्ष 7 माह और 7 दिन तक का उनका यथातथ्य जीवनचरित मिलता है। इसके साथ ही समकालीन समाज, राजनीतिज्ञ, शैक्षिक वातावरण की भी बड़ी ही सहज अभिव्यक्ति इसमें हुई है।

संदर्भ–लेखक ने अपने माता-पिता सुरसती और प्रतापनारायण के आपसी संबंधों को व्याख्याथित करते हुए पति-पत्नी के संबंधों में प्रगाढ़ता बनाए रखने के सूत्र सुझाए हैं–

व्याख्या–पति-पत्नी के आपसी संबंधों पर विचार करते हुए लेखक कहता है कि हर समय में इन संबंधों को पर नित नए प्रयोग होते रहे हैं। प्रत्येक समाज इन संबंधों को अपने अलग दृष्टिकोण से देखता है। नर और नारी का एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होना प्रेम की बहुत ही सहज अभिव्यक्ति है और इस संबंध के मूल में वे दोनों आपसी अभावों की पूर्ति करते हैं। आपसी साथ के माध्यम से ही वे पूर्ण हो पाते हैं। यह संबंध तभी स्थाई हो सकता है जब दोनों अपनी अहंकार भावना को भी संतुलित कर सकें। इसका अर्थ यह है कि दोनों परिस्थिति के अनुरूप कहीं पर तो अपने अहं का पोषण करें और कहीं पर स्वयं झुककर दूसरे के अहं को संतुष्ट होने दें। यही दाम्पत्य जीवन की सफलता का रहस्य है। जो इस रहस्य को जान जाता है उनका प्रेम स्थायित्व पा जाता है। लेखक ने तुलसीदास द्वारा दिए गए राम और शिव के संबंध का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि शिव राम के सेवक, स्वामी और सखा हैं। ठीक यही संबंध पति और पत्नी का भी होना चाहिए। यही आदर्श प्रेम है। अगर पत्नी पति की स्वामिनी, सेविका और सखी होगी और पति पत्नी का स्वामी, सेवक और सखा होगा तो उनके संबंधों में कभी-भी कटुता नहीं आएगी। उनका संबंध हमेशा मधुर बना रहेगा।

2. **''कला अनुभूतियों का किसी इंद्रिय-ग्राह्य माध्यम में रूपांतरण है। यह रूपांतरण ही वह जादू है जो अनुभूतियों को मस्तिष्क के उस स्तर से उठाकर जहाँ वे भोगी-झेली जाती हैं, उस स्तर पर ले जाता है, जहाँ उनका आस्वादन किया जाता है। यह आस्वादन की प्रक्रिया कहीं पहुँचकर आनंद-संतोषप्रद और कहीं पहुँचकर शांतिदायिनी हो जाती है। भोगने-झेलने की अस्थिरता-कटुता-एक शब्द में हर मानवीय अनुभव की अपूर्णता-कला के माध्यम से वह पूर्णता प्राप्त करती है, जो मनुष्य को अधिक-से-अधिक संतोष देती है। शोक की अनुभूति से शोक-गीत रचना और शोक-गीत से आनंद-संतोष और शांति की उपलब्धि कर लेना विष को मधुरस बना देना है और यह कला का सबसे बड़ा चमत्कार है। जीवन है तो मनुष्य अपने को कटु-मधु अनुभूतियों के भार से विमुक्त नहीं कर सकता। धर्म और दर्शन ने प्राय: उनसे ऊपर उठ जाने की शिक्षा दी है; कला ने उन्हें साथ लेकर चलने की।'' (पृष्ठ–**42)

प्रसंग–पूर्ववत्

संदर्भ–बच्चन ने प्रथम पत्नी श्यामा की मृत्यु के बाद लिखना-पढ़ना, कवि सम्मेलनों में जाना छोड़ दिया था। लेकिन उन्हें कवि सम्मेलनों से लगातार निमंत्रण मिलते रहते। ऐसे में उन्हें लगा कि अपनी वेदना को शब्दों में अभिव्यक्त करना उनकी मानसिक आवश्यकता थी। वे कला को अनुभूतियों के रूपांतरण के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बताते हुए स्पष्ट करते हैं–

व्याख्या–कला के जीवन में महत्त्व पर विचार करते हुए लेखक कहता है कि कला के माध्यम से मनुष्य अपने जीवन के अनुभवों को ऐसे रूप में बदल लेता है जो उसकी इन्द्रियों को सहज स्वीकार हों। सामान्यत: हमारा मस्तिष्क

हमारे जीवन के अनुभवों को भोगता है। लेकिन कला के किसी रूप में रूपांतरित हो जाने पर वह अनुभूति इन्द्रिय आस्वादन की वस्तु बन जाती है। आस्वादन की इस प्रक्रिया में जीवन के कटु और अस्थिर अनुभव भी आनंदप्रद और शांति प्रदान करने वाले बन जाते हैं। कला जीवन के अधूरे अनुभवों को भी पूर्णता प्रदान कर देती है। इससे मनुष्य को शांति मिलती है। एक उदाहरण के माध्यम से अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लेखक कहता है कि एक शोकगीत आदमी के शोक अनुभव को आनंद-शांति और संतोष के अनुभव में बदल देता है। यह ठीक ऐसा ही है जैसे कि विष को अमृत बना दिया गया हो। यह चमत्कार कला के माध्यम से ही संभव है। कला और ज्ञान की अन्य शाखाओं जैसे धर्म और दर्शन में यही बड़ा अंतर है कि जहाँ ज्ञान की दूसरी शाखाएँ जीवन की कटु अनुभूतियों से ऊपर उठ जाने का संदेश देती हैं वहीं कला उन सब अनुभूतियों के भीतर रहकर हमें जीवन संघर्ष की प्रेरणा देती है। अत: जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में कला की अत्यंत आवश्यकता है।

3. **''जीवन की कुछ भूलें ऐसी होती हैं, जिनका पूर्ण प्रतिकार कभी नहीं हो पाता। इन्हीं से घबराकर, फिर अवसर पाने की कामना से, मनुष्य ने पुनर्जन्म की कल्पना की हो तो कोई आश्चर्य नहीं। कर्कल से लेकर पिताजी तक कितने ही लोग हैं, जिनसे उऋण होने का, जिनके लिए कुछ करने का, जिन्हें कुछ स्पष्टीकरण देने का अवसर मैं पाना ही चाहूँगा। शायद कभी मिले भी। इतना मेरा तर्क भी मानता है कि कामना, आकांक्षा, इच्छा या चाह एक शक्ति, फोर्स को जन्म देती है, जो बिना कुछ परिणाम दिखाए नष्ट नहीं हो सकती।'' (पृष्ठ-**71)

प्रसंगत–पूर्ववत्

संदर्भ–बच्चन, पिता की मृत्यु के उपरांत अपने पूर्वजों द्वारा डाली गई उदात्त परंपरा पर विचार कर रहे हैं। उनके बाबा ने उनके पिता की रक्षा करते हुए अपने प्राण त्याग दिए। उनके पिता ने उनके कारण या उनके लिए अपने प्राण त्याग दिए। वे चाहते हैं कि जब भी उनके बच्चों को उनकी आवश्यकता हो तो उन्हें अपने प्राणों का मोह न हो। इसी संदर्भ में अपने जीवन पर विचार करते हुए उनका कथन है कि–

व्याख्या–मनुष्य अपने जीवन में अनेक भूलें करता है। कुछ ऐसी भूलें भी होती हैं जिनका वह अपने जीवन में कभी भी प्रतिकार नहीं कर पाता। उसके चाहने पर भी वह इन्हें नहीं सुधार पाता। इस जीवन में उसे ऐसा करने का अवसर ही नहीं मिल पाता क्योंकि जिनके प्रति उसने ये भूलें की होती हैं वे बहुत दूर चले गए होते हैं। लेखक का अनुमान है कि भूल सुधार की इसी भावना के चलते ही मनुष्य ने पुनर्जन्म की कल्पना की होगी। लेखक के जीवन में भी ऐसे अनेक लोग रहे हैं जिन्हें वह अपने द्वारा किए गए कृत्यों के लिए स्पष्टीकरण देना चाहता है लेकिन अब बहुत देर हो चुकी है। इनमें उसका मित्र कर्कल और लेखक के पिताजी प्रमुख हैं। लेखक को अब भी उनसे मिलने की आस है। इस आस के पीछे उसका तर्क है कि जब भी आदमी कोई कामना, आकांक्षा, इच्छा या चाह करता है तो उससे एक शक्ति, फोर्स का जन्म होता है। यह शक्ति कभी न कभी अपने परिणाम अवश्य दिखाती है। बिना कुछ परिणाम दिखाए नष्ट नहीं हो सकती।

4. **''सृजन के संबंध में एक समस्या मेरे मन में बहुत दिनों से उठती रही है कि उसके लिए शांत मन:स्थिति अधिक अनुकूल पड़ती है या उद्विग्न यानी मन की अपशमित, विश्रांत स्थिति या तनाव-खिंचाव की स्थिति? दुनिया के सर्जकों ने शायद दोनों मनस्थितियों में सृजन किया है। दूसरा सवाल उठता है कि किस स्थिति में सृजन ज्यादा अच्छा होता है? केम्ब्रिज में चाहे मैंने कविता लिखी, चाहे डायरी, चाहे शोध-प्रबंध , सिवा एकाध अपवाद के, सब कुछ मैंने एक तनाव की स्थिति में किया। हो सकता है, उस तनाव से मुक्ति पाने को ही मेरा मन यह सब सृजन करता रहा।'' (पृष्ठ-**105-106)

प्रसंग–पूर्ववत्

संदर्भ–केम्ब्रिज में 'ईट्स' पर शोध करते हुए अपने निर्देशक मि. हेन से विचार-विमर्श के बाद मन में सृजन के बारे में उठे विचारों को लेखक ने यहाँ लिपिबद्ध किया है। इस संदर्भ में उनका कथन है कि–

व्याख्या–लेखक सृजन के संबंध में चिंतन कर रहा है। उसके सामने यह समस्या है कि सृजन शांत मन:स्थिति में बेहतर होता है अथवा तनाव का स्थिति में। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें दोनों ही स्थितियों में लेखकों ने लेखन किया है। ऐसे लोग भी हैं जो सृजन करते समय शांत मन:स्थिति चाहते हैं और ऐसे लोग भी हैं उद्विग्न यानी मन की अपशमित, विश्रांत स्थिति या तनाव-खिंचाव की स्थिति में ही लेखन कर सकते हैं। दोनों ही प्रकार के लेखकों को बहुतायत में देखा जा सकता है। लेखक के सामने प्रश्न यह है कि इन दोनों में से कौन-सी स्थिति में लेखक अच्छा सृजन कर सकता है? अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वह कहता है कि केम्ब्रिज में रहते हुए उसने हमेशा तनाव की स्थिति में ही लेखन किया था। कविता, डायरी अथवा शोध-प्रबंध सब कुछ तनाव की स्थिति में ही लिखा गया था। लेखक को ऐसा लगता है कि तनाव की अवस्था में किया गया लेखन तनाव से मुक्ति का माध्यम बनता है। दूसरे शब्दों में कहें तो तनाव की स्थिति को वह अपने सृजन के अनुकूल मानता है।

व्याख्या के लिए कुछ अन्य अनुच्छेद

1. क्या कभी सुभीते से बठैकर.....पकड़ा जा सकता है। (पृष्ठ-3)
2. मृत्यु सदा.....निबटा दिया गया। (पृष्ठ-9)
3. संबद्ध काल.....प्रतिबिंबित होती है। (पृष्ठ-17)
4. मेरे जीवन.....अधिक उपहासास्पद है। (पृष्ठ-29-30)
5. मनोविज्ञान की खोज.....आश्वस्त है। (पृष्ठ-33)
6. हिंदी के प्रचार में.....ऐसी न बन जाए। (पृष्ठ-42-43)
7. मुझे पलायनवादी.....स्वस्थ स्वाभाविक बनूँगा। (पृष्ठ-44)
8. निशा निमंत्रण.....यही ठीक है। (पृष्ठ-49)
9. पिताजी ने.....स्वीकार करना है। (पृष्ठ-55)
10. असल बात यह है.....यह संघर्ष लंबा चला। (पृष्ठ-57)
11. अब मैं ऐसा.....नहीं बनाई जा सकती। (पृष्ठ-58)
12. तेजी ने मातृ.....बना था। (पृष्ठ-76)
13. मैं अपने से की गई.....होना चाहिए। (पृष्ठ-88)
14. शिष्ट समाज.....स्वीकार नहीं। (पृष्ठ-96)
15. मैंने अपने जीवन.....दे रखी है। (पृष्ठ-103)
16. 'मेरे अंदर.....कर पाता। (पृष्ठ-108)
17. जो बीत गई.....अभी से.....(पृष्ठ-115)
18. उन्हीं दिनों मैंने.....हानि हुई। (पृष्ठ-117)

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. आत्मकथा की सामान्य विशेषताओं के आधार पर 'बच्चन की आत्मकथा' का विश्लेषण कीजिए।
2. ''बच्चन की आत्मकथा ईमानदार अभिव्यक्ति की अद्‌भुत मिसाल है।'' –इस कथन के आलोक में 'बच्चन की आत्मकथा' के कथ्य पर विचार कीजिए।
3. 'बच्चन की आत्मकथा' की भाषा पर विचार कीजिए।
4. 'बच्चन की आत्मकथा' के शिल्प पर विचार कीजिए।

गबन (प्रेमचन्द)

– डॉ. प्रेमलता भसीन

प्रेमचन्द : साहित्यिक परिचय

प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के उन प्रगतिशील लेखकों में से हैं, जिन्होंने भारत के जन-जीवन को निकट से देखा और उनकी समस्याओं में पैठकर उन्हें पूरी गंभीरता और ईमानदारी से अपने साहित्य में उतारा। उनकी दृष्टि मुख्यत: भारत के निर्धन ग्रामीण वर्ग पर रही और उसी के संघर्षपूर्ण जीवन का यथातथ्य अंकन उन्होंने किया। प्रेमचंद का जन्म सन् 1880 में बनारस के समीप लमही नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता अजायबराय निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति थे, जो डाकखाने की क्लर्की में 20 रुपया महीना वेतन पाते थे। इसलिए प्रेमचंद (पिता का दिया नाम धनपतराय) का बचपन गहरी आर्थिक तंगी में बीता। आठ वर्ष की आयु में माँ का देहान्त होने पर सौतेली माँ के कठोर व्यवहार ने उन्हें मातृ-स्नेह से भी वंचित कर दिया। जीवन की इन विपरीत परिस्थितियों में उनका झुकाव पढ़ने-लिखने की ओर हुआ। उस समय पाठशालाओं में हिन्दी नहीं पढ़ाई जाती थी इसलिए उस समय के प्रसिद्ध उर्दू उपन्यासकारों और अंग्रेज़ी उपन्यासों के उर्दू अनुवादों को उन्होंने खूब पढ़ा। स्वयं प्रेमचंद ने कहा है–''दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे–वहीं मुझे लिखने का भी शौक हुआ। मैं लिखता और फाड़ता।'' 13 वर्ष की उम्र से शुरू हुआ लिखने का यह क्रम और हाई स्कूल की पढ़ाई साथ-साथ चलते रहे। 15 वर्ष की उम्र में हुए विवाह और पिता की मृत्यु ने आर्थिक दबाव को और कस दिया। आर्थिक तंगी और पारिवारिक दायित्वों के बीच झूलते प्रेमचंद ने मैट्रिक पास की और सन् 1899 में सहायक अध्यापक की नौकरी मिली। सन् 1908 में इनकी पदोन्नति हुई और वे मदरसों के सब डिप्टी इंस्पेक्टर हो गये। इस बीच सन् 1905 में इन्होंने पहली पत्नी को छोड़कर शिवरानी देवी नामक विधवा से विवाह किया, जो सामाजिक रूढ़ियों और परंपराओं के प्रति उनके विद्रोह का प्रथम संकेत है।

प्रेमचंद का आरंभिक लेखन उर्दू में था। वे उर्दू में नवाबराय के नाम से लिखते थे और उनका पहला कहानी-संग्रह 'सोज़े वतन' उर्दू में ही छपा। पाँच कहानियों के इस संग्रह में लेखक का विषय स्वदेश-प्रेम था, जिसे ब्रिटिश सरकार ने आपत्तिजनक मानकर जब्त कर लिया। साथ ही यह हुक्म भी हुआ कि वे सरकार की अनुमति के बिना कुछ न लिखें। पर प्रेमचंद के भीतर का लेखक चुप कब बैठ सकता था? उन्होंने अब प्रेमचंद नाम से लिखना शुरू किया और उनकी पहली कहानी 'ममता' थी जो सन् 1909-10 में 'ज़माना' पत्रिका में छपी। इसके बाद प्रेमचंद का लेखन अबाध गति से चलता रहा।

साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचंद का आगमन इस दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को तिलिस्मी और ऐयारी रचनाओं से मुक्ति दिलाकर समाज-हित का व्यापक आधार प्रदान किया। मात्र मनोरंजन की दृष्टि से लिखे जा रहे सस्ते साहित्य की अपेक्षा ग्रामीण जीवन के अधिक निकट होने के कारण प्रेमचंद ने उनकी समस्याओं को ही मुख्य रूप से उभारा। कुछ समय तक बम्बई में रहने के कारण वे महानगर की विषमताओं और जटिलताओं को भी पहचान गये थे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि औद्योगिक सभ्यता और पूँजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप नगरों का प्रसार होगा और गाँव लुप्त होते जायेंगे। इस स्थिति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। ग्रामीण जीवन के विभिन्न पहलुओं का अंकन उनकी कहानियों में विशेष रूप से देखा जा सकता है। उन्होंने लगभग 300 कहानियाँ लिखीं जो सप्त सरोज, नवनिधि, प्रेम पचीसी, प्रेम-द्वादशी, कफन, 'मानसरोवर' (आठ भाग) में संकलित हैं। प्रेमचंद ने कर्बला, प्रेम की वेदी नामक नाटक लिखे तथा कई अनुवाद भी किये पर उपन्यास के तो वे सम्राट कहे जाते हैं।

'सेवासदन' उपन्यास में उपन्यासकार ने समाज की उन समस्याओं को उठाया है जिसे अभी तक कोई लेखक छूने का साहस नहीं कर पाया था। इसमें उन्होंने विवाह-समस्या की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया है।

जहाँ दहेज के नाम पर होने वाला लेन-देन ईमानदार मनुष्य को बेईमानी और रिश्वतखोरी के लिए मजबूर करता है। इसके अतिरिक्त इसमें धर्म, जमींदारी-प्रथा, वेश्या-समस्या आदि ऐसे पहलुओं को उठाया गया है, जो अभी तक हिन्दी साहित्य के लिए अनछुए थे। प्रेमचंद ने इन महत्त्वपूर्ण और गंभीर समस्याओं को केवल उठाया ही नहीं, उन्हें उनके आदर्शपूर्ण अंत की ओर भी पहुँचाया।

'प्रेमाश्रम' प्रेमचंद का वह उपन्यास है, जिसमें उन्होंने गाँव के जमींदार के शोषण के विरुद्ध किसानों की जागृत चेतना को स्वर दिया है। सामंतवाद, पूँजीवाद और समाजवाद का विशिष्ट विवेचन 'प्रेमाश्रम' में किया गया है। जमींदारी राज्य में किसानों की दुरवस्था और फिर शोषकों के विरुद्ध उनका आंदोलन प्रेमचंद का नये समाज का स्वप्न है, जो आने वाले समय के लिए नींव के पत्थर के समान सिद्ध हुआ।

'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचंद ने विवाह-समस्या के उस महत्त्वपूर्ण पहलू को उठाया है, जहाँ परिस्थितिवश एक कन्या का विवाह उससे उम्र में तिगुने विधुर से कर दिया जाता है। ऐसे बेमेल विवाह से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं के विविध रूपों को प्रेमचंद ने बड़े प्रभावात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार उनके वरदान, प्रतिज्ञा, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि और गोदान उपन्यासों में उनकी क्रमशः परिपक्व होती चिंताधारा को देखा जा सकता है। उनके उपन्यासों में शोषित किसान, मज़दूर, नारियाँ जागृति की नई करवट लेते दिखाई देते हैं। 'मंगलसूत्र' उनका अधूरा और अंतिम उपन्यास है।

'जो जन-साधारण का है, वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है'—साहित्य की भाषा के संबंध में व्यक्त किये गये प्रेमचंद के ये विचार उनके संपूर्ण साहित्य में स्पष्ट हैं। उनकी आरंभिक कृतियों में यद्यपि क्लिष्ट उर्दू भाषा का प्रयोग हुआ है, पर धीरे-धीरे उनकी भाषा आम आदमी की भाषा के बिल्कुल निकट आ गयी है। प्रेमचंद इस तथ्य से परिचित थे कि अपने साहित्य में उन्होंने जिन सामाजिक समस्याओं को उठाया है, उन्हें जन-सामान्य तक पहुँचाने के लिए उसी की भाषा का प्रयोग करना नितांत आवश्यक है। आम आदमी की भाषा को लोकोक्तियों और मुहावरे सप्राण बनाते हैं। प्रेमचंद के साहित्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का विशाल भण्डार देखा जा सकता है।

वास्तव में हिन्दी कथा-साहित्य को कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से नया आयाम प्रदान करने वाले प्रेमचंद ही हैं। अपने जीवन की कठिन परिस्थितियों से जूझते हुए उन्होंने बहुत कुछ सीखा और बहुत पढ़ने की लालसा ने उन्हें व्यापक अनुभव दिये। उन्होंने जो लिखा, अपने अनुभवों से लिखा। इस बात को उनके ये शब्द स्पष्ट करते हैं—''लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है... मेरे अंदर जितनी कुरेदन, तड़पन होगी, उतना ही अच्छा है।'' प्रेमचंद की दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं अपितु 'वह जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है'। और समस्याओं को हल करने की प्रेमचंद की दृष्टि यथार्थवादी न होकर आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी रही है। उन्हें जीवन के सत्पक्ष पर विश्वास था और इसी कारण उन्होंने नग्न यथार्थवाद की अपेक्षा आदर्श-प्रेरित यथार्थवाद पर बल दिया। साहित्य-संबंधी उनकी यह दृष्टि उनके इन शब्दों में स्पष्ट है—''मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ''। यह प्रेमचंद की इसी साहित्य-संबंधी दृष्टि का परिणाम है कि उनकी रचनाएँ सत्य, शिव और सुंदर—तीनों कसौटियों पर खरी उतरती हैं।

ग़बन : कथानक और समीक्षा

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के लिए जो कथानक चुने हैं, उनका आधार भारतीय नागरिक और ग्रामीण समाज के विविध वर्ग हैं। 'गबन' में उन्होंने नगरीय मध्यवर्ग के जीवन की समस्याओं को आधार बनाया है। इस उपन्यास के प्रारंभ में प्रमुख नारी पात्र जालपा के बचपन की एक घटना का रोचक वर्णन है, जिसमें वह, उसकी सखियाँ तथा उनकी माताएँ एक बंजारे फेरी वाले से अपनी-अपनी पसन्द की वस्तुएँ खरीदती हैं। जालपा को एक चंद्रहार पसन्द आता है पर उसकी माँ मानकी बिसाती से चंद्रहार की चमक ज्यादा दिन न रहने की शंका प्रकट करती

है तो फेरी वाला–''चार दिन में तो बिटिया को असली चंद्रहार मिल जाएगा'–कह कर उसके मन में चंद्रहार के प्रति तीव्र लालसा को और तीव्र करता है।

शीघ्र ही वह दिन आता है जिसकी जालपा को बहुत प्रतीक्षा थी। उसके पिता दीनानाथ प्रयाग के एक प्रतिष्ठित सज्जन दयानाथ के पुत्र रमानाथ से उसका विवाह तय करते है। बारात आती है पर चढ़ावे के आभूषणों में चंद्रहार नहीं होता। इससे जालपा बहुत निराश होती है, पर सखियों के समझाने पर निश्चय करती है कि वह पति और ससुर से आग्रहपूर्वक यह हार लेकर रहेगी। ससुराल में जाते ही वह घोषणा करती है कि जब तक हार नहीं मिलता, तब तक वह किसी भी आभूषण को नहीं पहनेगी।

दयानाथ कचहरी में पचास रुपये मासिक पर काम करता है। वह रिश्वतखोरी को समाज के लिए अभिशाप समझता है इसलिए उसे ईमानदारी का संतोष तो है पर आर्थिक दृष्टि से वह बहुत खोखला जीवन व्यतीत कर रहा है। अपने पुत्र रमानाथ के विवाह में उसने न चाहते हुए भी, सीमा से अधिक व्यय कर दिया था। इतना ही नहीं, आभूषण भी उधार लेकर बनवाए गए थे और जालपा के मायके से मिला नकद रुपया भी रमानाथ की इच्छानुसार व्यर्थ की धूमधाम में खर्च हो गया था। इधर महाजन पैसों के लिए बार-बार तंग कर रहा था, उधर रमानाथ के लिए यह भी संकट था कि वह जालपा से अपने घर की झूठी अमीरी की चर्चा कर चुका था। ऐसे में जालपा से गहने लौटाने की बात कहना तो बहुत कठिन था। अंततः उसने एक उपाय सोचा। रात को चुपके से जालपा की अलमारी से गहनों की संदूकची निकालकर पिता को दे दी। यहीं से उस पर संकट की घड़ी शुरू हो गई। जालपा इस चोरी से बहुत दुखी हुई। रमानाथ भी यह कहकर कि उसके पिता पैसा निकालना ही नहीं चाहते, अपने को बचाने के प्रयास में लगा रहा। एक दिन जब जालपा ने अपने घर जाने की जिद पकड़ ली तो रमानाथ ने उसे यह कहकर रोका कि वह जल्दी ही कोई नौकरी करेगा। अंततः उसे अपने एक मित्र रमेश की सहायता से म्यूनिसिपैलिटी में चुँगी क्लर्क की नौकरी मिल गई जहाँ ऊपरी आमदनी की भी अधिक सुविधा थी। अब रमानाथ को विश्वास हो गया कि वह जल्दी ही जालपा के लिए गहने जुटा सकेगा। इस बीच उसने जालपा के एक पत्र के द्वारा, जो उसे डाक में डालने के लिए दिया गया था, उसे खोलकर पढ़ने से उसे पता चला कि जालपा कितनी वेदना सह रही है। तब उसने निश्चय किया कि वह जल्दी ही जालपा को गहनों से लाद देगा। गंगू नामक एक सर्राफ ने उसे एक जड़ाऊ चन्द्रहार और शीशफूल उधार दे दिया। एक बार उधार की चीज़ लाकर रमानाथ की तो आदत ही बदल गई। गहने, साड़ी, घड़ी–जो उसे ठीक लगता, उधार खाते से ले लेना उसे बुरा नहीं लगता था।

धीरे-धीरे इन दोनों के संपर्क क्षेत्र में भी वृद्धि होती गई। एक पार्टी में मिले इन्द्रभूषण नामक अधेड़ वकील और उनकी युवा पत्नी रतन से उनकी मित्रता क्रमशः गहरी होती गई। एक दिन रतन ने जालपा के जड़ाऊ कंगन पर रीझकर वैसे ही कंगन बनवाने का निश्चय किया। उसके लिए दिए गए छः सौ रुपये लेकर रमानाथ जब गंगू सर्राफ के पास पहुँचा तो उसने रुपये रमानाथ के पिछले हिसाब में जमा कर दिए और कंगन के झूठे वायदे करके उसे बार-बार टालने लगा। रमानाथ अब विकट समस्या में फँस गया था। एक दिन रतन ने आग्रहपूर्वक रमानाथ से पैसे वापिस लौटा देने की बात की। या फिर वह स्वयं उस सर्राफ के पास जाना चाहती थी। ऐसे में रमानाथ ने उस दिन की चुंगी की आमदनी आठ सौ रुपये खजाने में जमा न करके, रतन को दिखा कर विश्वास दिलाना चाहा कि उसके पैसे सुरक्षित हैं; पर रतन ने अपने पैसे वापिस ले लिये। जैसे-तैसे करके उसने पाँच सौ रुपये तो जमा कर लिए। तीन सौ के लिए वह अपने मित्रों के पास इधर-उधर भटकता फिरा, लेकिन सभी प्रयत्न व्यर्थ हो गए। जालपा को पत्र लिखकर सारी परिस्थिति समझानी चाही; पर उसे पत्र मिलता, इससे पहले ही शर्मिन्दगी को न छुपा पाने के कारण, उसने घर से भागना ही उचित समझा। बिना सोचे समझे रेल में बैठ गया। वहीं देवीदीन खटीक नामक एक विनोदी और समझदार वयोवृद्ध से उसकी मुलाकात हुई जो रमानाथ को अपने साथ कलकत्ते ले गया। देवीदीन और उसकी पत्नी जग्गो ने उसे वापिस लौटने के लिए बहुत समझाया, पर पुलिस के डर से उसने न जाने का ही निश्चय किया क्योंकि वह अपने को गबन का अपराधी समझता था।

इस बीच एक समाचार पत्र में छपे शतरंज-पहेली को हल करने से उसे पचास रुपये की प्राप्ति भी हुई। उन रुपयों से उसने जग्गो के साथ ही चाय की दुकान खोल ली, पर एक दिन अपनी ही नासमझी से वह पुलिस के हाथ पड़ गया। रमानाथ की मजबूरी से लाभ उठाकर उसे सरकारी गवाह बनने के लिए भी विवश किया गया। वह नहीं जानता था कि इस बीच उसकी पत्नी ने अपने गहने बेचकर उसके द्वारा गबन की गई समूची रकम चुका दी है। स्वयं पुलिस ने इलाहाबाद में हुई इस घटना की जाँच करवायी तो उसे भी इस बात का पता चल गया, पर उन्होंने रमानाथ को अंधेरे में ही रखा।

रमेश बाबू को जब रमानाथ के कलकत्ते में होने का समाचार मिला तो उसने रमानाथ के घर यह सूचना भिजवा दी और उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि जालपा यह सब कुछ जानती है क्योंकि जिस पहेली को रमानाथ ने हल किया था, वह जालपा के द्वारा ही भेजी गई थी। बाद में जालपा रतन और देवर गोपी के साथ कलकत्ता पहुँची। रात्रि के समय देवीदीन के साथ उस बंगले में गई जहाँ रमानाथ को पुलिस ने ठहराया हुआ था। सख्त पहरे के होते हुए भी उसने पत्थर में पत्र लपेटकर रमानाथ को वास्तविक स्थिति से अवगत कराया। निश्चिंत होकर रमानाथ ने इंस्पैक्टर से कह दिया कि वह झूठी गवाही नहीं देगा। पर एक बार छोटी अदालत में निर्दोष व्यक्तियों के विरुद्ध वह गवाही दे चुका था, अतः उन्होंने जालपा को भी तंग करने की धमकी दी तो उसे झुकना पड़ा उसकी गवाही से निर्दोष लोगों को कठिन करावास तो मिला ही, दिनेश नामक युवक को फाँसी की सजा हो गई। प्रायश्चित करने के उद्देश्य से जालपा उस युवक के घर रहकर उसका सारा काम करने लगी। जोहरा से सभी कुछ जानकर रमानाथ ने जज के घर जाकर सारी असलियत स्पष्ट कर दी। फिर से मुकदमा चलने पर सभी निर्दोष लोगों के साथ-साथ रमानाथ भी छूट गया।

अब रमानाथ पूरी तरह से बदल चुका था। उसने खेती करना ही जीवन का ध्येय बना लिया। जालपा के साथ ही जोहरा, दयानाथ, गोपी और रतन भी उसके पास आकर रहने लगे। दयानाथ, जोहरा और रतन, जो अलग-अलग कष्टमय जीवन जी रहे थे, अब साथ रहकर जीवन के सुखद अनुभवों से गुजरने लगे पर एक दिन बाढ़ की स्थिति में जोहरा एक बच्चे को बचाने के लिए नदी में कूद पड़ी और गहरी लहरों में सदा के लिए समा गई।

कथानक : समीक्षा

'गबन' उपन्यास की मूल कथा रमानाथ और जालपा, या यूँ कहें रमानाथ से संबंधित है, जो प्रयाग में जालपा और दयानाथ आदि तथा कलकत्ते में देवीदीन, जग्गो, जोहरा आदि के संसर्ग से विकसित होती है। कुछ समीक्षकों ने प्रयाग और कलकत्ते की कथाओं को दो स्वतंत्र कहानी माना है और कहा है कि इन दो स्थानों की घटनाओं पर दो स्वतंत्र उपन्यासों का निर्माण हो सकता था। (नंददुलारे वाजपेयी, 'प्रेमचंद-साहित्यिक विवेचन') पर वास्तव में ऐसा नहीं है। जीवनक्रम के अनुसार पात्र अनेक परिस्थितियों और संदर्भों से गुजरता है, इसी प्रकार रमानाथ भी ऐसी ही भिन्न घटनाओं और स्थितियों से गुजरता है। ये परिवर्तन आरोपित न होकर, पूर्वापर-क्रम से जुड़े हुए हैं। विस्तार और प्रतिपाद्य से प्रमुख रूप से जुड़े हुए होने के कारण रमानाथ की कथा 'आधिकारिक' कथा है। वह ऐसा नवयुवक है जो पिता के खर्च न देने पर कालिज छोड़ देता है और कॉलिज के अन्य युवकों की भाँति फैशनपरस्त, फिजूलखर्च, प्रदर्शनप्रिय और मूलतः दुर्बल प्रकृति का है। अपने फैशन के शौक को वह दोस्तों की सहायता से ही पूरा करता है। उसके अपने ही शब्दों में-''मैं जरा साफ सुथरे कपड़े पहनता हूँ, जरा नई प्रथा के अनुसार चलता हूँ, इसके सिवा आपने मुझमें कौन सी बुराई देखी है?'' लेकिन दयानाथ उसकी अंग्रेजियत से परेशान है। वह उस वर्ग का प्रतिनिधि है जिसे देवीदीन 'भद्र समाज' समझते हैं। सफाई वकील के शब्दों में 'ग़बन' उपन्यास की कथा 'विलासप्रिय पदलोलुप युवक' के 'धर्मनिष्ठ और कर्त्तव्यशील' युवक बनने की कथा है। प्रयाग में उसकी चारित्रिक दुर्बलता उसे 'ग़बन' की सीढ़ी तक पहुँचाती है, उसी प्रकार परिस्थिति के दबाव में आकर वह कलकत्ते में सरकारी गवाह बनने के लिए विवश है। इस प्रकार परवर्ती घटनाएँ रमानाथ के पूर्ववर्ती इतिहास से ही जुड़ी हुई है।

रमानाथ के साथ-साथ जालपा की कथा भी महत्त्वपूर्ण है। यह कथा रमानाथ की कथा के विस्तार तथा प्रतिपाद्य से प्रमुख रूप से जुड़ी हुई है। जालपा मूलतः एक आभूषण-प्रेमी, प्रदर्शनप्रिय तथा (प्रारम्भ में) आत्मकेन्द्रित स्त्री की कहानी है जो बाद में कर्तव्यपरायण तथा सेवानिष्ठ नारी बनती है। रमानाथ के घर से भागने से पूर्व की जालपा एक अत्यन्त साधारण और सामान्य गुणावगुणों से युक्त नारी है जो रमानाथ के घर से भाग जाने के बाद एक भिन्न रूप में दिखाई देती है। चंद्रहार बेचकर रमानाथ के आफिस के रुपये चुकाना, सर्राफ को रुपये देने के लिए रतन को कंगन बेचना आदि के साथ-साथ शतरंज की पहेली प्रकाशित करवाना, पति को कलकत्ते पहुँचकर स्थितियों का निर्भय होकर सामना करना तथा रमानाथ की गवाही के कारण फाँसी की सजा पाने वाले दिनेश के परिवार की सेवा आदि घटनाएँ जालपा के चारित्रिक वैशिष्ट्य का ही संकेत हैं। यद्यपि रमानाथ के द्वारा 'गबन' की घटना जालपा की आभूषणप्रियता तथा रतन से घनिष्ठ सम्पर्क बनने का ही परिणाम है, तथापि यह भी स्पष्ट है कि रमानाथ के अंतर-परिमार्जन के लिए जालपा का परिवर्तित व्यवहार एक प्रेरणा बनकर उसके सम्मुख आता है।

इनके अतिरिक्त देवीदीन के आगमन से कथा एक नया मोड़ लेती है। उसकी नकली हस्ताक्षर करके मनीआर्डर को हड़प लेने की घटना रमानाथ की कथा से बहुत साम्य रखती है। लेकिन उसका 'स्वदेशी' के लिए पुत्रों का बलिदान, उसके देशभक्तिपूर्ण उद्‌गार रमानाथ के मन में राष्ट्रीय भावना उद्वेलित करने का आधार बने हैं। रतन और जोहरा की कथाएँ प्रधान कथा में सहायक कथाएँ हैं। रतन के पैसे वापिस करने के लिए ही रमानाथ आफिस की रकम घर लेकर आता है। रमानाथ के घर से जाने के बाद जालपा का शतरंज की पहेली प्रकाशित करवाना और कलकत्ते जाना रतन की ही सहायता से संभव हो सका। इतना अवश्य है कि उसकी मृत्यु का प्रसंग दुखद और प्रतिपाद्य से सर्वथा असंबद्ध है। जोहरा का समावेश रमानाथ और जालपा से संपर्क सूत्र बनाने के लिए हुआ है। ये सभी गौण कथाएँ मूल अथवा आधिकारिक कथा के विकास में समुचित योगदान करती हैं।

समीक्षा की दृष्टि से **मूल कथानक के पाँच सोपान** होते हैं–प्रारम्भ, विकास, संघर्ष, चरमबिन्दु और उपसंहार। आरम्भ जिज्ञासावर्धक तथा कौतूहल बढ़ाने वाला हो तो पाठक की रोचकता उपन्यास में निरन्तर बनी रहती है। 'ग़बन' उपन्यास का आरम्भ बहुत प्रभावशाली ढंग से हुआ है। 'बरसात के दिन है, सावन का महीना। ...सबके दिल उमंगों से भरे हुए हैं। धानी साड़ियों ने प्रकृति की हरियाली से नाता जोड़ा है। इसी समय ...।'' पढ़कर पाठक आने वाली स्थितियों से अनायास ही जुड़ जाता है। झूला झूलती जालपा का बिसाती के पास जाकर चंद्रहार लेना उसकी रुचियों से परिचय कराता है। 'चार दिन में तो बिटिया को असली चंद्रहार मिलि ही जायेगा–'' बिसाती का यह कथन जालपा के मन में दबे-ढके चंद्रहार के प्रति आकर्षण भाव को और बढ़ावा देता है। इस छोटी सी घटना का प्रभाव आगे आने वाली परिस्थितियों पर बहुत गहरा पड़ता है।

विवाहोपरान्त चंद्रहार न मिलने की स्थिति से कथानक का **विकास** होता है। जालपा का चंद्रहार के लिए हठ करना, रमानाथ का आश्वासन देना और आभूषण-चोरी इत्यादि कथानक के विकास की स्थितियाँ हैं। रतन को केवल रुपये दिखाने की भावना से म्यूनिसिपैलिटी का धन घर लाना और रतन के पैसे वापिस ले लेने की स्थिति में खजाने में वापिस न जमा कराने के कारण रमानाथ का घर से भागना **संघर्ष** का सूत्रपात है। पुलिस के पंजे में फँसकर रमानाथ बाहरी और भीतरी संघर्ष से जूझता है। जालपा रमानाथ की खोज के लिए अनेक प्रयत्न करती है। उसे ढूँढ़कर न्याय के मार्ग पर लाने के लिए अनेक संघर्ष करती है। दूसरी ओर रमानाथ आन्तरिक संघर्ष से जूझता है। एक ओर गबन के कारण मिलने वाला दण्ड तथा दूसरी ओर झूठी गवाही। जालपा की प्रेरणा से वह झूठी गवाही बदलने का प्रयत्न भी करता है पर असफल रहता है। कथानक का **चरमबिन्दु** है वह स्थिति, जब रमानाथ को पता चलता है कि उसकी झूठी गवाही के कारण फाँसी का दण्ड पाने वाले दिनेश की वृद्धा माँ, बेबस पत्नी और नन्हे बच्चों की सेवा करने के लिए जालपा ने अपने को पूरी तरह लीन कर दिया है। यह स्थिति रमानाथ के लिए असह्य है। वह सारी उलझनों को छोड़कर हर विपत्ति को सहने के लिए उत्सुक हो

उठता है और अपनी गवाही बदल देता है। **उपसंहार** में सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है। जोहरा का त्यागपूर्ण बलिदान अंत में पाठक के मन को करुणा से भर देता है, पर अंततः रमानाथ और जालपा शान्तिमय जीवन की ओर अग्रसर होते हैं।

ग़बन के कथा-शिल्प में लेखक ने कथा-संकेत, संयोग आदि का भी प्रयोग किया है। रमेश बाबू के साथ शतरंज खेलते हुए, एक-एक फर्जी (मोहरे) का पिटना रमानाथ की आने वाली हार का प्रतीक है। इसी प्रकार जालपा के द्वारा सर्राफ के लाए गहने रख लिए जाने पर लेखक की टिप्पणी है–''हम क्षणिक मोह और संकोच में पड़कर अपने जीवन के सुख और शांति को कैसे होम कर देते हैं। अगर जालपा मोह के इस झोंके में अपने को स्थिर रख सकती, अगर रमा संकोच के आगे सिर न झुका देता, दोनों के हृदय में प्रेम का सच्चा प्रकाश होता तो वे पथ-भ्रष्ट होकर सर्वनाथ की ओर न जाते।'' अन्यत्र रमेश द्वारा लिखे पत्र को, जिसमें पैसे न देने की बात थी, रमानाथ फाड़कर एकाग्रचित हो दीपक को देखने लगता है। इस स्थिति के लिए प्रेमचन्द ने लिखा है–''इतनी ही एकाग्रता से वह कदाचित आकाश की काली, अभेद्य मेघराशि की ओर ताकता।'' **संयोग** की घटनाएँ प्रस्तुत उपन्यास में अधिक नहीं हैं। समाचार-पत्र में शतरंज की पहेली प्रकाशित करवाकर जालपा-रमानाथ का पता लगाती है। इसी प्रकार घूमते हुए रमानाथ जालपा को दिनेश के घर का कार्य करते हुए देखता है। ये आकस्मिक संयोग तो नहीं है, लेकिन इसके द्वारा कथानक में रोचकता के साथ-साथ घटनाक्रम में परिवर्तनशीलता देखी जा सकती है।

नाटकीय व्यंग्य कथानक में रोचकता की वृद्धि करते हैं। रमानाथ आफिस के रुपये रतन से वापिस लेने जाता है तो घोर अन्तर्द्वन्द्व से घिरा हुआ है। दूसरी ओर रतन मस्ती से झूला ही नहीं झूल रही, वरन् रमानाथ से झूलने-झुलाने की बात कहती है। ऐसे में रमानाथ की व्याकुलता और रतन की रसिकता स्थिति को और भी जटिल और विचित्र बना देती है। इसी प्रकार रमानाथ का अनजाने ही स्टेशन पर आ जाना, टिकट के लिए कुलियों के जमादार को अंगूठी देना, जमादार का वापिस न आना और गाड़ी के चलते ही टिकट-चैकर का वहाँ आना स्थिति की नाटकीयता और रमानाथ की बैचेनी को दर्शाता है। प्रेमचन्द इस प्रकार के दृश्यों से कथानक को सहज ही रोचक, आकर्षक और स्वाभाविक बनाने में कुशल रहे हैं।

पूर्वदीप्ति-शैली अर्थात् फ्लैश बैक का प्रयोग भी कथानक में कौतूहल की वृद्धि करता है। देवीदीन का खादी प्रेम का पूर्व इतिहास, रमानाथ द्वारा शतरंज-पहेली हल करने की घटना, रतन के पति वकील बाबू की मृत्यु के समय उनकी स्मृति में अपने स्वर्गीय पुत्र की स्मृति आदि घटनाएँ उपन्यास में मार्मिकता की वृद्धि करती हैं। रतन, देवीदीन, जोहरा से संबंधित उपकथाओं में अनेक स्थलों पर मार्मिकता की प्रस्तुति हुई है।

सुगठितता कथानक का आवश्यक तत्त्व है। उसमें वर्णित घटनाएँ और स्थितियाँ सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध होनी चाहिए। प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रायः घटना-बहुलता होते हुए भी एक क्रमबद्धता और सुगठित कथानक के दर्शन होते हैं। सर्वत्र एक कार्य कारण-श्रृंखला को देखा जा सकता है। बचपन में जालपा का चंद्रहार के लिए स्वप्न संजोना, ससुराल में चंदहार न मिलने पर निराशा, गहनों की चोरी से आभूषणप्रियता में वृद्धि, रमानाथ का उधार पर गहने बनवाना और फिर एक-एक विपत्तियों का आगमन-सभी घटनाएँ परस्पर एक नियमित श्रृंखला में बँधी हुई हैं।

स्वाभाविकता या विश्वसनीयता कथानक की सफलता के लिए अत्यंत आवश्यक तत्त्व है। घटनाएँ काल्पनिक होते हुए भी स्वाभाविक प्रतीत होती हैं तो कथानक विश्वसनीय बन जाता है। 'गबन' में निम्न मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक, सामाजिक स्थिति, ऊँची कल्पनाओं के कारण झूठी शान, मिथ्या अभिमान की वृत्ति आज समाज को रसातल की ओर ले जा रही है। उनका संकट स्वयं उनके ही द्वारा लाया जाता है जैसे कि रमानाथ का जीवन-वृत्त। मिथ्याभिमानी युवक का एक झूठ को छिपाने के लिए निरन्तर झूठ के जाल में फँसते जाना, और अपनी ही मूर्खता के कारण घर परिवार को संकट में डाल देना अस्वाभाविक नहीं। इसके अतिरिक्त जालपा का आभूषणों के प्रति आवश्यकता से अधिक रुचि दिखाना, रतन का अनमोल विवाह, देवीदीन जैसे निस्वार्थी पात्र आज भी हमारे समाज

में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार सरकारी दफ्तरों में रिश्वत की परंपरा, पुलिस की चालें, अदालतों में बेकसूरों को फँसाने के लिए दी जाने वाली झूठी गवाहियाँ आदि दिन-रात समाचार पत्रों में आज भी पढ़ी जाती हैं।

कुछ समीक्षकों की दृष्टि में प्रस्तुत उपन्यास की कुछ घटनाएँ विश्वसनीय नहीं हैं। जैसे जालपा का इतने बड़े कलकत्ता शहर में रमानाथ को ढूँढ निकालना, जोहरा जैसी नर्तकी का रमानाथ और जालपा से प्रभावित होकर उनका मैत्री-संबंध, रमानाथ का जज के घर आधी रात को जाकर अपना बयान बदलना आदि। पर ध्यान से देखा जाय तो इन सभी घटनाओं के पीछे कोई-न-कोई कारण निहित है। जालपा रमानाथ को शतरंज की एक पहेली के माध्यम से ढूँढ़ने में सफल होती है। जोहरा जालपा के त्याग और न्याय के लिए संघर्षशील स्वभाव से प्रभावित होती है और जज का एक व्यक्ति के बयान बदलने पर विश्वास करना, किसी निर्दोष को जीवनदान के प्रश्न से जुड़ा है।

अंततः 'ग़बन' उपन्यास का कथानक प्रत्येक कसौटी पर खरा उतरा है।

पात्र योजना और चरित्र-चित्रण

पात्र योजना

'गबन' में पात्रों की संख्या 50 से भी अधिक है, जिनमें प्रमुख पात्र 10 ही हैं–5 पुरुष पात्र : रमानाथ, दयानाथ, देवीदीन, रमेश बाबू और इन्द्रभूषण वकील। तथा 5 स्त्री पात्र हैं–जालपा, रतन, जोहरा, जग्गो तथा जागेश्वरी। अनेक पात्र ऐसे भी हैं जिनकी यद्यपि कोई निजी विशेषता नहीं है, लेकिन प्रमुख कथा विस्तार तथा मूल भाव की प्रस्तुति में ये सहायक सिद्ध हुए हैं।

स्थूल रूप से पात्रों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं–वर्गगत और व्यक्तिगत। **वर्गगत पात्र** अपने वर्ग के अनुसार ही व्यवहार करते हैं। उनका जीवन, स्वभाव और कर्म अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। प्रस्तुत उपन्यास में रमानाथ, दयानाथ, दीनदयाल, इन्द्रभूषण वर्गगत पात्र हैं। **रमानाथ** आज के उन युवकों का प्रतिनिधि पात्र है जो अपनी हैसियत से ऊँची कल्पनाएँ करते हैं, आर्थिक अभाव को समझते हुए भी आकाश को छूना चाहते हैं और अपने इस प्रयत्न में न केवल स्वयं वरन् अपने साथ सभी को संकट में डाल देते हैं। **दयानाथ** निम्नमध्यवर्गीय नौकरीपेशा लोगों की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, जो अपनी ईमानदारी पर अडिग रहते हैं। **दीनदयाल** जमींदार का मुख्तियार है वह वर्गीय शान, शाही खर्च आदि को यथावत् प्रस्तुत करता है। **इन्द्रभूषण वकील,** जो रतन का पति है, उच्चवर्गीय लोगों की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करता है। रतन उन मध्यवर्गीय महिलाओं की प्रतिच्छवि है जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी अनमोल विवाह के अभिशाप को झेलती है।

व्यक्तिगत पात्र चारित्रिक दृष्टि से अनेक विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं। जालपा, देवीदीन, जोहरा इसी श्रेणी के पात्र हैं। जालपा प्रारंभ में एक मध्यवर्गीय परिवार की साधारण गुणों से सम्पन्न एक ऐसी महिला है जो आभूषण-प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व मानती है, किन्तु रमानाथ के घर छोड़कर जाने के बाद उसका विशिष्ट व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। **देवीदीन** एक मस्त, निर्भीक और विनोदी व्यक्ति है। निम्नवर्ग के व्यक्ति प्रायः ऐसे गुणों से युक्त नहीं होते हैं। **जोहरा** वेश्या वर्ग से जुड़ी होने पर भी भिन्न गुणों से युक्त है और रमानाथ तथा जालपा की सरलता और सादगी से प्रभावित होकर भिन्न रूप प्रदर्शित करती है।

इसके अतिरिक्त पात्रों को 2 अन्य दृष्टियों से भी देखा जा सकता है–स्थिर पात्र और गतिशील पात्र। जो पात्र आदि से अंत एक ही साँचे में ढले हुए प्रतीत हों (इस रूप में वे कभी-कभी प्रभावहीन और अनुभूति रहित भी हो जाते हैं) **स्थिर** पात्र होते हैं। **गतिशील** अर्थात् जीवन के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ उत्तरोत्तर विकास। इस रूप में ये पात्र सजीव और प्रभावशाली होते हैं। गबन के प्रायः अधिकतर पात्र गतिशील हैं। रमानाथ परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ अनेक प्रकार की मानसिकता से गुजरता तो है ही, साथ ही अच्छाई और बुराई के भिन्न पक्षों से जुड़ता जाता है। एक समय चंद्रहार के लिए अड़ जाने वाली जालपा भिन्न परिस्थितियों में चंद्रहार को आधे मूल्य पर बेचकर परिवार की मर्यादा बचाती है। पैसे-पैसे को बचाकर रखने वाला दयानाथ अपने पुत्र

के विवाह में खुला खर्च करता है। अपने पति को फटकारने वाली जग्गो, बाद में उसी के लिए दिन भर दुकानदारी करती है। पुलिस के कहने से रमानाथ का मन बदलने के लिए प्रयत्नशील जोहरा पहले नृत्य और मदिरा का आधार ग्रहण करती है पर बाद में वह स्नेही और सेवामयी स्त्री के रूप में दिखाई देती है। मानकी, रामेश्वरी, गोपी, दारोगा आदि पात्र स्थिर कहे जा सकते हैं। यूँ भी ये पात्र थोड़े समय के लिए तो आते हैं, पर जितना समय वे उपन्यास के रंगमंच पर प्रकट होते हैं, इसी रूप में दिखाई देते हैं।

प्रेमचंद से पूर्व उपन्यासों में प्राय: घटनाओं आदि के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता था, पर प्रेमचंद ने पात्रों के **चरित्र-विश्लेषण** पर अधिक ध्यान दिया था। ''मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना''–उपन्यास का मूल तत्त्व मानने वाले प्रेमचन्द ने 'गबन' में मानव गुणों और अवगुणों के सजीव चित्र अंकित किए हैं। पात्रों की चारित्रिक विविधिताओं को संवादों और घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द ने अधिकांश पात्रों का प्रथम परिचय औपचारिक रीति से दिया है। इसे लेखकीय वर्णन कह सकते हैं। देवीदीन का प्रारम्भिक परिचय उसकी रूपाकृति के साथ-साथ उसकी चारित्रिक प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत करता है। दयानाथ और रमानाथ का स्वभावगत परिचय इस रूप में दिया गया है–''दयानाथ बहुत ऊँचे आदर्श का आदमी न होने पर रिश्वत को हराम समझता था, जबकि रमानाथ को शतरंज खेलने, सैर सपाटे करने, मित्रों की मदद से विभिन्न फैशन करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं था''।

उपन्यासकार ने पात्रों की शारीरिक चेष्टाएँ अथवा अनुभवों की अभिव्यक्ति से भी पात्रों की मानसिकता को प्रस्तुत किया है। सिर हिलाकर, मुस्कुराकर, तीव्र नेत्रों से कातर स्वर में आदि के माध्यम से पात्र की इच्छा, आकांक्षाओं को वर्णित किया है। चंद्रहार न मिलने की स्थिति में जालपा का यह चित्रण बिम्बात्मक शैली में प्रस्तुत हुआ है–'वह उन्माद की-सी दशा में अपने कमरे में आयी और फूट फूटकर रोने लगी'। इसी प्रकार रमानाथ का बयान सुनते हुए–''पहला ही वाक्य सुनकर जालपा सिहर उठी, दूसरे वाक्य ने उसकी त्यौरियों पर बल डाल दिए। तीसरे वाक्य ने उसके चेहरे का रंग फक कर दिया...।'' लेखक ने पात्रों के अनेक कार्य मनोविज्ञान की मानसिक कार्य-पद्धतियों से संचालित किए हैं। 'आरोपण' यानि आरोप लगाने की प्रवृत्ति रमानाथ, दयानाथ, रतन आदि में है। 'क्षतिपूर्ति' की पद्धति रमा, जालपा और रतन के कार्यों में परिलक्षित होती है। रतन का रमानाथ और जालपा की ओर आकृष्ट होना भी इसी के अन्तर्गत आता है। रमानाथ का जालपा को सोने के स्थान पर फूलों के आभूषण पहनाना भी इसी का ही उदाहरण है। 'दमन' (अपने को बलात् रोकना) की प्रवृत्ति रमानाथ, रतन के जीवन में बहुत गहरी है। पलायन (जीवन से भागना) की वृत्ति रमानाथ और रतन में दिखाई पड़ती है। रमानाथ कपड़े खरीदने के लिए बाजार जाने से मना कर देता है, जबकि उसका मूल कारण पुलिस का भय है। प्रायश्चित, परिशोधन की प्रवृत्ति रमानाथ, जालपा, रतन और वकील साहब में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त पात्र अपने सम्वादों से स्वयं अपना, सम्मुख उपस्थित पात्र अथवा अनुपस्थित पात्र का चरित्रोद्घाटन करते हैं। इस प्रकार गबन का चरित्र-चित्रण प्रेमचन्दीय शैली का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

रमानाथ

रमानाथ 'ग़बन' उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है। समूची कथावस्तु, सभी पात्र और परिस्थितियाँ इसी के इर्द-गिर्द घूमते हैं। वह एक साधारण व्यक्ति है **सामान्य गुणों से सम्पन्न युवक।** उसमें न तो आदर्शों के लिए कोई आग्रह है, न ही हीन व्यक्तियों की भाँति आचारणहीनता का संकेत है। इतना अवश्य है कि मध्यमवर्ग से संबंध रखने के कारण वह कल्पना के घोड़े दूर-दूर तक दौड़ाता है, हवाई किले बनाता है। ''वह ऐसा कोई उपाय सोचकर निकालना चाहता था जिससे वह जल्द से जल्द अतुल सम्पत्ति का स्वामी हो जाए। कहीं उसके नाम कोई लाटरी निकल आती? फिर तो वह जालपा को आभूषणों से मढ़ देता। सबसे पहले चंद्रहार बनवाता; उसमें हीरे जड़े होते।'' लेकिन वह कल्पनाओं के ही लोक में विचरण करता रहता है, ऐसा नहीं है। नौकरी की तलाश में दर-दर भटकता है, और परिस्थितियों के साथ समझौता करने का प्रयत्न भी करता है।

रमानाथ के चरित्र की प्रारम्भिक विशेषताओं में महत्त्वपूर्ण है–उसकी **फैशनपरस्ती** और **स्वच्छन्द विचारधारा**। उसमें किसी भी सामाजिक परम्परा या नैतिक मर्यादा के प्रति कोई विशेष आस्था नहीं है। इतना ही नहीं, दोस्तों से उधार माँगकर मौज मस्ती करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं है। उसकी फैशनप्रियता का तो यह हाल है कि उसका फैशन का शौक–''दोस्तों की बदौलत पूरा होता था। किसी का चेस्टर माँग लिया, और शाम को हवा खाने निकल गए। किसी का पम्प शू पहन लिया किसी की घड़ी कलाई में बाँध ली। कभी बनारसी फैशन में निकले कभी लखनवी फैशन में। दस मित्रों ने एक-एक कपड़ा बनवा लिया, तो दस सूट बदलने का साधन हो गया। सहकारिता का यह बिल्कुल नया उपयोग था''। इतना ही नहीं, विवाह के बाद उसका यह शौक और भी बढ़ गया। वह टेनिस रैकेट लिए बाहर से आया। सफेद टेनिस शर्ट था, सफेद पतलून, कैनवश का जूता''। अपने विवाह पर भी उसने **दिखावे और नुमाइश** को **परमावश्यक** मानकर साफ कह दिया कि 'बारात ऐसे धूम से जानी चाहिए कि गाँव भर में शोर मच जाए। और इसीलिए उसने अपने लिए पालकी के स्थान पर मोटर पर जोर दिया। आतिशबाजियो, नाच, बाजे-गाजे सभी अव्वल दर्जे के रखे गए। म्यूनिसिपैलिटी में नौकरी लगने के बाद जब उसे ऊपरी आमदनी होने लगी तो उसके इस शौक में और भी बढ़ोतरी होती गई। पत्नी के साथ खूब घूमने जाना, सिनेमा, खेल-तमाशे आदि के शौक में ही सारा पैसा चला जाता था। ग़बन की घटना के बाद भी जब कलकत्ता में उसे छोटा-मोटा काम करके पैसे मिलने लगे तो उसकी ''भोग लालसा और भी प्रचण्ड हो गई। रुपये आते ही सैर सपाटे की धुन सवार हो गई''। ऐसी ही प्रवृत्ति के कारण वह फिर से ध ीरे-धीरे दुर्भाग्य का शिकार होने लगा।

अहंवादी होने के कारण रमानाथ अपने जीवन में सदैव अस्थिर ही बना रहा। वह किसी के सामने छोटा बने, या उसकी दीन-हीन आर्थिक दशा किसी के सम्मुख प्रकट हो–यह उसे कभी सह्य ही नहीं था। मित्रों से माँगी गई वस्तुओं के आधार पर 'ऐश' का जीवन जीना उसे प्रिय था। विवाह में आवश्यकता से अधिक न का खर्च होना भी उसकी ही इच्छा के अनुकूल था। इतना ही नहीं 'रमानाथ ने जवानों के स्वभाव के अनुसार जालपा से खूब जीट उड़ायी थी। जमींदारी से उससे कई हज़ार का नफा है। बैंक में रुपये हैं, अब उनका सूद आता है।'' घर का किराया पाँच रुपये था, पर रमानाथ ने पंद्रह बताए थे। लड़कों की शिक्षा का खर्च मुश्किल से दस रुपये था, रमानाथ ने चालीस बताए थे''। डींग मारने के कारण ही वह अनेक मुसीबतों में फँसता है। वकील इन्द्रभूषण के सामने अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए वह कहता है–''जी हाँ! म्यूनिसिपल ऑफिस में हूँ। अभी हाल ही में आया हूँ। कानून की तरफ जाने का इरादा था पर नये वकीलों की यहाँ जो हालत हो रही है, उसे देखकर हिम्मत न पड़ी।'' वस्तुतः इस प्रवृत्ति का शिकार व्यक्ति कभी भी न तो वास्तविकता को स्वीकार सकता है ओर न ही उसकी दूसरों के सामने सच्चाई प्रकट करने की हिम्मत होती है। यही हाल रमानाथ का भी हुआ। वह बाहर के लोगों के सम्मुख ही नहीं, अपने पिता और पत्नी को भी वास्तविकता न बता सका और एक दिन जब उसके झूठ की पोल खुली तो वह किसी के भी सामने आँख उठाने के लायक न रहा।

प्रदर्शनप्रियता उसके व्यक्तित्व का एक अभिन्न रूप है। विवाह में अधिक खर्च उसकी इसी आदत के कारण हुआ था। तीस रुपये की नौकरी में वह शान बड़े-बड़े साहबों जैसी रखता है–''रमा कोट-पैंट पहनकर और हैट लगाकर निकला, तो उसकी शान ही कुछ और हो गई। चपरासियों ने झुकझुककर सलाम किए। फटी हुई मैली दरी पर बैठना उसको अपमानजनक जान पड़ा।'' इसी कारण वह रमेश बाबू से रोष में आकर 'अच्छी-सी मेज और कुर्सी' दिलवाने का आग्रह करता है। इतना ही नहीं, वह जालपा से भी इसी भाव की उपेक्षा करता है। रतन के पहली बार उन्हें निमंत्रित करने पर वह चाहता है कि जालपा कीमती साड़ी और सुन्दर घड़ी पहनकर ही उनके यहाँ जाए। यद्यपि घर का यह हाल था कि गहनों का उधार अभी चुकाना भी प्रारंभ नहीं किया था, पर उसे 'यह भी सहन नहीं था कि जालपा फटे हाल चाय-पार्टी पर जाए।' जब वे दोनों रतन को अपने यहाँ बुलाते हैं तब वह मेज-कुर्सियों और चाय के सैट आदि रमेश बाबू के यहाँ से मँगवाकर अपनी शान दिखाने में तनिक भी नहीं झिझकता।

मिथ्या गर्व में सदा डूबे रहने वाले और झूठी शान की वृत्ति जिनमें होती है वे प्राय: **असत्यवादी और कायर** होते हैं। रमानाथ अपने साहबी ठाठ दिखाने के लिए लगातार झूठ बोलता जाता है। विवाहोपरान्त जालपा से अपने पिता की जमींदारी होने तथा बैंक में हजारों रुपये होने की बात बिल्कुल असत्य है। उधार के रुपये चुकाने के लिए उसने अनेक उपाय सोचे, 'लेकिन कोई ऐसा न था जो आगे चलकर उसे उलझनों में न डाल देता, दलदल में न फँसा देता।' फिर उसके दिमाग में एक कपट-चाल ने जन्म लिया। उसने स्वयं गहने चोरी करके, चोर-चोर की आवाज लगाकर बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त गंगू सर्राफ के पास रतन के रुपये फँस गये तो बार-बार सर्राफ के पास रतन से झूठ बोलने के अतिरिक्त उसके पास और कोई मार्ग न था। रतन ने जब अपने रुपये वापिस लेने के लिए रमानाथ को बार-बार कहना शुरू किया तो उसने अपने आफिस के रुपये से उसे शांत करना चाहा पर रतन ने जब उन्हें अपना ही मानकर रख लिया तो रमानाथ बुरी तरह फँस गया और घर से भागने के अतिरिक्त उसके पास और कोई मार्ग न रहा था। कलकत्ते पहुँचकर उसने देवीदीन को स्वयं के ब्राह्मण होने की बात कही। कलकत्ता में पुलिस को अपना नाम और पता भी गलत बताया क्योंकि उसे भय था कि वह उसके वास्तविक नाम से परिचित होकर पुलिस उसके गबन के आरोप को भी जान जाएगी। इस प्रकार रमानाथ स्वयं अपने ही हाथों अपने को लगातार नीचे ही गिराता चला गया और इसी कारण सच्चाई जानने के बाद भी वह पुलिस की गिरफ्त से बच नहीं पाया।

असत्यवादिता व्यक्ति को आन्तरिक दृष्टि से शक्तिहीन कर देती है और वह **कायर** हो जाता है। रमानाथ की दुर्बल चित्तवृत्ति उसे कभी सत्य बोलने के लिए प्रेरित न कर सकी। उसे अपनी भूल सुधारने के अनेक अवसर मिलते हैं लेकिन उसकी दुर्बलता उसे आगे बढ़ने से रोक लेती थी। न जाने किन भयंकर परिणामों को झेलना पड़ेगा'?–सोचकर वह कभी भी चाहकर भी सत्य नहीं बोल पाया। एक आशंका अनेक आपत्तियों की जननी होती है और इस आशंका के कारण ही साहस की कमी भी हो जाती है। गहनों की चोरी का निश्चय करके जब वह जालपा के पास जाता है तो उसके मन में विचार उठता है–''मैं कितना बड़ा कायर हूँ। क्या मैं बाबूजी को साफ-साफ जवाब न दे सकता? मैंने हामी ही क्यों भरी? क्या जालपा से घर की दशा साफ-साफ कह देना मेरा कर्तव्य न था?'' इतना ही नहीं उसकी साहसहीनता का ही यह परिणाम होता है कि वह तीन बार अपना बयान बदलने से रोक लेता है। यहाँ तक कि जब उसे पता चलता है कि उस पर अब किसी भी ग़बन का कोई आरोप नहीं है, फिर भी धोखादेही के दण्ड के भय से वह बयान नहीं बदल पाता है। अंत में भी वह जालपा के ही प्रयत्नों से इस भय के जाल को काट पाता है।

रमानाथ एक साधारण मानव है। उसमें जहाँ बुराइयाँ है वहाँ अनेक ऐसे भी गुण हैं जो उसके चरित्र के उज्जवल पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि उसने जो कुछ भी अनुचित व्यवहार किया था केवल अपने ही लाभ के लिए था। किसी को सताने, ठगने या लूटने के लिए नहीं। इस दृष्टि से देखने पर उसके चरित्र की अच्छाइयों को भी जाना जा सकता है।

रमानाथ एक **निश्छल प्रेमी** है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। या यूँ कहें कि पत्नी के प्रति प्रेम की अधिकता ही उसे अनेक बार सीमा से अधिक खर्च करने के लिए विवश करती है। गहनों की चोरी करने से पहले जब वह जालपा के पास जाता है तो उसके मासूम व्यवहार से उसके मन में कचोट उठती है–''यह चंद्रहार के लिए इतनी विकल हो रही है। इसे क्या मालूम कि दुर्भाग्य इसका सर्वस्व लूटने का सामान कर रहा है।'' जालपा से अलग रहने की कल्पना से भी वह काँप उठता है। घर से भागने के विचार के साथ उसके मन में यह कसक भी उठती है–''जालपा किस की होकर रहेगी? उसकी रक्षा कौन करेगा?'' कलकत्ता में भी पुलिस की गाड़ी में से जालपा की एक झलक पाकर उसके मन में प्रेम का तीव्र ज्वार उठता है और वह किसी भी बाधा को पार करके उससे मिलने के लिए विकल हो उठता है।

स्वाभिमानी होना रमानाथ के चरित्र का उदात्त पक्ष है। वह प्रारंभ से ही अपने प्रति किसी की दया या सहानुभूति को स्वीकार नहीं कर पाता। अपने मित्रों से भले ही वस्तुएँ माँग कर पहनने का उसे शौक रहा हो

लेकिन नौकरी के लिए वह किसी से कुछ भी नहीं कह पाता। कलकत्ते में बहुत अधिक शीत से जब वह बहुत परेशान था तो एक स्थल पर किसी सेठ के द्वारा कम्बल बाँटे जाने की स्थिति में वह चाहकर भी कम्बल न ले पाया, क्योंकि इस प्रकार भिखारियों के बीच खड़े होकर दान लेना उसके अहं को आहत कर रहा था। ऐसे में मुनीम ने उसके भाव को समझकर, उसे ब्राह्मण मानते हुए आदरपूर्वक 'अच्छा कम्बल' दिया, तो भी उसकी विकलता शांत नहीं हुई। इस बात से उसकी जन्म-जन्मान्तर की संचित मर्यादा आहत हो उठती है।

प्रायश्चित की भावना व्यक्ति के सभी दुष्कृत्यों को दूर कर देती है। रमानाथ में भले ही कितनी कमियाँ क्यों न हों, वह जब प्रायश्चित के भाव से भर उठता है तो उसका चरित्र पवित्र हो जाता है। गैर कानूनी काम करते हुए ''रमानाथ की आँखों से आँसू तो न निकले थे, पर उसका रोआँ-रोआँ रो रहा था।'' जालपा को वास्तविकता न बता सकने की स्थिति में वह सोचता है–''ऐसी प्रेम की मूर्ति और दया की देवी के साथ कितना बड़ा विश्वासघात किया। अगर मैं निष्कपट होकर रहता तो मेरा जीवन कितना आनन्दमय होता।'' गवाही न बदल पाने की दुर्बल चित्तवृत्ति में वह अपनी कमजोरी 'अपनी स्वार्थ लोलुपता और कायरता' पर बहुत पछताता है। अंततः सभी के सम्मुख जब अपने अपराध बोध को स्वीकार करके क्षमा माँगता है तो उसका चरित्र पूर्णतः निर्मल और पवित्र हो जाता है।

जालपा

जालपा 'ग़बन' उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र है। उसका प्रारम्भिक परिचय एक ऐसी बालिका के रूप में है जो 'बड़ी-बड़ी आँखों वाली', बालिकाओं में विद्यमान सामान्य वृत्ति से अलग भावनाओं से सम्पन्न है। वह रमानाथ की पत्नी है और उसकी सत्प्रेरणा का स्रोत भी है। उपन्यास की सभी प्रमुख घटनाओं से जुड़ी होने के कारण तथा मूल संवेदना की धुरी होने के कारण उसे उपन्यास की नायिका कहा जा सकता है।

उसके व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पक्ष है–उसका **अनुपम सौन्दर्य।** उसकी अनुपम छवि ने पहले ही दिन रमानाथ पर मोहिनी डाल दी थी।' उसका कोमल कण्ठ-स्वर, मधुर भाषण, शीलता, विनयी स्वभाव किसी को भी मोहित कर लेते हैं। जालपा उन मध्यवर्गीय नारियों में से है जिनमें स्त्री सुलभ आभूषणप्रियता, आत्मप्रदर्शन की भावना से युक्त होने के साथ-साथ सरल प्रेमभाव, स्वाभिमान और सेवाभाव जैसे गुण भी विद्यमान हैं।

जालपा का जो प्रारंभ में परिचय मिलता है, उसमें वह एक आभूषणप्रिय नारी है। वह अल्पायु में ही बिसाती से चंद्रहार खरीदने की इच्छा को व्यक्त करती है। लेकिन ससुराल से चंद्रहार न मिलने की स्थिति में उस पर मानो वज्रपात होता है–''उस निराशा के आवेश में उसका ऐसा जी चाहने लगा कि अपना मुँह नोच डाले। उसका वश चलता तो चढ़ावे को उठाकर आग में फेंक देती।'' ''इस आभूषण मंडित संसार में जालपा का यह आभूषण प्रेम स्वाभाविक ही था'', क्योंकि जब वह तीन वर्ष की ही थी, उस वक्त उसके लिए सोने के चूड़े बनाए गए थे। दादी भी जब उसे गोद में खिलाती, तो गहनों की ही चर्चा ज्यादातर होती।'' विवाह के बाद जब उसे आशा के विपरीत भिन्न वातावरण और इच्छानुसार चद्रहार नहीं मिला तो उसके स्वभाव में कटुता आना स्वाभाविक ही था। उसे ऐसा प्रतीत होता था जैसे मानो उसका संसार ही उजड़ गया हो। उसकी इसी बात से परेशान होकर रमानाथ 'जैसे-तैसे' गहनों का ही जुगाड़ करता रहा। इसी कारण उसे एक-के बाद एक ऐसे कार्य करने पड़े कि बात गबन तक पहुँच गई।

यूँ जालपा एक **सरल स्वभाव** वाली युवती है। किसी भी प्रकार का छल कपट मन में न होने के कारण वह रमानाथ की प्रत्येक बात पर विश्वास कर लेती है। रमानाथ के पिता की जमींदारी की बात हो या बैंक में रखे रुपयों की, गहनों की चोरी का प्रसंग हो अथवा रतन के कंगन बनवाने की बात-वह हर बात को सहज रूप में ही लेती है, संदेह का कोई कारण ही उसे नहीं दिखाई देता। वह रमानाथ के द्वारा उसके आफिस से लाए गए रुपये बिना गिने ही रतन को दे देती है। उसकी सरलता सभी पात्रों को अभिभूत कर देती है। वह अपनी

इसी निष्कपट वृत्ति और कोपल स्वभाव के कारण महिला-समाज में आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। रमानाथ अनुभव करता है–''जालपा का निष्कपट स्नेहपूर्ण हृदय मानो उसके मुखमंडल पर अंकित हो रहा था।''

वाक्पटुता जालपा की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इस दृष्टि से वह सदा ही प्रभावशालिनी रही है। तभी पहली बार में ही रतन उससे कहती है–''न जाने क्यों तुम्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता।'' तुम्हें पाकर रमानाथ जी अपना भाग्य सराहते होंगे। रमानाथ भी कभी उसकी बात को नकार नहीं सकता। वह इच्छा होते हुए भी रमानाथ से कभी सीधे आभूषणों के लिए नहीं कहती, पर अवसर आने पर उसे अपने भाव का संकेत अवश्य दे देती है–''मैं उन स्त्रियों में नहीं हूँ जो गहनों पर जान देती हैं, हाँ, इस तरह किसी के घर आते-जाते शरम आती ही है'', यहाँ प्रकारान्तर से वह रमानाथ को जल्दी गहने बनवा लाने का ही अनुरोध है। इसी प्रकार चरणदास जब गहने लेकर आता है तो जालपा कुशलता से कंगन और रिंग के दाम कम करवा लेती है, जबकि रमानाथ सोचता ही रह जाता है। रतन को भी जब उसे कंगन बेचने पड़ते हैं तो उसे यह आभास करा देती है कि वह (जालपा) उसे (रतन को) दोस्ती के नाते कंगन बेच रही है जबकि रुपयों के लिए यह सौदा करना उसकी विवशता थी। जब रमानाथ पुलिस की मार से तंग आकर झूठी गवाही देने को तैयार हो जाता है, तब उन्हीं की दी हुई मोटर में जग्गो के पास आता है। तब जालपा गुस्से से भड़कती हुई कहानी है–''झूठी गवाही झुठे मुकदमे बनाना और पाप का व्यापार करना ही तुम्हारे भाग्य में लिख गया। ...मैं औरत हूँ। अगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे, उसे न मार सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या तुममें औरतों के बराबर भी हिम्मत नहीं है?'' यद्यपि वह जानती है कि उसकी तीखी बातें रमानाथ के हृदय को छलनी कर देंगी, लेकिन इसके माध्यम से वह उसे झकझोर देना चाहती है; ताकि उसका सोया हुआ अहं जागृत हो। और, वह अपने इस भाव में सफल भी होती है। अंततः रमानाथ की बुद्धि पर पड़ा हुआ पर्दा जालपा के क्रोध की अग्नि में भस्म होता है और वह सत्य के मार्ग पर चलने के लिए तैयार हो जाता है।

यद्यपि जालपा में अनेक नारी-सुलभ कमियाँ हैं, लेकिन यह स्पष्ट है कि वह एक साधारण नारी नहीं है। वह एक **बुद्धिमती** नारी है, जो संकट पड़ने पर सदैव स्थिति को संभालने में सफल रही है। प्रारंभ में वह गहनों के लिए बहुत आग्रह करती है तो उसका कारण है कि रमानाथ ने उसे यह बताया था कि उनके पास बैंक में बहुत पैसे हैं। पर जब उसे वास्तविकता का पता चलता है तो वह रमानाथ को बहुत फटकारती है–''नहीं, मेरे लिए कर्ज लेने की जरूरत नहीं मुझे तुम्हारे साथ जीना और मरना है। अगर मुझे सारी उम्र बेगहनों के रहना पड़े, तो भी मैं कुछ लेने को न कहूँगी।'' रमानाथ के पिता से और पत्नी से झूठ बोलने पर वह उसे समझाती है–''आदमी सारी दुनिया से परदा रखता लेकिन अपनी स्त्री से परदा नहीं रखता।'' रमानाथ उसके सौन्दर्य और विचारशीलता पर इतना मुग्ध था कि उसकी इच्छा-पूर्ति के लिए उचित-अनुचित का भी विचार नहीं करता।

जालपा का प्रारम्भिक रूप पूरी तरह से वर्गगत है। पर जैसे-जैसे परिस्थितियाँ परिवर्तित होती हैं वह एक भिन्न, एक आदर्श नारी के रूप में प्रस्तुत होती है। इस रूप में वह विशिष्ट पात्र बन जाती है। पहले जहाँ आभूषणों के प्रति अत्यधिक आकर्षण के कारण वह अनेक प्रकार से रूढ़-मनोबल की स्थिति उत्पन्न करती है, वहीं वह स्थिति की गंभीरता को समझकर अपने आभूषण, विशेषकर वे कंगन-जिन पर वह बहुत जान छिड़कती थी, रतन को आधे दामों पर बेच देती है। जालपा के आदर्श रूप के सम्मुख रतन भी नतमस्तक हो उठती है। रमानाथ के घर से भाग जाने के बाद की स्थितियों में उसका जो निखरा रूप प्रस्तुत हुआ है, निश्चय ही अनुकरणीय है। रमानाथ जैसा भी हो, उसका पति है और उसे जैसे भी हो सुधारना उसका कर्त्तव्य है–यह मानकर उसे कभी सीधे कभी कटाक्षवाणों से भेदकर उसकी अंतरात्मा को जगाने का प्रयास करती है। ''क्या तुम इतने गए बीते हो कि अपनी रोटियों के लिए दूसरों का गला काटो?''–जैसे तीखे वाक्यों से उसे झिंझोड़ने का भरसक प्रयास करती है। इतना ही नहीं, पति की झूठी गवाही के कारण फाँसी का दण्ड पाने वाले निर्दोष दिनेश के परिवार की सेवा का पूरा भार अपने ऊपर ले लेती है। इस प्रकार आत्म संयम और कुशलता से वह बिगड़ी हुई बात को संभालने में सफल होती है। रमानाथ से कहा गया उसका यह संवाद उसके मन को प्रतिबिम्बित करता है–''मेरी

सभी अभिलाषाएँ ज्यों की त्यों हैं। पुरुषार्थ से, अपने परिश्रम से, सदुपयोग से उन्हें पूरा कर सको, तो क्या कहना; लेकिन नीयत खोटी करके, आत्मा को कलुषित करके एक लाख भी लाओ–तो मैं ठुकरा दूँगी।''

इस रूप में जालपा का चरित्र प्रेमचंद के आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद का सटीक उदाहरण है।

रतन

रमानाथ और जालपा की मुख्य कथा को उभारने में रतन की उपकथा का बहुत बड़ा हाथ है। प्रस्तुत उपन्यास में वह ऐसी नारी के रूप में चित्रित हुई है जो भाग्य की मार से जीवन के अनेक सुख और दुःख के रंगों को जीती है। एक ओर वह जीवन की अपार सुख-समृद्धि को भोगती है तो बाद में लाचारी और असहाय स्थिति का भी शिकार बनती है।

रतन एक निर्मल, सरल और **निष्कपट नारी** है। उसका विवाह एक अधेड़ व्यक्ति के साथ होता है जिसे वह भाग्य की इच्छा मानकर स्वीकार कर लेती है। धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी न तो उसके मन में किसी प्रकार का लालच है और न ही उसका कोई गर्व है। वह एक **पतिव्रता** नारी है, जिसके लिए पति की कामना सर्वोच्च है। यद्यपि वकील इन्द्रभूषण उससे आयु में बहुत बड़े हैं लेकिन फिर भी पति के प्रति उसके श्रद्धा-भाव में कोई कमी नहीं है। वह चाहती है कि उसके पति निरोगी और सुखी जीवन व्यतीत करें। इसके लिए वह उन्हें कलकत्ता भी लेकर जाती है। उसकी मनोकामना है–''अगर कोई मेरा सर्वस्व लेकर भी इन्हें अच्छा कर दे...।'' पति के लिए उसके मन में सदैव उच्च विचार ही रहे। वह जानती है कि वे (वकील) बाहर से जितने कठोर है, भीतर से उतने ही नर्म और कोमल हैं। पति के द्वारा वसीयत लिखे जाने पर रतन की हड़बड़ाहट और आशंका की प्रतिक्रिया उसके पति-प्रेम का स्पष्ट प्रभाव है।

रतन एक स्वाभिमानी नारी है। आत्म-सम्मान बनाए रखने की कला उसे बखूबी आती है। रमानाथ जब बार-बार कहने पर सर्राफ के बारे में उसे नहीं बताता, तो वह बड़े अभिमान से कह उठती है कि जो सर्राफ इस प्रकार से टालमटोल कर रहा है उसकी दूकान नीलाम करवाकर वह, उसे जेल भिजवा सकती है। कुछ स्थलों पर रतन और जालपा का चरित्र समान ऊँचाई को छूता हुआ प्रतीत होता है। मैत्री के क्षणों में दोनों ही एक दूसरे का सहारा बनकर चरित्र की उदात्त मनोभूमि प्रस्तुत करती हैं। जालपा की कठिन परिस्थितियों में रतन सदा उसके साथ रही, इसी प्रकार रतन के साथ जालपा भी अपने को प्रस्तुत करती है। इसीलिए रतन जालपा से कहती है–''मैत्री परिस्थितियों का विचार नहीं करती। अगर यह विचार बना रहे, तो समझ लो मैत्री नहीं है। पति की मृत्यु के उपरांत उसे वास्तविकता का ज्ञान होता है। और मणिभूषण जब उसका सब कुछ हड़प लेने का प्रयत्न करता है तो भी वह नहीं घबराती। सुख सुविधाओं में लंबे समय तक रहने वाली रतन परिस्थितियों से समझौता करना भी बखूबी जानती है। तभी तो उसके मन में ये विचार उठते' हैं–''मैं क्यों अपने को अनाथिनी समझ रही हूँ। क्या मैं कोई काम नहीं कर सकती। यही होगा ना कि लोग हँसेंगे मगर मुझे हँसी की क्या परवा?''

रतन के चरित्र में किंचित मात्र प्रदर्शनप्रियता का भी अंश है। यूँ व्यर्थ का प्रदर्शन वह कभी नहीं करती। जब आत्म-प्रदर्शन के उसे सभी साधन उपलब्ध हों तो वह उनका उपयोग क्यों न करे? हँसी विनोद, सैर-सपाटा, खाना-पीना–ये सभी उसके विवाहित जीवन का आवश्यक अंग बन गई थीं। उसमें आभूषणों के लिए भी विशेष आकर्षण था और यह आभूषणप्रियता हर नारी में स्वाभाविक रूप से होती ही है। जालपा के कंगन उसे इतने भाते हैं कि वह वैसे ही कंगन लेने के लिए लालायित रहती है। किंतु उसकी इस भावना से किसी प्रकार की कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह इस आदत की पूर्ति सहज ही कर सकती है।

इस प्रकार रतन एक ऐसा नारी चरित्र है जो समाज की दूषित वृत्तियों की शिकार नारियों का प्रतिनिधित्व करता है। जीवन की सहज भावनाएँ प्रेम, ममता आदि विपरीत परिस्थितियों की झोंक में कुचली जाती

हैं। इतना ही नहीं, असाध्य विधवा के रूप में वह नारकीय यातना सहन करने के लिए विवश की जाती है। इस रूप में रतन पाठक की सहानुभूति का पात्र बन गई है।

देवीदीन

देवीदीन 'ग़बन' उपन्यास का महत्त्वपूर्ण पात्र है। यद्यपि यह उपन्यास के उत्तरार्द्ध में आता है, लेकिन थोड़े में बहुत की भावना इस पात्र के माध्यम से ही प्रस्तुत हुई है। यह पात्र प्रमुखत: लेखक के विचारों का प्रतिनिधि पात्र है–देशभक्त, साहसी, कर्मवीर।

देवीदीन रमानाथ को रेलगाड़ी में उस समय मिलता है जब रमानाथ विपरीत परिस्थितियों से घबराकर रेल में बिना टिकट बैठ जाता है। टिकट चैकर के आने पर रमानाथ की घबराहट देखकर–''किराए के पैसे मुझसे ले लेना''–कहता है, तो रमानाथ पाता है कि उसके सामने 60-70 साल का बूढ़ा घुला हुआ आदमी था। माँस तो क्या हड्डियाँ तक गल गई थीं। मूँछ और सिर के बाल मुँडे हुए थे। एक छोटी-सी बकुची के सिवा उसके पास और असबाब भी न था।'' देवीदीन उस समय बदरीनाथ की यात्रा करके लौट रहा था। ऐसे बुजुर्ग को मित्र के रूप में पाकर रमानाथ धन्य हो उठता है। कलकत्ते में वह रमानाथ की भरसक सहायता करता है। वस्तुत: देवीदीन **मानवीय आदर्श** का साकार रूप है। दुखी पीड़ित की सहायता करना उसका जीवन-लक्ष्य है।

जीवन को उसने बहुत गहराई से देखा है। यही कारण है कि उसे **मानव-मन की सहज परख** है। रमानाथ को देखकर वह तुरंत समझ जाता है कि वह किसी आपत्ति में पकड़कर घर से भागा हुआ युवक है। पुलिस के हथकण्डों से भी वह अनजान नहीं है इसीलिए रमानाथ को उससे बहुत सहायता मिलती है। राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र के पाखण्डियों को वह भली-भाँति जानता है। इसीलिए रमानाथ के मुँह से सेठ करोड़ीमल की दानवीरता की बात सुनकर वह कहता है–''उसे पापी कहना चाहिए, महापापी। ...अगर साल में दो चार हजार का दान न कर दे, तो पाप का धन पचे कैसे?'' साथ ही उसका यह भी विचार प्रकट होता है–''आदमी चाहे और कुछ न करे, मन में दया बनाए रखे। यही सौ धरम का एक धरम है।''

देवीदीन की सद्भावना से प्रेरित होकर रमानाथ उससे कुछ भी नहीं छिपाता। उसकी दयनीय दशा से द्रवित होकर देवीदीन उसकी भरसक सहायता करता है। वह एक ऐसा देशभक्त है जो समय पड़ने पर देश के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार रहता है। वह अपनी देशभक्ति का प्रचार नहीं करता, कोई मूल्य नहीं चाहता और न ही किसी पर किसी प्रकार की कृतज्ञता प्रकाशित करता है। वह भोग-विलास में अन्धे हो रहे, देशभक्ति के नाम को कलंकित करने वाले बड़े-बड़े आदमियों से सख्त नाराज है। उन्हीं के लिए देवीदीन का रोष इस रूप में प्रकट होता है–''अरे तुम क्या देस का उद्धार करोगे? पहले अपना उद्धार तो कर लो। गरीबों को लूटकर बिलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। इसीलिए तुम्हारा इस देस में जनम हुआ है। हाँ रोये जाव, विलायती सरावें उड़ाओ, बिलायती मोटरें दौड़ाओ, बिलायती मुरब्बे और अचार चक्खो, बिलायती बरतनों में खाओ, बिलायती दवाइयाँ पियो, पर देस के नाम को रोए जाव।'' इस रूप में देवीदीन प्रेमचन्द की उत्कट देशभक्ति का साकार रूप है।

जीवन के खट्टे मीठे अनुभवों से गुजरकर देवीदीन का व्यक्तित्व निखर गया है। उसमें **साहस और उत्साह का अपूर्व भण्डार** है। रमानाथ के लिए वह सभी से, यहाँ तक कि दारोगा से भी उलझने की हिम्मत रखता है–''हूँ तो दो टके का आदमी, पर बड़े बड़े अफसरों तक पहुँच है... जिस दिन मेरा घर खुदेगा, उस दिन यह पगड़ी और यह चपरास भी न रहेगी हजूर।'' कलकत्ता से प्रयाग आकर खेतीबाड़ी करने में उसका रूप और भी तेजस्वी हो उठता है। जमीन लेकर, बाग लगाने, गाय-भेंस खरीदकर वह सुख और शांति का अनुभव करता है।

देवीदीन के चरित्र का महत्त्वपूर्ण पक्ष है उसका **विनोदी स्वभाव।** जीवन की गहराई को गंभीरतापूर्वक समझने और विभिन्न क्षेत्रों में अपने कौशल से धाक जमाने वाले ही देवीदीन की ऊर्जा का स्रोत है उसका हंसमुख स्वभाव–''वह बात बेबात पर भी हँस देता है। जिस बात पर और लोग रोते हैं, उस पर उसे हँसी आती है।

पत्नी सर्वत्र ओजस्वी गंभीरता दिखाने वाला यह वृद्ध अपनी 'बुढ़िया' के आगे भीगी बिल्ली बन जाता है उसके सामने डरकर कान पकड़ लेने में भी उसे तनिक हिचक नहीं है। इस रूप में यह पात्र एक ऐसा चरित्र है जो समाज में बहुत कम, लेकिन फिर भी देखने को मिल जाते हैं।

जोहरा

जोहरा एक नर्तकी (वेश्या) है जो समाज से ठुकराई हुई कुपथ पर चलने के लिए विवश है। पुरुषों की वासना-वृत्ति उसके जीवन की लाचारी है। लेकिन वह अपने जीवन के इस कुरूप पक्ष की गहराई को भली-भाँति समझती है। रमानाथ के द्वारा उस जैसी नारियों पर व्यंग्य का उत्तर वह इस रूप में देती है–''वहाँ आप लोग दिल-बहलाव के लिए जाते हैं, महज ग़म ग़लत करने के लिए, महज़ आनन्द उठाने के लिए। जब आपको वफा की तलाश ही नहीं होती, तो वह मिले क्योंकर? लेकिन इतना मैं जानती हूँ कि हममें जितनी बेचारियाँ मरदों की बेवफाई से निराश होकर अपना आराम-चैन खो बैठती हैं, उनका पता अगर दुनिया को चले, तो आँखें खुल जायें।''

जोहरा पैसे की मोहताज या वासना की मूर्ति नहीं, जीवन की सच्ची परख रखने वाली **विचारशीला नारी है।** प्रेम के महत्त्व को वह भली-भाँति समझती है। रमानाथ के पास उसे इसलिए भेजा गया था कि वह अपनी पत्नी को भूल जाय। पर रमानाथ के अनुराग से प्रेरित होकर, उसकी इच्छा-पूर्ति के लिए वह जालपा को खोज निकालने के लिए प्राणपण से जुट जाती है। रमानाथ जालपा का पता मिलते ही घर से निकल पड़ता है तो उसके हृदय में रमानाथ के प्रति सात्विक प्रेम इस रूप में व्यक्त हुआ है–''रमा के प्रति ऐसा प्यार, ऐसा विकल करने वाला प्यार उसे कभी न हुआ था, जैसे कोई बीर बाला अपने प्रियतम को समरभूमि की ओर जाते देखकर गर्व से फूली न समाती हो।'' रमानाथ इस अमर प्रेम से अनभिज्ञ नहीं है। वह उसका अनुचित लाभ नहीं उठाता है। उसके उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त हुए हैं–''मैं इसे अपना सौभाग्य हूँ कि मुझे उस तरफ से प्रकाश मिला, जिध र से औरों को अन्धकार मिलता है। विष में भी मुझे सुधा प्राप्त हो गई।''

यह एक ऐसा चरित्र है जो जीवन-पथ में नीचे से ऊपर की ओर उठती गई है। गोद में बच्चे को लिए डूबती हुई स्त्री को बचाने के लिए वह गंगा की तेज़ लहरों में सदा के लिए लीन हो जाती है। इस रूप में उसके पापमय जीवन का प्रायश्चित है। इस रूप में उसने अपने अस्थिर जीवन का एक 'स्थिर अंत' स्वीकार किया। यह प्रेमचन्द का आदर्श भाव है जो यदा कदा पात्रों के माध्यम से पाठक तक पहुँचता ही है।

दयानाथ

दयानाथ रमानाथ के पिता हैं। वे एक स्थिर पात्र हैं, जो जीवन में सदैव सुनिश्चित आदर्शों पर ही चलते हैं। **ईमानदारी** जिसके जीवन का मूल आदर्श है। वह चाहते तो अपने पद का लाभ उठाकर हजारों रुपये कमा सकते थे। पर ऐसा सोचना भी उनके लिए अनुचित है। पुत्र के विवाह पर आवश्यकता से अधिक खर्चा करना उनकी नीति के विरुद्ध है, पर रमानाथ की इच्छा जानकर उन्हें विवशतापूर्वक ऐसा करना पड़ता है। बाद में रुपये न दे पाने के कारण वे जालपा से गहने वापिस करने की बात जब अपनी पत्नी से कहते हैं, तो उससे उनकी यह विचारधारा और भी स्पष्ट हो जाती है–''जो बात जिन्दगी-भर नहीं की, वह अब आखिरी वक्त नहीं कर सकता। बहू से साफ-साफ कह दो उससे पर्दा रखने की जरूरत क्या है और पर्दा रह भी कितने दिन सकता है।''

लेकिन जब सन्तान नालायक हो तो पिता को लाचारी में **अनुचित मार्ग पर चलना** भी पड़ सकता है। पुत्र द्वारा बहू को गहनों के चोरी की घटना को स्वीकार करके वे बुजदिली का प्रमाण देते हैं, लेकिन देखा जाय, तो परिस्थिति ही ऐसी थी कि इसके अतिरिक्त उनके पास कोई और मार्ग ही नहीं रह गया था।

दयानाथ एक ईमानदार व्यक्ति है जो अचानक बीमार हो जाने के कारण ठीक समय पर आवेदन पत्र नहीं भेज पाता। इसका कारण है सर्जन का अनुचित ढंग से फीस माँगना, जिसे पूरा करना दयानाथ को उचित नहीं

लगता। ऐसे में परिस्थितियाँ उसका साथ नहीं देती और उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। वह एक ऐसा पात्र है जो मध्यवर्गीय नौकरी पेशा लोगों की कारुणिक स्थिति को प्रस्तुत करता है।

इन्द्रभूषण

वकील इन्द्रभूषण रतन का पति है, जिसकी कथा मूल कथा के साथ-साथ चलती है। यह अपने क्षेत्र का प्रसिद्ध वकील होने के साथ ही समाज सेवी व्यक्ति है। वह साठ वर्ष की अवस्था में छोटी आयु की युवती से विवाह करता है। इस रूप में उसे विलासी या अन्यायी कहा जा सकता है, लेकिन उसके चरित्र के ऐसे अन्य भी पक्ष हैं, जो उसे सत्पात्रों की कोटि में खड़ा करते हैं।

इन्द्रभूषण का अधिक आयु में विवाह करने का एक मनोवैज्ञानिक कारण है। पहली पत्नी की मृत्यु के उपरांत अपने बेटे के कारण उसने विवाह नहीं किया था, लेकिन बेटे को भी जब काल के क्रूर हाथों ने छीन लिया, तो जीवनाधार के लिए उसे दूसरा विवाह करना पड़ा। आयु का अधिक अंतर होने के कारण वह एक तरह से पत्नी के सर्वथा अयोग्य है, इस तथ्य से वह परिचित है। इस खाई को पाटने के लिए वह **रतन के प्रति सदैव स्नेह और सम्मान का भाव** रखता है। ''वकील साहब को रतन से पति का-सा प्रेम नहीं, पिता का-सा स्नेह था। उनके पास उसे प्रसन्न करने के लिए धन के सिवा और चीज ही क्या थी? उन्हें अपने जीवन में एक आधार की जरूरत थी, सदैव आधार की जिसके सहारे वह इस जीर्ण दशा में भी जीवन-संग्राम में खड़े रह सके।'' इसीलिए वे भरसक ही रतन की इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करते थे।

इन्द्रभूषण एक सहृदय मानव है। ''देखने में जितने कठोर मालूम होते हैं, भीतर से इनका हृदय उतना ही नर्म है। कितने ही अनाथों, विधवाओं और गरीबों के महीने बाँध रखे हैं। पत्नी के प्रति भी उनके उद्‌गार हैं–''मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है, प्रिये! ओह! कितना बड़ा अन्याय! मैंने तुम्हारे जीवन का सर्वनाश कर दिया, क्षमा करना।'' वे जानते थे कि उनकी मृत्यु के बाद रतन का जीवन अनेक संकटों से घिर सकता है इसलिए वे वसीयत करना चाहते थे, पर रतन ने उन्हें इसका अवसर ही नहीं दिया, क्योंकि वह परिस्थिति की गंभीरता को ही नहीं समझ पाई थी। इसी कारण पति की मृत्यु के बाद उसे अनेक संकटों को झेलना पड़ा। इन्द्रभूषण का चरित्र इस एक पंक्ति से जाना जा सकता है–''इनके लिए जीवन में कौन सा सुख था–न खाने पीने का सुख, न मेले, तमाशे का शौक। जीवन क्या दीर्घ तपस्या थी जिसका मुख्य उद्देश्य कर्त्तव्य-पालन था।''

रमेश

रमेश रमानाथ का मित्र है, जो सरलता, सादगी, सच्ची मित्रता के गुण से युक्त है। उम्र चालीस वर्ष, मन से शौकीन, शतरंज के खिलाड़ी। खेलने बैठ जाते तो दफ्तर भी जाना भूल जाते थे। पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। अतः मन बहलाव के लिए यह विनोद ही एकमात्र आधार था। म्यूनिसिपैलिटी में हेड क्लर्क है। इस पद पर हजारों के वारे न्यारे हो सकते थे, पर वह रिश्वत को हराम समझता है। **मित्रता** के लिए कुछ भी कर गुजरना उसकी प्रकृति में है। रमानाथ को नौकरी वही दिलवाता है। पहले वह रमानाथ को रिश्वत लेने से नहीं रोकता लेकिन जब पाता है कि पानी सर से ऊँचा जा रहा है तो सच्चे मित्र की भाँति उसे रोकने का पूरा प्रयास करता है।

अनुचित सहायता को वह सही नहीं मानता इसीलिए रमानाथ के उधार माँगने पर वह उसे साफ मना कर देता है–''मेरे तुम प्यारे दोस्त हो, तुमसे दुश्मनी नहीं करना चाहता, इसलिए मुझे क्षमा करो।'' वह रमानाथ को सचेत भी करता है कि उसे म्यूनिसिपैलिटी के पैसे समय पर जमा करवा देने चाहिए। अन्यथा वह बुरे परिणाम के लिए तैयार रहे। इस रूप में वह मित्रता से अधिक कर्तव्यपरायणता को महत्त्व देता है।

जग्गो

जग्गो देवीदीन की पत्नी है जिसका प्रारंभिक परिचय एक कटु-भाषिनी और रूढ़ परंपराओं की अनुगामिनी

के रूप में है। देवीदीन जैसे पति को छोटी-छोटी बात पर डाँटना-फटकारना उसकी प्रकृति बन गई है–''इनसे कौन नसा छूटा है, चरस यह पियें, गांजा यह पियें, सराब इन्हें चाहिए, भांग इन्हें चाहिए।'' जग्गो के इस आक्रोस के पीछे उसके जीवन का दुर्भाग्य छुपा हुआ है। जीवन में जब अधिक कुछ न हो और जो कुछ हो वह भी छिन जाय, तो व्यक्ति का स्वभाव कटु हो ही जाता है। जग्गो और देवीदीन युवा पुत्रों को आँखों के आगे अपने से हमेशा के लिए दूर जाते हुए देख चुके हैं। देवीदीन ने जहाँ स्वयं को इन सब बातों से तटस्थ करने का प्रयास किया है, वहाँ जग्गो अन्दर की इस आग में सदैव झुलसती रहती है। उसकी **ममता** की चरम सीमा है जब वह अपने बेटों के मुग्दर की जोड़ी को रमानाथ को दिखाते हुए कहती है–''यह जोड़ी मेरे लालों की जुगल जोड़ी है। यही मेरे दोनों लाल हैं'' रमानाथ को तब अनुभव होता है कि 'बुढ़िया' में कितना पावन धैर्य, विशाल वत्सलता है। उसका 'हृदय कितना स्नेहमय, कितना कोमल कितना मनस्वी' है।

रमानाथ के प्रति उसके हृदय में अपार वत्सल है। जालपा को वह पूरी तरह से पुत्रवधू के रूप में ही अपनाती है। यहाँ उसका रूढ़िवादी व्यवहार अवश्य उभरता है। वह उसे अपने चूल्हे-चौके से दूर ही रखती है। रमानाथ से वह कहती है–''बेटा खटिक कोई नीच जात नहीं है। हम लोग बराम्हन के हाथ का भी नहीं खाते। कहार का पानी तक नहीं पीते। मांस-मछरी हाथ से नहीं छूते... लेकिन मेरी रोटियाँ तुम्हें अच्छी लगेंगी।'' रमानाथ के कहने पर–''प्रेम की रोटियों में अमृत रहता है अम्मां...'' –तो उसका मन ऐसे भरा-भरा सा हो जाता है जैसे मानो 'आँचल में वह आनन्द की निधि भरे हो।

जग्गो **साहसी** नारी है। वह बड़ी उम्र में भी अपनी जिम्मेदारी पर दुकान चलाती है। स्वयं मंडी से सब्जी तरकारी के टोकरे भरवाकर लाती है। वह स्वाभिमानी और निर्लोभी है। रमानाथ के सरकारी गवाह बनने पर, जब वह जग्गो के लिए सोने की चूड़ियाँ लाता है तो वह उसे दूर फेंक देती है। निश्चय ही यह व्यक्तित्व साधारण होते हुए भी असाधारण और हृदयस्पर्शी बन गया है।

प्रतिपाद्य

प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के ऐसे प्रतिभावान लेखक थे, जिन्होंने अपने मौलिक चिंतन से तत्कालीन कथा-साहित्य की धारा को एक दिशा दी। प्रेमचंद से पूर्व हिन्दी उपन्यास तिलस्मी और एय्यारी कथाओं के बंधन से जकड़ा था और उसमें जासूसी और काल्पनिक घटनाक्रमों की प्रधानता थी। प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास को काल्पनिकता से हटाकर यथार्थ से जोड़ा। उन्होंने आम आदमी की रोज़मर्रा की समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया और उन्हें एक ठोस आधार प्रदान किया। उनके उपन्यासों में ग्रामीण कृषक वर्ग और मजदूर वर्ग के साथ-साथ भारतीय मध्यमवर्गीय जीवन की समस्याओं को भी वाणी मिली है। मध्यमवर्गीय समाज में व्याप्त दिखावे की भावना, झूठी शान और आर्थिक कठिनाइयों की जिस सच्चाई को प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया, उसने उन्हें जन-जन का लेखक बना दिया।

'ग़बन' प्रेमचंद का ऐसा उपन्यास है, जिसके द्वारा भारत के मध्यमवर्गीय समाज के अनेक पहलुओं को उजागर करना और उसकी समस्याओं को उभारना लेखक का मूल प्रतिपाद्य है। इसमें लेखक ने एक मध्यमवर्गीय परिवार को केन्द्रबिंदु बनाकर उन कमियों और दुर्बलताओं को रेखांकित किया है, जिनके कारण वह जीवन के मूलतत्त्व को भुलाकर दिखावे की ज़िंदगी जी रहा है। उपन्यास के आरंभ में स्त्रियों की आभूषणप्रियता के प्रश्न को उठाया गया है। सावन के महीने में झूला झूलती महिलाओं के बीच एक बिसाती रंग-बिरंगी गुड़ियाँ, चूड़ियाँ और गहने लेकर आता है। सभी महिलाएँ अपनी पसंद के मुताबिक कई चीज़ें खरीदती हैं। इनमें एक छोटी बालिका अपनी माँ से फिरोजी रंग का चंद्रहार लेने की ज़िद करती है। माँ द्वारा उस नकली हार की गुणवत्ता का प्रश्न उठाए जाने पर बिसाती का यह कथन 'बहूजी, चार दिन में तो बिटिया को असली चंद्रहार मिल जाएगा इस उपन्यास की मूल समस्या के आरम्भ की ओर संकेत करता है। इस छोटी बच्ची का नाम जालपा है, जो प्रयाग के एक छोटे से गाँव के मुख्तार दीनदयाल की इकलौती संतान है। दीनदयाल जब भी काम से प्रयाग जाते हैं, अपनी

बेटी के लिए कोई न कोई आभूषण जरूर लाते हैं–क्योंकि उन्हें लगता है कि ये आभूषण ही उनकी बेटी के लिए सबसे अच्छे खिलौने हैं। वास्तव में माता-पिता की यही सोच लड़कियों के मन में उठने वाली आभूषण प्रियता का मूल कारण है, जिसे वह सारी ज़िंदगी भुला नहीं पाती। जालपा के मन को उसकी ससुराल से आने वाले चंद्रहार की कल्पना इतने गहरे तक प्रभावित करती है कि वह उससे बाहर किसी अन्य वस्तु की कल्पना ही नहीं कर पाती। अपने विवाह के समय भी उसका ध्यान केवल इसी बात पर लगा रहता है कि ससुराल की ओर से आए चढ़ावे में क्या-क्या गहने हैं और उनमें चंद्रहार है या नहीं। जब उसे ज्ञात होता है कि चढ़ाव के गहनों में चंद्रहार नहीं आया तो उसकी आशाओं पर वज्रपात हो जाता है। जैसे-जैसे वह अपने मन को मना भी लेती, पर यहीं उसकी सखी शहज़ादी उसके इस ज़ख्म पर चोट करती हुई कहती है–''सास ससुर को बार-बार याद दिलाती रहना। बहनोई जी से दो-चार दिन रूठे रहने से भी बहुत कुछ काम निकल सकता है... उन्हें मालूम हो जाए कि बिना चंद्रहार बनवाये कुशल नहीं। तुम जरा भी ढीली पड़ी और काम बिगड़ा।''

यही स्थिति वर-पक्ष के घर की भी है। अपने पुत्र रमानाथ का विवाह बड़े घर में करने के कारण दयानाथ को भी लोगों के सामने अपनी नाक ऊँची रखने के लिए होने वाली पुत्रवधू के लिए कई गहने बनवाने पड़ते हैं। अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वह न चाहते हुए भी उधार पर गहने बनवाते हैं। शादी के सात दिन के अंदर सर्राफ को एक हज़ार रुपए चुकाने का वादा पूरा करने में असमर्थ होने पर उन्हें अपने ही घर में बहू के गहने चोरी करवाने का नाटक करना पड़ता है। इसी प्रकार आगे भी अपनी नवविवाहिता पत्नी के आग्रह पर उसे प्रसन्न करने के लिए रमानाथ द्वारा अपनी हैसियत से बढ़कर गहने बनवाना और निरंतर कर्ज़ में डूबते जाना हमारे समाज में व्याप्त आभूषण प्रियता की इस समस्या को बड़ी तीव्रता से अंकित करता है। सर्राफ लोग भी समाज की इस कमज़ोरी को पहचानते हैं और अपनी मीठी-मीठी बातों से ऐसा कपटजाल बुनते हैं कि आदमी फँसे बिना नहीं रहता। रमानाथ जालपा के लिए गहने देखने बाज़ार जाता है पर अपनी आर्थिक स्थिति पहचानकर उन गहनों को खरीदने से इनकार कर देता है तो सुनार का यह कथन ''रुपयों का मुँह न देखिए बाबूजी, जब बहूजी पहनकर बैठेंगी, तो एक निगाह में सारे रुपये तर जायेंगे–''उसे न चाहते हुए भी उन गहनों को उधार पर लेने के लिए मजबूर कर देता है। इसी प्रकार वकील इंद्रभूषण की पत्नी रतन और खटिक देवीदीन की पत्नी जागेश्वरी भी इस आभूषण मोह के जाल में जकड़ी हैं। यह स्त्रियों का आभूषण-प्रेम ही है जो रमानाथ को रिश्वत लेने, उधार लेने और ग़बन करने पर मजबूर करता है। उपन्यास के एक पात्र रमेश का यह कथन लेखक के मन की व्यथा को व्यक्त करता है–''गहनों का मरज़ न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया। जिन लोगों के भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहनों के पीछे प्राण देते हैं। ''हर साल अरबों रुपये केवल सोना-चाँदी खरीदने में व्यय हो जाते हैं... जिस देश के लोग जितने ही मूर्ख होंगे, वहाँ ज़ेवरों का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा।'' इसी प्रकार देवीदीन भी समाज में फैले गहनों के इस रोग का खुलासा इस प्रकार करता है–''जहाँ देखो–हाय गहने! हाय गहने! गहने के पीछे जान दे दें, घर के आदमियों को भूखा मारें, घर की चीज़ें बेचें। और कहाँ तक कहूँ अपनी आबरू तक बेच दें। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सबको यही रोग लगा हुआ है।'' 'गबन' के पात्रों के ये कथन लेखक की विचारधारा के साथ-साथ हमारी सामाजिक स्थिति को भी प्रतिबिंबित करते हैं।

गहनों के मोह के कारण स्त्रियाँ अपने पुरुषों पर अनुचित दबाव डालती हैं और पुरुष स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए येन-केन-प्रकारेण धन जुटाकर उन्हें गहने गढ़वाकर देते हैं। सीधे रास्ते से धन न मिलने पर वे रिश्वत और उधार का सहारा लेते हैं। प्रेमचंद ने प्रस्तुत उपन्यास 'ग़बन' के माध्यम से **रिश्वतखोरी और कर्ज की आदत** को आभूषणप्रियता के साथ जुड़ी हुई समस्या के रूप में प्रस्तुत किया है। जब रमानाथ का विवाह दीनदयाल की पुत्री जालपा के साथ होना निश्चित होता है तो उसके पिता पुत्र के विवाह के लिए कर्ज लेकर जीवन भर के लिए अपनी सुख-शांति से हाथ धो बैठते हैं। इसी प्रकार रमानाथ भी एक बार उधार पर गहने खरीदकर उस चक्रव्यूह में इस प्रकार फँसता है कि उससे बाहर नहीं निकल पाता। व्यापार-कुशल जौहरियों के वाक्-जाल में वह ऐसा उलझता है कि हाथ में पैसे न होते हुए भी उधार पर तरह-तरह के आभूषण लेता चलता

है पत्नी को आभूषण देकर उसे प्रसन्न करने का नशा उस पर इतना हावी हो जाता है कि वह उधार चुकाने की बात को नजरअंदाज करते हुए निरंतर कर्ज में डूबता जाता है। यही नहीं, जब उसे म्युनिसिपैलिटी के दफ्तर में नौकरी मिल जाती है तो तीस रुपए तनख्वाह वाली जगह को भी वह इसलिए स्वीकार कर लेता है कि वह 'जगह आमदनी की थी।' नौकरी मिलते ही वह इस कल्पना में खो जाता है कि उसे ऊपरी आमदनी कितनी होगी जिससे वह जालपा के लिए अन्य गहनों के साथ-साथ चंद्रहार भी बनवा सकेगा।

रिश्वतखोरी की समस्या समाज के हर क्षेत्र में फैली हुई है। चाहे वह म्युनिसिपैलिटी का दफ्तर हो या पुलिस महकमा, हर जगह यह दानव की तरह अपने विकराल पंजे फैलाए है। कोई इसे रिश्वत न कहकर दस्तूरी कहता है तो कोई इसे अपना काम करवाने के लिए दी गयी भेंट। रिश्वत लेने वालों के तो लालच का अंत नहीं, पर देने वाले भी इस बुराई को बढ़ाने में बराबर के जिम्मेवार हैं। व्यापारी लोग अपना काम निकलवाने के लिए बाबू को अपने लाभांश का एक छोटा हिस्सा खुशी-खुशी देते हैं और बाबू लोग भी उनकी धांधली को समझकर उनसे ज़्यादा से ज़्यादा माल निकलवाने की फ़िराक में रहते हैं। यह बात अब छिपी-दबी नहीं है बल्कि खुले आम होती है। खाँ साहब रमानाथ को इस जगत्-व्यवहार के बारे में बताते हुए कहते हैं–''हर एक बिल्टी पर एक आना बँधा हुआ है, खुली हुई बात है। लोग शौक से देते हैं। ...इस एक आने में आधा चपरासियों का हक़ है। जो बड़े बाबू पहले थे, वह पच्चीस रुपया महीना लेते थे।''

यही स्थिति पुलिस-विभाग में भी है। रमानाथ को छुड़ाने के लिए देवीदीन जब दारोगा को पाँच गिन्नियाँ भेंट करता है तो ऊपर से ईमानदार बने रहने का ढोंग करते हुए भी वह उससे पचास गिन्नियाँ लाने को कहता है। मामला सच हो या झूठ, एक बार जो पुलिस के हत्थे चढ़ा, वह बग़ैर खिलाये-पिलाये छूट नहीं सकता। यह रोग हमारे समाज में इतनी गहराई से पैठ चुका है कि हर आदमी को कहीं-न-कहीं इसका सामना करना ही पड़ता है। रिश्वतखोरी की इस समस्या को बेबाक ढ़ंग से सबके सामने रखना और उसके प्रति आम आदमी को जगाना 'गबन' के प्रतिपाद्य का महत्त्वपूर्ण पहलू है।

दिखावा और मिथ्याडंबर की बुराई भी हमारे समाज के प्रत्येक वर्ग को जकड़े हुए है। शादी-ब्याह का अवसर हो या अन्य कोई सामाजिक उत्सव, लोग बढ़-चढ़कर अपने धन-वैभव का प्रदर्शन करना चाहते हैं। होड़ा-होड़ी भी यह वृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि उतनी हैसियत न होते हुए भी सभी प्रदर्शन-भावना से पीछे नहीं हटते। फिर इसके लिए चाहे कर्ज-उधार का सहारा ही क्यों न लेना पड़े। प्रेमचंद ने 'गबन' में दयानाथ, जालपा आदि सभी पात्रों में दिखावे और मिथ्या आत्मप्रदर्शन की भावना का चित्रण किया है। दयानाथ जानते हैं कि शादी में खर्च करने के लिए उनके पास बहुत धन नहीं है और वे इसके लिए कर्ज लेने के भी हिमायती नहीं हैं पर टीके में कन्या पक्ष की ओर से एक हजार रुपये पाकर वे भी समाज में अपनी हेकड़ी नहीं कराना चाहते। वह भी ऐसी बारात ले जाना चाहते हैं कि लोग लंबे समय तक याद करें। उन्होंने नाच-तमाशे, आतिशबाजी, दूल्हे के लिए मोटर, दुल्हन के लिए शानदार चढ़ाव का ऐसा इंतजाम किया कि सबके मुँह से 'वाह, वाह' निकल गयी। इस एक क्षण की वाहवाही के लिए उन्होंने जीवन भर के लिए संकट मोल लिये यदि वे 'जितनी चादर, उतने पैर पसारने वाले अपने आदर्श पर टिके रहते और सामर्थ्य से अधिक दिखावा न करते तो न उन्हें कर्ज में डूबना पड़ता और न ही पुत्रवधू के गहने स्वयं चोरी करवाने की नौबत आती। इसी प्रकार रमानाथ नौकरी लगने पर दफ्तर में पहनने के लिए नया सूट बनवाता है हैट और फैशन की कितनी ही चीजें खरीदता है ताकि वह अपने साहबी ठाठ दिखाकर सब पर रौब जमा सके। इसी प्रकार पैसे न होते हुए भी वह उधार पर पत्नी के लिए नये-नये गहने बनवाता है ताकि उस पर उसके धनी होने का रुआब बना रहे। जालपा भी, जब तक उसके पास गहने नहीं हैं, गली मुहल्ले के किसी उत्सव में शरीक नहीं होती, पर जैसे ही उसके पास गहने आते हैं, उसे घर में बैठना अच्छा नहीं लगता क्योंकि ''वस्त्राभूषण कोई मिठाई तो नहीं, जिसका स्वाद एकांत में लिया जा सके।'' जालपा का रोज सैर-सपाटे, सिनेमा, पार्क जाना और साथवालियों पर अपने रूप और अमीरी का रंग जमाने के लिए कई रुपये खर्च कर देना उसके आत्मप्रदर्शन का ही रूप है, जिसने उसके पति को सरकारी रुपये खर्च

करने पर मजबूर किया। स्पष्ट है कि यह रमानाथ और जालपा की आडंबरप्रियता ही थी। जिसके कारण वे जीवन-भर संकटों से जूझते रहे। यह मिथ्याडंबर समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए दु:खदायी है, जिसके प्रति प्रत्येक को निर्भीक और जागरूक बनना होगा, यह संदेश देना भी 'गबन' के लेखक का उद्देश्य है।

प्रेमचंद ने समाज के पतन के लिए **आर्थिक विषमता** को भी काफी सीमा तक जिम्मेवार माना है। प्रेमचंद ने स्वयं अपने जीवन में आर्थिक तंगी को भोगा था और इस बात से परिचित थे कि निर्धनता ही सभी बुराइयों की जड़ है। 'ग़बन' में आर्थिक विषमता को उजागर करना लेखक का मुख्य उद्देश्य तो नहीं है, पर बीच-बीच में कुछ पात्रों के माध्यम से उन्होंने इस ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। 'गबन' का एक पात्र रमेश रिश्वतखोरी का मूल कारण गरीबी को मानते हुए कहता है–''रिश्वत बहुत खराब है, मगर बाल-बच्चों वाला आदमी क्या करे। तीस रुपए में तो गुजर नहीं हो सकती है... मैं अकेला हूँ। मेरे लिए डेढ़ सौ काफी हैं... लेकिन जिस घर में बहुत से आदमी हों, लड़कों की पढ़ाई हो, लड़कियों की शादियाँ हों, वहाँ आदमी क्या कर सकता है? जब तक छोटे-छोटे आदमियों का वेतन इतना न हो जाएगा कि वह भलमंसी के साथ निर्वाह कर सके तब तक रिश्वत बंद न होगी। यह दाल-रोटी, घी-दूध तो वह भी खाते हैं। फिर एक को तीस और दूसरे को तीन सौ क्यों देते हो?'' लगभग यही भाव रमानाथ के इन शब्दों में भी दिखाई पड़ते हैं–''निर्धन रहकर जीना मरने से भी बदतर है। मैं केवल इतना धन चाहता हूँ कि जरूरत की मामूली चीज़ों के लिए तरसना न पड़े।''

इनके अतिरिक्त कतिपय **अन्य सामाजिक समस्याओं** को उठाना भी 'गबन' का उद्देश्य है। अभावग्रस्त निर्धन परिवार किस प्रकार अपनी युवा बेटियों का विवाह अधेड़ अथवा वृद्ध पुरुष से करने को विवश होते हैं, इसे प्रेमचंद ने रतन और वकील इन्द्रभूषण के **बेमेल विवाह** से स्पष्ट किया है। परिस्थिति के हाथों मजबूर लड़कियाँ अपने जीवन के विषय में निर्णय लेने में स्वतंत्र नहीं होती। शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में वे प्राप्त अधिकारों की रक्षा करने में भी अक्षम होती हैं। उम्र में पिता के समान इंद्रभूषण से विवाह करके रतन को अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है तो उनकी मृत्यु के पश्चात् वह और भी असहाय हो जाती है। वकील साहब का भतीजा मणिभूषण किसी वसीयत के न होने पर सम्मिलित परिवार की संपत्ति में पत्नी का हक न होने के कानून का सहारा लेकर उनकी सारी संपत्ति अपने नाम कराकर रतन को बेसहारा छोड़ देता है। जीवन भर बेमेल विवाह के दु:ख की मारी रतन विधवा होकर और भी दु:खी एवं बेघर बार हो जाती है। ऐसे लचर कानून और सम्मिलित परिवार की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाती हुई वह कहती है–''मगर ऐसा कानून बनाया किसने? क्या स्त्री इतनी नीच, इतनी तुच्छ, इतनी नगण्य है? क्यों... अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती तो मैं सब स्त्रियों से कहती-बहनो! किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना... अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छोड़ा है तो अकेली रहकर तुम उसे भोग सकती हो परिवार में रहकर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा। परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, काँटों की शय्या है।''

वास्तव में प्रेमचंद हमेशा **स्त्री-शिक्षा** के पक्षधर थे क्योंकि शिक्षा के अभाव में वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व एवं स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सकती। शिक्षित होने पर ही स्त्री अपने अधिकारों को समझ सकती है और समय आने पर उनका इस्तेमाल अपनी रक्षा के लिए कर सकती है। यदि स्त्री को स्वयं कार्य करने और निर्णय लेने की स्वतंत्रता दी जाए तो वह भी रचनात्मक कार्य करके समाज को नयी दिशा दे सकती है। आरंभ में आभूषणप्रिय जालपा यदि अपनी बुद्धि और आत्मविश्वास के बल पर घर से बाहर न निकलती, तो न रमानाथ का पता लगा सकती और न ही अपने सदविचारों से उसे प्रेरित कर उसे पतन के मार्ग पर चलने से रोक पाती। इस प्रकार 'गबन' उपन्यास में लेखक ने बहुत विस्तार से तो नहीं, किन्तु यथावसर अनमेल विवाह, विधवा विवाह, संयुक्त परिवार में नारी की स्थिति और स्वाधीनता आदि सामाजिक समस्याओं को भी स्वर दिया है।

इसी प्रकार समाज की एक महत्त्वपूर्ण समस्या वेश्या समस्या को उठाना भी 'गबन' के प्रतिपाद्य का एक अन्य पहलू है। प्रेम में निराशा, आर्थिक तंगी अथवा अर्थलोभ तथा कई बार परिस्थिति-वश किन्हीं गलत हाथों

में पड़ जाना आदि अनेक कारणों के वशीभूत कई स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति के कुमार्ग पर चल पड़ती है। बाह्य रूप से समाज द्वारा घृणा और हिकारत की दृष्टि से देखे जाने पर भी संभ्रान्त वर्ग के कई लोग ऐसी स्त्रियों के पास जाकर वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देने में सहायक होते हैं। 'गबन' की जोहरा अपने मन की व्यथा और विवशता व्यक्त करती हुई कहती है–'हममें जितनी बेचारियाँ मर्दो की बेवफाई से निराश होकर अपना चैन-आराम खो बैठती हैं, उनका पता अगर दुनिया को चले तो आँखें खुल जाय।'' परंतु ऐसी भाग्यहता स्त्रियों के मन में भी स्नेह का प्रच्छन्न स्रोत बहता है, जो कहीं से भी सहानुभूति और सम्मान पाकर नयी दिशा पा लेता है। प्रेमचंद ने रमानाथ, जालपा और रतन के सच्चे स्नेह को पाकर जोहरा के चरित्र में परिवर्तन दिखाकर यह सिद्ध किया है कि बुराई के बीच भी अच्छाई का अंकुर विद्यमान रहता है, जो अनुकूल वातावरण पाकर फूट उठता है।

प्रेमचंद ने अपनी कृतियों में युगीन सामाजिक समस्याओं को ही वाणी नहीं दी अपितु **राजनीतिक समस्याओं** को भी समाज के सामने रखा। उनका 'ग़बन' भी इसका अपवाद नहीं है। मुख्य रूप से सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का चित्रण करते हुए भी उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के कुछ पहलुओं को भी उजागर किया है। इनमें सर्वप्रमुख है–स्वदेशी की भावना। गांधीजी के आह्वान पर उस समय के लोगों ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी को अपनाने की कसम खाई थी। 'गबन' के एक पात्र देवीदीन के माध्यम से प्रेमचंद ने इसी स्वदेशी भावना को गौरवान्वित किया है। वह बताता है कि लोग विदेशी वस्तुओं और कपड़ों के मुकाबले स्वदेशी वस्तुएँ लेना पसन्द करते थे चाहे उनके लिए ज़्यादा पैसे क्यों न देने पड़ें–''जिस देश में रहते हैं, जिसका अन्न-जल खाते हैं, उसके लिए इतना भी न करें तो जीने को धिक्कार है। दो जवान बेटे इसी सुदेसी की भेंट कर चुका हूँ–दोनों विदेसी कपड़ों की दूकान पर तैनात थे। क्या मजाल थी कि कोई ग्राहक दूकान पर आ जाये. ..नौवें दिन दूकानदारों ने कसम खाई कि विलायती कपड़े अब न मँगावेंगे... तब से विदेसी दियासलाई तक घर में नहीं लाया।''

इसी प्रकार कतिपय अन्य प्रसंगों के माध्यम से तथाकथित नेताओं में सच्ची देशभक्ति का अभाव, पुलिस विभाग की अकर्मण्यता और झूठे मुकदमे बनाकर निरपराध लोगों को दंड दिलवाने का नाटक करना आदि स्थितियों का यथार्थ चित्रण करना भी 'गबन' के प्रतिपाद्य के अन्य पक्ष हैं।

भाषा-शिल्प

प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की भाँति 'ग़बन' की भाषा भी आम-बोलचाल की भाषा है। इस उपन्यास के सभी पात्र जिस-जिस वर्ग से संबंध रखते हैं, उनकी भाषा का रूप भी वैसा ही है। उपन्यास के प्रमुख पात्र दयानाथ, रमानाथ, जालपा, मानकी, दीनदयाल आदि इलाहाबाद के मध्यवर्ग के नौकरीपेशा परिवार से संबंध रखते हैं। अतः उनकी भाषा उसी वर्ग की व्यावहारिक भाषा है। ये पात्र उच्चशिक्षित भी नहीं हैं, अतः उनकी भाषा का रूप जन सामान्य की भाषा के बिल्कुल निकट दिखाई पड़ता है। उपन्यास के आरंभ में ही एक बिसाती वाले से मोल-भाव करती मानकी की भाषा में साधारण शब्दों का प्रयोग होते हुए भी उनकी सहज विश्वसनीयता प्रेमचंद की भाषा के सामर्थ्य की द्योतक है–

माँ ने बिसाती से पूछा–बाबा, यह हार कितने का है?

बिसाती ने हार को रूमाल से पोंछते हुए कहा–''खरीद तो बीस आने की है, मालकिन जो चाहें दे दें।

माता ने कहा–यह तो बड़ा महँगा है। चार दिन में इसकी चमक-दमक जाती रहेगी।

बिसाती ने मार्मिक भाव से सिर हिलाकर कहा–बहूजी, चार दिन में तो बिटिया को असली चन्द्रहार मिल जाएगा।

सहज, सरल भाषा से युक्त यह संवाद पाठक के सामने अनायास ही एक चित्र खींच देता है, जिसमें खरीददार की सस्ता माल खरीदने की मानसिकता और बेचने वाले की प्रभावपूर्ण तर्कशीलता स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी प्रकार जालपा के विवाह के अवसर पर उसकी सखियों की बातचीत तथा विवाह के पश्चात् सर्राफ के

तगादों से झल्लाए दयानाथ का अपनी पत्नी से वार्तालाप आम बोलचाल की भाषा के सटीक उदाहरण हैं।

दफ्तरों में, बाजारों में और पुलिस थानों में जैसी भाषा का प्रयोग किया जाता है, 'ग़बन' में अवसर और स्थिति के अनुरूप वैसी ही भाषा का प्रयोग किया गया है। पुलिस स्टेशन पर रमानाथ से उसकी असलियत जानने के लिए पूछताछ करते दारोगा और कांस्टेबल की भाषा का यह उदाहरण देखिए–

दारोगा ने गंभीर भाव से कहा–मामला कुछ संगीन है, क्या कुछ शराब का चस्का पड़ गया था?

''मुझसे कसम ले लीजिए, जो कभी शराब मुँह से लगायी हो।''

कांस्टेबल ने विनोद करके कहा–मुहब्बत के बाज़ार में लुट गये होंगे, हुजूर।

रमा ने मुस्कराकर कहा–मुझसे फ़ाक़ेमस्तों का वहाँ कहाँ गुज़र?

दारोग़ा–तो क्या जुआ खेल डाला? या, बीबी के लिए ज़ेवर बनवा डाले।

पुलिस वालों की यह भाषा उनके चरित्र और मुजरिमों से उनका अपराध कबूल कराने के उनके ढंग का सही ख़ाका खींचती है। इसी प्रकार रमानाथ के दफ़्तर का एक चपरासी सरकारी रुपये अपने पास रखने की ज़िम्मेदारी से इनकार करता हुआ कहता है–''नहीं बाबू साहब, मैं यहाँ रुपये नहीं रखने दूँगा। सब घड़ी बराबर नहीं जाती। कहीं रुपये उठ जाएँ तो मैं बेगुनाह मारा जाऊँ। सुभीते का ताला भी तो नहीं है यहाँ।'' स्पष्ट है कि 'गबन' की भाषा में पात्रानुकूल स्वाभाविकता है जो प्रेमचंद की भाषायी पकड़ के साथ-साथ सभी चरित्रों में गहरी पैठ की भी सूचक है।

प्रेमचंद आम जनता के लेखक थे। उन्होंने उनकी भाषा में उन्हीं की समस्याओं को प्रस्तुत किया। इसलिए उनकी भाषा में जिस शब्द-समूह का प्रयोग हुआ है, वह भी जनसाधारण की भाषा का है। उनकी भाषा में वह स्वाभाविकता और सहजता है, जो सोच-समझकर प्रयोग नहीं की जाती। यही कारण है कि प्रेमचन्द की अन्य कृतियों की भाँति 'ग़बन' में भी तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी सभी शब्दों का प्रयोग हुआ है। जहाँ इस उपन्यास में मार्मिक, आनन्द, अनुराग, कातर, प्रसन्न, पुरुषार्थ, त्रिया, आकांक्षा, रोदन, विकृत जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहीं टीम-टाम, अकारथ, कलेवा, कनबतियाँ, लहलहाना, संदूकची, जड़ाऊ, सुलगना, मुरझाना जैसे देशज और तद्भवशब्दों की भी बहुतायत है। चूँकि प्रेमचंद का आरंभिक लेखन उर्दू में था इसलिए हिन्दी-लेखन में भी उर्दू शब्दों का आना स्वाभाविक ही था। 'ग़बन' में भी आईना, सूरत, तकाज़े, तहरीर, शहादत, जिरह, ज़हीन, इलजाम, रंजीदा, तरद्दुद, शुबहा, सबब आदि अरबी-फारसी शब्दों का इतनी सहजता से प्रयोग हुआ है कि वह आम आदमी की भाषा प्रतीत होती है। इसी प्रकार अल्टरनेटिव, गवर्नमेंट, डाइरक्टरी, डिग्री, एप्रूवर, प्राउड आदि अंग्रेजी शब्द भी भाषा में घुले-मिले हैं।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ भाषा के वे अवयव हैं, जो उसे अधिक प्रभावशाली और मार्मिक बनाते हैं। इनमें प्रयुक्त सीधे-सरल शब्द भी इतने अर्थव्यंजक हो उठते हैं कि कथ्य बहुत गहरा और पैना हो जाता है। 'ग़बन' में भी आम आदमी द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों का इतना व्यापक और सटीक प्रयोग हुआ है कि वे कहीं भी आरोपित नहीं जान पड़ते। रमानाथ की उच्छृंखलता से चिंतित पिता दयानाथ को ढांढस बंधाती रामेश्वरी का यह कथन देखिए–''रामेश्वरी को अपने विवाह की बात याद आयी। दयानाथ भी तो गुलछर्रे उड़ाते थे, लेकिन उसके आते ही उन्हें चार पैसे कमाने की फ़िक्र कैसी सिर पर सवार हो गयी थी। ...बोली–''बहू आ जायेगी, तो उसकी आँखें भी खुलेंगी... जब तक गले में जुआ नहीं पड़ा है, तभी तक यह कुलेलें हैं। जुआ पड़ा और सारा नशा हिरन हुआ।''

इस एक संवाद में प्रयुक्त गुलछर्रे उड़ाना, सिर पर सवार होना, आँखें खुलना, गले में जुआ पड़ना, कुलेंले करना, नशा हिरन होना आदि मुहावरों का एक साथ प्रयोग जहाँ एक ओर रामेश्वरी जैसी आम गृहिणी द्वारा प्रयुक्त भाषा का नमूना प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर अर्थ को अधिक सार्थक एवं व्यंजक बनाता है। यही नहीं 'ग़बन'

में ऐसे अनेक प्रसंग और स्थल हैं जहाँ 'मन डाल-डाल दौड़ना, मेंढकी को जुकाम, कंगाल को पारस मिलना, भीगी बिल्ली बनना, आटे-दाल का भाव मालूम होना, मुँह देखे की प्रीत, आँख ओट पहाड़ ओट, जले पर नमक छिड़कना, मियाँ की जूती मियाँ के सिर, तबेले की बला बंदर के सिर आदि मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग इस उपन्यास की भाषा को सहजता एवं अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। किसी भाषा के शब्द भंडार को समृद्ध करने में मुहावरों और लोकोक्तियों के अतिरिक्त सूक्तियों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। सूक्तियाँ जीवन की वास्तविकताओं और अनुभवों पर आधारित वे यथार्थ कथन होते हैं, जो अपने भीतर गहरा अर्थ लिये होते हैं। प्रेमचंद मानव जीवन के पारखी थे, अतः उनकी कृतियों में सूक्तियों का अथाह भण्डार अनायास ही देखा जा सकता है। 'ग़बन' भी इसका अपवाद नहीं है। उपन्यास में अपने कथन को पुष्ट करने, पात्रों की मनःस्थितियों को उजागर करने अथवा स्थितियों को उनके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के लिए 'ग़बन' में कई सूक्तियों का प्रयोग लेखक ने किया है। उदाहरण-स्वरूप कुछ सूक्तियाँ इस प्रकार हैं–

1. अनुराग स्फूर्ति का भंडार है।
2. जो अपना पेट भी न पाल सके उसे जीते रहने का, दूसरों का बोझ बनने का कोई हक नहीं है।
3. हम क्षणिक मोह और संकोच में पड़कर अपने जीवन के सुख और शांति का कैसे होम कर देते हैं।
4. यौवन में प्रेम की क्षुधा इतनी नहीं होती, जितनी आत्मप्रदर्शन की।

भाषा यदि विचारों और भावों के संप्रेषण का साधन है, तो **शैली** उसकी प्रस्तुति की पद्धति। लेखक अपनी रुचि और कथ्य की आवश्यकता के अनुसार अनेक शैलियों का प्रयोग अपनी रचना में करता है। उपन्यासों में प्रायः वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, शैलियों का प्रयोग देखा जाता है। 'ग़बन' में प्रेमचंद ने मुख्य रूप से वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, काव्यात्मक और संवाद शैलियों का प्रयोग करते हुए कथा को विस्तार दिया है। वर्णनात्मक शैली में लेखक विविध पात्रों, घटनाओं और स्थितियों का वर्णन करता है। पुत्र के विवाह में अपनी हैसियत से बढकर खर्च करने के पश्चात् वास्तविकताओं से दो-चार होते दयानाथ की मनोदशा का वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है–''महाशय दयानाथ जितनी उमंगों से ब्याह करने गये थे, उतना ही हतोत्साह होकर लौटे। दीनदयाल ने खूब दिया, लेकिन वहाँ से जो कुछ मिला, वह सब नाच-तमाशों, नेग-चार में खर्च हो गया। बार-बार अपनी भूल पर पछताते, क्यों दिखावे और तमाशे में इतने रुपये खर्च किये।'' ये पंक्तियाँ स्थितियों के वर्णन के साथ-साथ कथा में आगे आने वाले मोड़ की भी संकेतक हैं।

विवेचनात्मक शैली में लेखक प्रस्तुत पात्रों, स्थितियों और घटनाओं का विवेचन करता है। अपने पति वकील साहब की बिगड़ती स्थिति वर्णन करते हुए रतन जालपा को पत्र लिखती है। इस पत्र में लेखक ने होने वाले अनिष्ट की शंका से कंपित रतन के हृदय की मानसिक अवस्था का चित्रण करते हुए कहा है–''बहन, नहीं कह सकती, क्या होने वाला है–दिल घबड़ा रहा है बहन, जी चाहता है, थोड़ी सी संखिया खाकर सो रहूँ। विधाता को संसार दयालु, कृपालु, दीनबंधु और जाने कौन-कौन सी उपलब्धियाँ देता है। मैं कहती हूँ उससे निर्दयी, निर्मम, निष्ठुर कोई शत्रु भी नहीं हो सकता... जिस दंड का हेतु ही हमें मालूम न हो, उस दंड का मूल्य ही क्या। वह तो जबरदस्त की लाठी है, जो आघात करने के लिए कोई कारण गढ़ लेती है।''

पत्रात्मक शैली का प्रयोग भी 'गबन' में अनेक स्थानों पर हुआ है। जैसे रमानाथ द्वारा घर छोड़ने से पूर्व अपने मन के ऊहापोह और विचारों के अंतर्मथन की सूचना पत्र द्वारा देना, जालपा द्वारा अपनी सखियों को पत्र लिखकर अपने विवाहित जीवन के विषय में बताना, रतन द्वारा जालपा को पत्र लिखकर अपने पति के बिगड़ते स्वास्थ्य के विषय में सूचित करना और रमानाथ को अपने निर्दोष होने की सूचना जालपा के पत्र से प्राप्त होना आदि।

इसी प्रकार **काव्यात्मक शैली** का प्रयोग उपन्यास की कथात्मकता में सरसता का संचार करता है। 'ग़बन'

का आरम्भ लेखक ने इसी शैली में किया है–''बरसात के दिन हैं, सावन का महीना। आकाश में सुनहरी घटाएँ छायी हुई हैं। रह-रहकर रिमझिम वर्षा होने लगती है... ये फुहारें मानो चिन्ताओं को हृदय से धो डालती हैं, मानो मुरझाये हुए मन को भी हरा कर देती हैं।'' इसी प्रकार उपन्यास के अंत में मृतप्राय रतन की दशा का वर्णन अत्यंत हृदयग्राही है, मानो एक चित्र साकार हो गया हो–''वह सूर्य मुखी का-सा खिला हुआ चेहरा मुरझाकर पीला हो गया था। वह रंग जिन्होंने चित्र को जीवन और स्पन्दन प्रदान कर रखा था, उड़ गये थे, केवल आकार शेष रह गया था। वह श्रवणप्रिय, प्राणप्रद, विकास और आह्लाद में डूबा हुआ संगीत मानो आकाश में विलीन हो गया था।''

संवाद शैली को भी इस उपन्यास में पर्याप्त स्थान मिला है। इस शैली के प्रयोग से कथा में रोचकता और प्रभविष्णुता का समाहार हुआ है। 'ग़बन' के अधिकांश संवाद संक्षिप्त, कथा-विकास में सहायक और पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को उभारने वाले हैं। जालपा और रमानाथ के प्रेम-प्रसंग, दयानाथ और रमानाथ की पारस्परिक नोक-झोंक, रमानाथ और देवीदीन के आत्मपरिचयात्मक विवरण, जालपा और रतन तथा जोहरा और रमानाथ का चरित्रांकन संवादों के माध्यम से ही हुआ है। इसी प्रकार दारोगा और देवीदीन तथा दारोगा और रमानाथ के संवाद संक्षिप्त और सारगर्भित हैं। एकाध अपवाद को छोड़कर संक्षिप्तता और सार्थकता की दृष्टि से 'ग़बन' की संवाद योजना का विशिष्ट स्थान है। कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य से युक्त चटपटे और रोचक संवादों ने उपन्यास की शैली को पूर्णता प्रदान की है।

प्रमुख स्थलों की व्याख्या

1. **''मुंशी दीनदयाल उन आदमियों में से थे, जो सीधों के साथ सीधे होते हैं, पर टेढ़ों के साथ टेढ़े ही नहीं, शैतान हो जाते हैं। दयानाथ बड़ा सा मुँह खोलते, हजारों की बातचीत करते, तो दीनदयाल उन्हें ऐसा चकमा देते कि वह उम्र भर याद करते। दयानाथ की सज्जनता ने उन्हें वशीभूत कर लिया।''**

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश युग और समाज की सच्चाई को व्यक्त करने वाले महान उपन्यासकार प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'ग़बन' नामक उपन्यास से लिया गया है। मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं को इस उपन्यास में बहुत ही सहज ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के प्रमुख पात्र रमानाथ और जालपा के विवाह से पूर्व उन दोनों के परिवार में विवाह-संबंधी, विशेष रूप से दहेज से सम्बन्धित जो प्रतिक्रियाएँ थीं, उनकी प्रस्तुति इन पंक्तियों के माध्यम से की गई है।

व्याख्या–मुंशी दीनदयाल जालपा के पिता हैं। अर्थ की दृष्टि से प्राय: सम्पन्न और व्यवहार में सीधे और स्पष्ट रहते हैं। वे अच्छे लोगों की प्रत्येक बात को स्वीकार करते हैं लेकिन जहाँ भी उन्हें किसी की चालाकी का आभास हो जाए, तो वे अपने व्यवहार से उसे सीधा करने में कोई भी कोर-कसर बाकी नहीं रखते। उसके लिए वे मानो 'शैतान' हो जाते हैं। जब उनकी पुत्री जालपा के विवाह की बात दयानाथ के बेटे रमानाथ से चली, तो पैसों के लेन-देन की भी बात आयी। ऐसे में अगर दयानाथ पुत्र के पिता होने के नाते लंबी-चौड़ी माँग रखते तो, निश्चय ही दीनदयाल उनका दिमाग ठिकाने लगा देते, लेकिन जब उन्होंने देखा कि लड़के वालों की ओर से कोई भी माँग नहीं है, तो वे उनकी सज्जनता को स्वीकार करके, शांत हो गए। उनके इस सद्व्यवहार से इतना प्रभावित हुए कि जहाँ वे विवाह में केवल एक हजार रुपये देने की बात सोच रहे थे, वहाँ टीके (सगाई) में ही उन्होंने एक हजार रुपये दे दिए।

विशेष–इन पंक्तियों में प्रमुख रूप से जालपा के पिता और रमानाथ के पिता के चरित्र का प्रस्तुतीकरण हुआ है। रमानाथ के पिता एक सज्जन पुरुष हैं और परिस्थितियों से अनुचित लाभ उठाना उन्हें गलत लगता है। जालपा के पिता उनके इस व्यवहार से प्रभावित होकर अपनी सज्जनता का परिचय देते हैं।

पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करते हुए, प्रस्तुत गद्यांश में प्रेमचंद की भाषा सरल, सहज और व्यावहारिक रही

है। मुहावरे इस गद्यांश की जान है। 'सीधों' के साथ सीधे, टेढ़ों के साथ टेढ़े, बड़ा सा मुँह खोलना, चकमा देना–आदि के माध्यम से पंक्तियों का शिल्प-सौष्ठव बढ़ा है।

2. **नाटक उस वक्त 'पास' होता है, जब रसिक समाज उसे पसन्द कर लेता है। बारात का नाटक उस वक्त पास होता है, जब राह चलते आदमी उसे पसन्द कर लेते हैं। नाटक की परीक्षा चार-पाँच घण्टे तक होती रहती है, बारात की परीक्षा के लिए केवल इतने ही मिनटों का समय होता है। सारी सजावट, सारी दौड़-धूप और तैयारी का निबटारा पाँच मिनटों में हो जाता है। अगर सबके मुँह से 'वाह वाह' निकल गया, तो तमाशा पास, नहीं फेल! रुपया, मेहनत, फिक्र, सब अकारथ।**

प्रसंग–प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'ग़बन' उपन्यास समाज के मध्यवर्ग की अनेक समस्याओं को प्रस्तुत करता है। जिनका एक पक्ष है–विवाह में किया गया आर्थिक दुरुपयोग। विवाह के समय लड़के की बारात एक नाटक के समान है। यहाँ लेखक ने रंगमंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले नाटक और बारात के नाटक का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया है।

व्याख्या–नाटक एक दृश्य काव्य हैं और रसिक-समाज, यानि जो इसका आनन्द उठाना चाहते हैं, उनके लिए नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। उस नाटक की सफलता इसी बात में निहित होती है कि दर्शक उसे इतना पसन्द करें कि उनके मुँह से अनायास ही 'वाह वाह' निकले। प्राय: नाटक तीन-चार घंटे के होते हैं और अंतिम दृश्य तक अगर नाटक की प्रस्तुति दर्शक को जिज्ञासा और आनंद से बाँधे रखती है तो नाटक सफल कहलाता है। दूसरी ओर बारात का 'नाटक' है। इसकी तैयारी भी असली नाटक की तरह बहुत समय पहले से ही शुरू हो जाती है। पैसों को जितना खुले हाथों लुटाया जाय, इस नाटक में उतना ही आनंद आता है। बाजे-गाजे, फुलवारियों के तख्त, जगह-जगह छूटती हुई हवाइयाँ, आतिशबाजी आदि राह-चलते लोगों का मनोरंजन करती हैं। अगर यह सारा धूम धड़ाका लोगों को पसंद आ गया तो समझो नाटक सफल है।

यहाँ इन पंक्तियों के माध्यम से बारात की तैयारी में की गई फिजूलखर्जी पर व्यंग्य किया गया है। बाह्याडम्बर मध्यवर्गीय समाज की ऐसी मनोवृत्ति है, जो उसके अपने ही संकट का कारण बनती है। रमानाथ की इच्छापूर्ति के लिए दयानाथ इस दिखावे में न चाहते हुए भी पूरा साथ देते हैं और इसी के कारण उन्हें अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

विशेष–किसी साधारण बात को असाधारण ढ़ंग से प्रस्तुत करने में प्रेमचन्द सफल रहे हैं। यहाँ बारात से नाटक की तुलना करने में भाषा सरल, व्यावहारिक और तर्कसंगत है।

3. **''यह मान-सम्मान उसी वक्त तक है, जब तक किसी के सामने मदद के लिए हाथ नहीं फैलाता। यह आन टूटी, फिर कोई बात भी न पूछेगा। कोई ऐसा भलामानस न दीखता था, जो सब कुछ बिना कहे ही जान जाय और उसे कोई अच्छी-सी जगह दिला दे। आज उसका चित्त बहुत खिन्न था। मित्रों पर ऐसा क्रोध आ रहा था कि एक-एक को फटकारे, आयें तो द्वार से दुत्कार दे।''**

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश प्रेमचंद के सामाजिक उपन्यास 'ग़बन' में से लिया गया है। आभूषण-मंडित संसार में पत्नी जालपा के गहने जब स्वयं उसके पति रमानाथ के द्वारा उठा लिए जाते हैं, तो वह बहुत दु:खी और चिंतित रहने लगती है। उसकी परेशानी दूर करने के लिए रमानाथ नौकरी की तलाश में इधर-उधर मारा फिरता है, लेकिन सफलता हाथ नहीं लगती। उसकी इसी मन:स्थिति का इन पंक्तियों में वर्णन किया गया है।

व्याख्या–अगर कोई व्यक्ति अपने मान-सम्मान को बचाए रखना चाहता है तो उसकी पहली शर्त है कि उसे किसी के सामने झुकना न पड़े, किसी भी स्थिति में नहीं। हाथ फैलाना यानि कुछ माँगना यानि झुकना–इस

स्थिति में किसी के आगे छोटा बनना पड़ता है। ऐसी स्थिति आने के बाद तो कोई पास भी नहीं आना चाहेगा। रमानाथ के अनेकानेक कहे जाने वाले मित्र तो अनेक थे, पर उसके मन की बात जानकर उसका अपना कहे जाने वाला कोई भी 'मित्र' न था। इसी बात को बार-बार सोचकर रमानाथ बहुत ही परेशान हो रहा था। अपने इन दोस्तों पर उसे बहुत क्रोध आ रहा था। उसका दिल चाह रहा था कि वह ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को दरवाजे से ही भगा दे जो उसका अपना मित्र बनने का ढोंग कर रहे थे।

विशेष–सामाजिक समस्या प्रधान इस उपन्यास में प्रेमचंद ने कथानायक रमानाथ के चित्त का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। समय की मार से व्यक्ति किस प्रकार बैचैन हो जाता है–इसका लेखक ने अत्यंत सहज, सरल शब्दावली में वर्णन किया है।

4. **उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है जिससे लोगों की परवरिश होती है और धन बढ़ता है। यहाँ धन श्रृंगार में खर्च होता है, उसमें उन्नति और उपकार की जो दो महान शक्तियाँ हैं, उन दोनों ही का अन्त हो जाता है। बस यही समझ लो कि जिस देश के लोग जितने मूर्ख होंगे, वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना अधिक होगा।**

प्रसंग–ये पंक्तियाँ प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास 'ग़बन' से ली गई हैं। प्रस्तुत उपन्यास की मूल संवेदना मध्यवर्गीय नारियों में व्याप्त आभूषणप्रियता से जुड़ी हुई हैं। इस प्रवृत्ति के कारण समाज की अर्थ-व्यवस्था भी बहुत प्रभावित होती है–इसी भाव की प्रस्तुति इन पंक्तियों के माध्यम से की गई है।

व्याख्या–रमानाथ का मित्र रमेश उसे समझाता हुआ कहता है कि आभूषण-प्रेम अपने आप में बुराई नहीं है। पर उससे पहले अपनी आर्थिक स्थिति अवश्य देखनी चाहिए। भारत मूलतः एक ऐसा देश है जिसका आम आदमी अपनी जरूरत को ही कठिनाई से पूरा कर पाता है, ऐसे में गहनों की चाह रखना, अपने को कर्जे के बोझ से दबाना है। अर्थ की दृष्टि से विकसित देशों में धन को व्यापार में लगाया जाता है, जिससे धन तो बढ़ता ही है देश प्रगति के पथ पर भी बढ़ता जाता है। लेकिन भारत में यह धन श्रृंगार आदि में लगाया जाता है जिससे आर्थिक प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है। वास्तव में गहनों का अत्यधिक आकर्षण मूर्खता की निशानी है क्योंकि यह तो अपने ही हाथों अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारने वाली बात है।

विशेष–थोड़े शब्दों में ही सहजता से गंभीर बात को प्रस्तुत करने में प्रेमचन्द सदैव सफल रहे हैं। यहाँ भी दो मित्रों की पारस्परिक बातचीत के माध्यम से देश की आर्थिक दशा के लिए उत्तरदायी सामाजिक वृत्ति को अत्यंत स्वाभाविक शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है।

5. **हम क्षणिक मोह और संकोच में पड़कर अपने जीवन के सुख और शान्ति कैसे होम कर देते हैं। अगर जालपा मोह के इस झोंके में अपने को स्थिर रख सकती, अगर रमा संकोच के आगे सिर न झुका देता, दानों के हृदय में प्रेम का सच्चा प्रकाश होता, तो वे पथ-भ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर न जाते।**

प्रसंग–प्रेमचन्द कृत गबन उपन्यास के प्रमुख पात्र रमानाथ और जालपा जब विपत्ति के भँवर में फँस जाते हैं तो उनकी मानसिक दशा किस प्रकार की होती है, इसी का सटीक वर्णन इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या–व्यक्ति के जीवन में थोड़े से समय के लिए मोह या संकोच का भाव जागृत होता है, अगर वह उसे पहचानकर उस पर विजय पा लेता है तो उसका संकट टल जाता है, लेकिन अगर वह इनके चक्कर में आ जाता है तो उसके जीवन से सुख और शांति स्वयं उसके ही हाथों नष्ट हो जाती है। जालपा के मन में आभूषणों के प्रति बहुत ही आकर्षण था। अगर वह इस लालसा को नियंत्रण में रखती तो निश्चय ही वह एक सुखी जीवन जी रही होती, क्योंकि उसके जीवन में विपत्ति का मूल कारण उसका आभूषण प्रेम ही था। दूसरी ओर रमानाथ सदा ही सत्य बताने में संकोच करता रहा। अगर वह ऐसा न करता तो उसके जीवन में गबन जैसी

घटना भी न घटी होती। वास्तव में उसे जालपा को पहले ही अपनी आर्थिक दशा की वास्तविकता बता देनी चाहिए थी, पर वह सदैव यह अपनी पत्नी से छुपाता ही रहा। पति-पत्नी के संबंध में एक खुलापन अपेक्षित होता है। इसके मूल में सच्चे प्रेम की भावना रहती है। पर रमानाथ और जालपा के संबंधों में संभवतः प्रेम का वह उज्जवल प्रकाश नहीं था, जिसकी चमक में दोनों एक दूसरे को पहचान पाते। इस अभाव के कारण दोनों ही विपत्ति के भँवर में निरन्तर डूबते चले गए।

विशेष–जीवन के दार्शनिक पक्ष के उद्घाटन के द्वारा उपन्यास के पात्रों की वर्तमान स्थिति, और उसके माध्यम से भविष्य की आशंका व्यक्त की गई है। इन पंक्तियों में रमानाथ और जालपा के चरित्र की न्यूनताओं को भी देखा जा सकता है। भाव गंभीर लेकिन भाषा सहज और प्रवाहमयी है।

6. **रमा ने इस पत्र को भी फाड़कर फेंक दिया और कुर्सी पर बैठकर दीपक की ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। दीपक उसे दिखाई देता था, इसमें संदेह है। इतनी ही एकाग्रता से वह कदाचित आकाश की काली, अभेध मेघराशि की ओर ताकता! मन की एक दशा वह भी होती है, जब आँखें खुली होती हैं और कुछ नहीं सूझता, कान खुले होते हैं और कुछ सुनाई नहीं देता।**

प्रसंग–प्रेमचन्द ने अपने 'ग़बन' नामक उपन्यास में सामाजिक समस्याओं का विस्तार से वर्णन किया है। समस्या का एक रूप है, आवश्यकता से अधिक धन-खर्च। इसका परिणाम सदैव दुखद ही होता है। कथानक रमानाथ अपनी इसी भावना के कारण किस प्रकार संकट में पड़ता है, इन पंक्तियों में उसी का मनोवैज्ञानिक अंकन किया गया है।

व्याख्या–रमानाथ ने रतन के पैसे लौटाने के लिए अपने मित्रों के पास सहायता माँगी, पर सभी ने किसी न किसी बहाने से इन्कार कर दिया। रमेश ने पत्र लिखकर स्पष्ट किया कि वह मित्रों के बीच धन के लेन-देन को अनुचित समझता है क्योंकि इससे पारस्परिक विरोध ही बढ़ता है। इस पत्र को फाड़कर फेंकने के बाद रमानाथ बहुत ही चिंता में पड़कर सामने रखे दीपक की ओर ध्यान से देखने लगा। प्रायः परेशानी में पड़कर व्यक्ति अपने चेतन से कट जाता है। ऐसे में विचारों में गहनता से लीन होने के कारण वह यह भी नहीं जान पाता कि वह क्या कर रहा है। रमानाथ की इस समय ऐसी ही अवस्था थी। वह दीपक देख तो रहा था, पर मन कहीं और होने के कारण वह संभवतः यह नहीं जान पा रहा था कि वह दीपक की ओर लगातार देख रहा है। उसकी इसी मानसिक दशा पर लेखक टिप्पणी करता है कि वह इस समय जितनी तल्लीनता से अपनी परेशानी के बारे में सोच रहा था, उतनी ही एकाग्रता से अपने जीवन रूपी आकाश में छायी मेघघटा जैसी विपत्ति को जान पाता, तो निश्चय संकट टल सकता था।

रमानाथ की इस आन्तरिक दशा को प्रस्तुत करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं कि मन की इसी बेचेनी और उद्विग्नता की स्थिति में आँखें सामने के दृश्य को देखकर भी नहीं देख रही होती हैं और कानों में किसी ध्वनि के सुनने पर भी उस ओर ध्यान नहीं जाता है।

विशेष–रमानाथ की मानसिक चिंतातुर स्थिति का अत्यंत सजीव एवं सटीक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

7. **जिस देश में स्त्रियों की जितनी अधिक स्वाधीनता है, वह देश उतना ही सभ्य है। स्त्रियों को कैद में, या परदे में, या पुरुषों से कोसों दूर रखने का तात्पर्य यही निकलता है कि आपके यहाँ जनता इतनी आचार-भ्रष्ट है कि स्त्रियों का अपमान करने में जरा भी संकोच नहीं करती।**

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियों प्रेमचन्द द्वारा लिखित उपन्यास 'ग़बन' से ली गई हैं। प्रस्तुत संवाद रतन के पति वकील

इन्द्रभूषण द्वारा कहा गया है जिसमें स्त्रियों की वर्तमान दशा पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या–रमानाथ के यह कहने पर कि 'योरप में स्त्रियों का आचरण बहुत अच्छा नहीं है, वकील इन्द्रभूषण कहता है कि स्त्रियों को स्वाधीनता देने से देश का गौरव बढ़ता है। क्योंकि स्वाधीनता उनके व्यक्तित्व में निखार लाती है, उन्हें उन्नति के नए-नए अवसर प्रदान करती है। अत: देश की सभ्यता के विकास के लिए स्त्रियों को स्वतंत्र चिंतन, मनन और आचरण का पूरा अधिकार मिलना ही चाहिए। स्त्रियों को अनुशासन और सामाजिक मर्यादा के नाम पर कैद करना, परदे में रखना या पुरुषों से अलग करना उनका अपमान है। स्त्रियों को अगर स्वतंत्र जीवन जीने की प्रेरणा दी जाय तो वे भी पुरुषों के समान राजनीति, धर्म-कला, साहित्य आदि विभिन्न देशों में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित कर सकती हैं।

यहाँ वकील के इस संवाद के माध्यम से प्रेमचन्द की नारी विषयक भावना को स्पष्टत: जाना जा सकता है। वे गाँधी जी की भाँति स्त्री-स्वाधीनता के समर्थक थे और अवसर मिलने पर वे अपने इन आदर्श विचारों की प्रस्तुति अवश्य करते थे।

विशेष–एक वकील के माध्यम से प्रस्तुत यह संवाद तार्किक एवं चुस्त भाषा शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

8. **रुदन में कितना उल्लास, कितनी शांति, कितना बल है। जो कभी एकांत में बैठकर किसी की स्मृति में, किसी के वियोग में, सिसक-सिसक और बिलख-बिलख नहीं रोया, वह जीवन के ऐसे सुख से वंचित है, जिस पर सैकड़ों हंसियाँ न्यौछावर हैं। उस मीठी वेदना का आनंद उन्हीं से पूछो, जिन्होंने यह सौभाग्य प्राप्त किया है। हँसी के बाद मन खिन्न हो जाता है, आत्मा क्षुब्ध हो जाती है, मानो हम थक गए हों, पराभूत हो गए हों। रुदन के पश्चात एक नवीन स्फूर्ति, एक नवीन जीवन, एक नवीन उत्साह का अनुभव होता है।**

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रेमचन्द के उपन्यास ग़बन से उद्गृहीत हैं। घर से दूर चले गए रमानाथ की खोज के लिए जालपा जब शतरंज की एक पहेली समाचार-पत्र के माध्यम से प्रकाशित करवाती है तो उसका उत्तर मिलने पर उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। 'प्रजा-मित्र' नामक समाचार पत्र के कार्यालय से प्राप्त पत्र को पाकर जालपा की जो मानसिक दशा होती है, इन पंक्तियों में उन्हीं का चित्रण किया गया है।

व्याख्या–रमानाथ को जब जालपा किसी भी प्रकार न ढूँढ़ पाई तो शतरंज की पहेली ही उसे एक ऐसा उपाय सूझा, जिसके माध्यम से वह अपने खोए पति का पता पा सकती थी, पर उसे इसकी सफलता में संदेह था। अत: जब कार्यालय से उसके पास पत्र पहुँचा तो वह अपनी इस 'आशातीत' सफलता पर प्रसन्नता के मारे रो उठी। रुदन यानि रोना–व्यक्ति के जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके माध्यम से मन की आकुलता, व्यर्थ के आवेग आँसुओं के रूप में बाहर आ जाते हैं और मन उल्लास और शांति भाव से पूर्ण हो जाता है। लेखक का विचार है जीवन में व्यक्ति जब किसी की याद में रोता है, या फिर उससे किसी प्रिय का वियोग सहन नहीं होता है, तो यह स्थिति दुख का कारण अवश्य बनती है, पर इसके साथ ही प्रेम और अपनेपन की अनमोल भावना भी छुपी हुई है। जो इन अनुभवों से परे है, या जिसने अपने जीवन में कभी प्रेम की तड़प को अनुभव ही नहीं किया है, उसका जीवन, उसकी हँसी एकदम व्यर्थ है। प्रिय की स्मृति में हृदय जीवन की अनमोल पूँजी है। हँसी का भाव थोड़े समय के लिए है पर रोने के बाद एक नई जीवन चेतना का आभास होता है और इसे वही अनुभव कर सकता है जो इसकी प्रक्रिया से गुजर चुका हो।

विशेष–हँसी से अधिक जीवन में रुदन का महत्त्व है, क्योंकि वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति के जीवन को तो संतुलित करता है साथ ही उसमें प्रेम की गहराई का भी परिचायक है। इस भाव को लेखक ने अत्यंत सहज, व्यावहारिक भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

अन्य व्याख्या योग्य प्रसंग

1. वह लालसा जो आज ..... अवलम्बर भी छीन लिया। (पृ. 10)
2. उसकी आँखें भर आयीं ..... असह्य थी। (पृ. 21)
3. उस वक्त यदि रमा ने ..... प्रहार किया हो। (पृ. 85)
4. मेरे हृदय में जितना प्रेम ..... छोटी बात है। (पृ. 136)
5. बुढ़िया के प्रति आज रमा ..... मनस्वी है। (पृ. 164)
6. यहाँ आकर अनुभव होता है ..... नहीं हो गया है। (पृ. 167)
7. विधाता को संसार दयालु ..... बाँह पकड़ेगा। (पृ. 177)
8. मानव-जीवन की सबसे महान ..... आश्चर्य है। (पृ. 181)

आपका बंटी
(मन्नू भंडारी)

– डॉ. शुभ लक्ष्मी

लेखक-परिचय

नयी कहानी को प्रतिष्ठित करने में जिन कहानी-लेखकों का प्रमुख योगदान रहा है; उनमें मन्नू भंडारी का नाम अग्रणी है; यद्यपि इस संदर्भ में अपनी भूमिका को लेकर, अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने स्वीकार किया है, ''कहानी आंदोलन के केन्द्र में क्या, मैं तो किनारे पर भी नहीं थी। यह महज संयोग की बात है कि मैंने जब लिखना शुरू किया तो 'नयी कहानी' के सूत्रधार अपने पूरे चढ़ाव पर थे। उन सभी-से मेरा घनिष्ठ संबंध-संपर्क था, सो मेरा भी नाम जुड़ गया। इसे मेरी मासूमियत मत समझिए, सच्चाई यह है कि मुझे तो आंदोलन का क-ख-ग भी नहीं आता था उस समय.....।'' लेकिन यह स्पष्ट है कि वे भले ही योजनाबद्ध तरीके से आंदोलन से न जुड़ी हुई हों, परन्तु रचनात्मक स्तर पर वह इस आंदोलन और उसकी उपलब्धियों से सीधे तौर पर जुड़ी हुई थी।

3 अप्रैल 1931 ई. के दिन मध्यप्रदेश के भानुपुरा में जन्मी मन्नू भंडारी, हिंदी पारिभाषिक-कोष के निर्माता श्री मुखसम्पतराय भण्डारी की सबसे छोटी पुत्री हैं अर्थात् साहित्यिक संस्कार और जीवन से उनका सीधा संबंध रहा है। कहानीकार आलोचक राजेन्द्र यादव से प्रणयसूत्र में बँधने के बाद उन्हें संभवत: सर्वसुलभ परिस्थिति मिली और उनके लेखकीय व्यक्तित्व और प्रतिभा में निरंतर निखार आता गया। सन् 1957 में उनका-पहला कहानी संग्रह 'मैं हार गई' नाम से प्रकाशित हुआ।'' 'मैं हार गई' कहानी संग्रह अपने पिता को समर्पित करते हुए उन्होंने उनके प्रति श्रद्धा भाव इन शब्दों में व्यक्त किया है– ''जिन्होंने मेरी किसी भी इच्छा पर कभी अंकुश नहीं लगाया, पिता जी को।'' उसके उपरान्त सन् 1979 तक 'तीन निगाहों की तस्वीर, यही सच है, एक प्लेट सैलाब, श्रेष्ठ कहानियाँ, मेरी प्रिय कहानियाँ तथा त्रिशंकु आदि उनके सात कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

कहानियों के अतिरिक्त 'एक इंच मुस्कान' (राजेन्द्र यादव के साथ) आपका बंटी, स्वामी, महाभोज, कलवा जैसी उपन्यास कृतियों में जीवन की अनेकार्थी गहराई और विविधता, उन्हें फार्मूलाबद्ध लेखन से कहीं अलग होने का गौरव प्रदान करती है। 'बिना दीवारों का घर' उनकी नाट्य-रचना है, साथ ही उन्होंने महाभोज उपन्यास का नाट्य रूपान्तर भी प्रस्तुत किया है। 'आँखों देखा झूठ' किशोरोपयोगी कहानी-संग्रह है।

कथाकार मन्नू भंडारी

साठोत्तरी महिला कथाकारों में मन्नू भंडारी का विशिष्ट स्थान है। वे सदा से ही नारी अस्तित्व के पारिवारिक और सामाजिक-पक्ष के प्रति पूर्ण सजग रही हैं। अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में उनका कहना है कि उनके सभी पात्र वास्तविक जीवन से ही आए हैं–''मुझे जब भी कोई घटना या व्यक्ति 'क्लिक' करता है–मैं कभी तुरन्त उस पर नहीं लिख पाती। उस समय तो उसे मन के किसी कोने या डायरी के किसी पृष्ठ पर उतारकर रख लेती हूँ। और फिर बाद में मन में बसे व्यक्ति घटना या समस्या को सार्थक विस्तार देने के लिए उनकी रचना का जन्म होता है। उनकी कथा यात्रा लगभग 4 दशकों तक फैली हुई है जिसमें उन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों और मध्यवर्गीय जीवन-यथार्थ के विविध पक्षों का बखूबी आकलन किया है। वे नारी के आँचल को दूध और आँखों में 'पानी' वाले रूप को नहीं, बल्कि जीवन को उसी की दृष्टि यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करती हैं। राजेन्द्र यादव का कहना है–'मन्नू की जिन बातों की मैं बहुत-बहुत इज़्जत करता हूँ उनमें उसके लिखने का तरीका, उसकी सहजता और निर्ब्याज आत्मीयता का प्रवाह है।''

मन्नू भंडारी ने अत्यन्त ईमानदारी के साथ नारी के मन में उठने वाले भावों, स्थिति विशेष में पुरुष के मन में उठने वाले भावों और स्थिति-विशेष में पुरुष के मन में जगने वाली शंकाओं, ईर्ष्याओं आदि को अपने

कथा-साहित्य में चित्रित किया है। उनका साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे जो कुछ नहीं हैं, उसे दिखाने की कहीं कोई चेष्टा भी उन्होंने नहीं की है। ''वे नारी हैं–मात्र नारी और यह नारीत्व एक ओर भारतीय परम्पराओं और दूसरी ओर आधुनिक परिवेश-दोनों को बड़े सहज ढ़ंग से आत्मसात किए हुए है।'' (मन्नूभंडारी, एक पुरुष एक नारी)। सम्बन्धों के दरम्यान गठरी होती दरारें, अन्तर्द्वन्द्व से उठता हुआ सैलाब, पात्रों की क्रमशः उठती-गिरती हुई मानसिकता, कहने की सहजता, संवादों से उभरती हुई भाषा का बनावहीन चुनाव, अपने आस-पास के परिवेश से उठे हुए कथानक, लीक से हटकर आए हुए लेखन के सीधे विद्रोहात्मक पहलू इन सबसे गुजरी है उनकी कलम (आपका बंटी, पुनश्च) यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में ही नहीं, बल्कि अन्य भारतीय और विदेशी भाषाओं में भी उनके साहित्य का अनुवाद हुआ है। पंजाबी में उनकी बीस कहानियों का अनुवाद कर उसका एक संकलन निकला गया। तमिल, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में 'आपका बंटी' का अनुवाद हो चुका है तथा कन्नड़, तेलुगु, सिंधी, बंगला आदि भाषाओं उनकी कई कहानियों का अनुवाद निकला है। 'आपका बंटी' और 'महाभोज' का फ्रेंच, जरमन, अंग्रेजी और जापानी भाषा में भी अनुवाद निकल चुका है।

आपका बंटी-कथा समीक्षा

'आपका बंटी' सोलह भागों में विभक्त एक लघु उपन्यास है, जिसमें पारिवारिक विसंगति के शिकार पति-पत्नी के एकमात्र पुत्र बंटी को केन्द्र में रखकर उसके मानस का मनोवैज्ञानिक और यथार्थवादी चित्रण किया गया है। कॉलेज की प्रिंसीपल शकुन पति के अभाव की पीड़ा को पुत्र के प्रति प्रेम व्यक्त करके सहज होने का प्रयास करती है। उसके मन में कहीं दबी ढकी आशा है कि शायद बंटी के कारण अजय उसके जीवन में फिर से आने को विवश हो जाएगा। तब एक अजीब-सी भावना उसके मन में आई-बंटी उसका बेटा ही नहीं है, वह एक हथियार भी है, जिससे वह अजय को टॉरचर कर सकती है, करेगी। लेकिन वकील चाचा अजय द्वारा प्रस्तावित तलाक के फार्म शकुन तक पहुँचा देते हैं और दोनों का संबंध-विच्छेद हो जाता है। बंटी ममी के दुःख में दुःखी होने के बावजूद यह नहीं सोच सका कि 'वह पापा को भूल सकता है, क्योंकि पापा तो उसे बहुत अच्छे लगते हैं।

वकील चाचा के समझाने पर कि ''जब बंटी की अपनी जिन्दगी होगी, अपनी इच्छाएँ, अपनी महत्वकाँक्षाएँ, तब तुम्हारा कितना महत्त्व होगा उसकी जिंदगी में! ...मैं चाहता हूँ कि तुम अपने बारे में सोचना शुरू करो, बिल्कुल नए ढंग से, एकदम व्यावहारिक स्तर पर।'' तो शकुन को लगता है कि डॉक्टर जोशी के 'आमंत्रण' पर उसे गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए, क्योंकि उनका साथ पाकर शकुन महसूस करती है कि 'किसी का हल्का-सा स्पर्श भी कैसे जिन्दगी को किसी के साथ होने के अहसास और आश्वासन से भर देता है। उसे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि उम्र के छत्तीस वर्ष पार कर लेने पर भी उसके मन में इन सब बातों के लिए कैशोर्य उम्रवाला उल्लास भी है और यौवन वाली उमंग भी। और शकुन तथा डॉक्टर जोशी का विवाह हो जाता है। ममी के आश्वासन 'वहाँ तुझे बहुत अच्छा लगेगा बंटी' के बावजूद बंटी महसूस करता है कि मम्मी की शादी को लेकर टीटू की अम्मा और फूफी को बहुत बुरा लगा है। बंटी का परिवेश और अतीत धीरे-धीरे बिखरने लगते हैं। घर बदल जाता है, फूफी छोड़कर चली जाती है। जो कुछ अपना था, सब अजनबी बन जाता है। एक मम्मी अपनी थी लेकिन 'पराए' घर जाकर वह भी अपनी नहीं रही। मम्मी का मिसेज़ बत्रा से मिसेज़ जोशी हो जाना, डॉक्टर का मम्मी को छूना, बच्चों का उसे अरूप बत्रा कहकर चिढ़ाना–बंटी के मन में लगातार ग्रंथियाँ पैदा करता जाता है। खिलौनों पर अमि और जोत से झगड़ा, नए घर को दूसरों का घर समझना, मम्मी से अलग सोना आदि घटनाएँ उसके क्रोध का कारण बनती हैं। बस के लिए खड़े होकर उसका सोचना 'तीसरा बच्चा, फालतू बच्चा' तीसरा बंटी फालतू बच्चा ही है। हालात से मजबूर वह अपने पापा के पास कलकत्ता जाने का निर्णय लेता है। उसके मन का आक्रोश मम्मी की हर चीज से अलग पापा के पाए जाने के लिए उकसाता है। 'पापा का बंटी' बना वह मम्मी की हर वस्तु से दूर पापा के शहर में पहुँच जाता है।

जीवन का यह नया मोड़ उसे पापा और नई माँ के पास ले आता है। वहाँ अमि और ज़ोत थे तो यहाँ टीनू है। इस नई माँ को वह मम्मी कैसे कह सकता है। यहाँ आकर उसे लगता है कि पापा भी पापा कहाँ रहे हैं? वह जिस पापा को जानता था, वे तो यहाँ हैं ही नहीं। परिस्थितियों का यह नया रूप बंटी के मन में एक अजीब-सी दहशत भर देता है। पापा को कसकर पकड़े रहने के बावजूद उसे यह भय बराबर बना रहता है कि पापा का हाथ छूट जाएगा और वह भीड़ में खो जाएगा। नई माँ का व्यवहार उसे सदा अपने से दूर ही रखता है। ''पता नहीं वहाँ से भेज भी कैसे दिया इस तरह, मैं तो बाबा... सुनकर बंटी के मन में झटका-सा लगता है और वह वापिस मम्मी के पास जाना चाहता है, पर 'बाहर के ढेर-से शोर में उसका अपना सोचना भी दब गया'। ''पापा तो उसे हॉस्टल भेजना चाहते हैं और वह वहाँ जाना नहीं चाहता। सोते हुए भयानक सपना देखकर वह आतंकित हो जाग जाता है, पर पापा उसे फिर से सुला देते हैं। बंटी के डरे, सहमे रूप को देखकर पापा, मीरा के विरोध के बावजूद उसे हॉस्टल भेजने का निश्चय करते हैं। मीरा को आपत्ति है कि इससे उनके घर पर आर्थिक संकट आ सकता है, लेकिन पापा बंटी की स्थिति को ध्यान में रखकर यही एक उचित उपाय सोच पाते हैं। एक बार बंटी मम्मी से अलग हुआ था तब उसकी सारी वस्तुएँ अलग रख दी गई थीं, आज वह पापा से भी अलग हो रहा है। उसे बार-बार लगता है कि पापा उसे प्यार करके कुछ कहेंगे, पर ऐसा होता नहीं है। उसे लगता है कि पापा, मम्मी, उनके साथ जुड़े न जाने कितने चेहरे एक दूसरे में घुलने मिलने लगे हैं। बंटी का स्टेशन आ जाता है और अपने पीड़ा के निरन्तर प्रहार के परिणामस्वरूप उसका मन ही नहीं, आँखें भी ढ़ेर सारे आँसुओं से भर उठती हैं। अब तो बंटी को विवश होकर हॉस्टल में रहने की पीड़ा को भोगना ही है। मोहभंग की यह स्थिति बंटी के लिए अत्यंत करूणादायी है।

इस मुख्य कथानक के साथ-साथ कुछ अन्य कथा-सूत्र भी साथ में चलकर मुख्य कथा को गति प्रदान करते हैं। डॉ. जोशी का प्रसंग कथा में एक महत्त्वपूर्ण स्थिति को उत्पन्न करता है। उनकी पत्नी प्रमिला की मृत्यु हो चुकी है। उनके अमि और जोत 2 बच्चे हैं। बंटी के गंभीर रूप से बीमार पड़ने पर डॉक्टर साहब का प्रोफेशनल और भावनात्मक सहयोग शकुन के मन को बहुत प्रभावित करता है। शकुन की पारिवारिक स्थिति को वे भली-भाँति जानते हैं। अनुभवी और व्यवहार कुशल डॉ. जोशी संकेतों में अपने मन के भावों को शकुन तक पहुँचाने में सफल होते हैं और अजय से दूर होती हुई शकुन कब उन्हें जीवन साथी के रूप में स्वीकारने के लिए न केवल तैयार हो जाती है, बल्कि स्थिति को संभालने की इच्छा से वह बंटी को अजय के पास भेजने का भी निश्चय करती है।

फूफी घर की दायित्वबोध से पूर्व एक सेविका है जो शकुन की अत्यंत विश्वासपात्र भी है। वह प्रत्येक स्थिति में शकुन और बंटी को सुखी देखना चाहती है इसलिए अजय से सदैव घृणा करती है। वह न तो अजय के दूसरे विवाह से खुश है और ना ही शकुन के पुनर्विवाह को समर्थन देती है क्योंकि वह जानती है कि ''उन्होंने (अजय ने) जो किया तो आपकी मिट्टी पलीद हुई और आप (शकुन) जो करने जा रही है तो इस बच्चे की मिट्टी पलीद होगी। (क्योंकि) बाप के रहते यह बिना बाप का रहा और माँ के रहते वह बिना माँ का ना हो जाए''।

टीटू के परिवार के माध्यम से अड़ौस-पड़ौस के लोगों की मानसिकता प्रस्तुत हुई है। बीच-बीच में टीटू बंटी के अर्न्तद्वन्द को बढ़ाने या घटाने में भी सहायक बनता है।

उपन्यास का **प्रारंभ** शकुन और बंटी के भावनात्मक वर्णन से होता है। बंटी का माँ की मानसिकता को समझने का प्रयास, बंटी को माध्यम बनाकर शकुन की अजय को पाने की आशा वकील चाचा से अजय के मीरा के साथ संबंधों को जानकर शकुन की छटपटाहट, प्रतिक्रियास्वरूप उसका डॉ. जोशी की ओर आकृष्ट होना उपन्यास में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करती है। शकुन का तलाक के कागज़ों पर हस्ताक्षर करने के बाद विवाह संघर्ष को **चरमसीमा** तक पहुँचा देता है। परिस्थितियों से समझौता न कर पाने के कारण बंटी और शकुन को अलगाव की यातना भोगनी पड़ती है। पापा के पास जाकर भी बंटी नई माँ को 'आँटी' या 'वे' तक ही अपना

पाता है, पर उनके साथ उसके पापा भी 'उसके' नहीं रह जाते। अबनार्मल (असामान्य) बंटी के लिए **अंततः** हॉस्टल ही एकमात्र मार्ग रह जाता है। अब वह पापा और मम्मी दोनों से कट चुका है। सारी दुनिया उसके लिए अजनबी है। अब उसे न केवल अपनी भीतरी संवेदनाओं का अकेले रहकर सामना करना पड़ेगा, वरन् बाहरी समाज में भी अकेले अपने-आप को स्थापित करने का प्रयास करना होगा।

मनोविज्ञान

बाल मनोविज्ञान–प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड, एडलर और युग के सिद्धान्तों का आश्रय लेकर बंटी के अन्तर्द्वन्द्व और तज्जन्य कुंठाओं का अत्यंत सजीव और वैज्ञानिक आकलन प्रस्तुत किया है। बंटी की पारिवारिक स्थितियाँ सामान्य नहीं हैं, इसलिए उसके व्यवहार में अनेक असामान्यताएँ आ गई हैं। उसका **ईगो** अत्यंत प्रबल है इसलिए उसमें **एकाधिकार** की भावना सदैव विद्यमान है। उसके खिलौने हो या माता, पिता–वह इन्हें किसी के साथ नहीं बाँट सकता। मीरा और डॉक्टर जोशी के प्रति उसके मन में **ईर्ष्या-भाव** है क्योंकि वह इन्हें मम्मी और पापा के अलगाव का मूल कारण मानता है। सुखवाद (अपने ही सुख के बारे में सोचना) के कारण अपनी ही इच्छाओं की पूर्ति चाहता है लेकिन विफलता के कारण **विद्रोही** बन जाता है।

बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण में **वंशागत विशेषताएँ** और **परिवेश** का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। बंटी के व्यवहार में उसके पापा के स्वभाव और संस्कार देखकर शकुन सोचती है– ''...कैसे एक आदमी एक छोटे-से अणु में अपना चेहरा, मोहरा, आदत, स्वभाव, संस्कार–सब कुछ अपने बच्चें में सरका देता है।'' वंशानुक्रम में बंटी ने माता पिता की योग्यता और अहं आदि गुण प्राप्त किए हैं लेकिन प्रतिकूल परिस्थिति के कारण उसका स्वभाव एबनार्मल हो जाता है। माता-पिता के दाम्पत्य जीवन के विघटन के कारण वह अन्तर्मुखी हो जाता है। माँ का अतिरिक्त स्नेह उसकी बाल-सुलभ चेष्टाओं को दमित करता है। सड़क पर साइकिल चलाने जैसी सामान्य इच्छा भी उसके भीतर छुटकर रह जाती है। परियों की जादुई कहानियाँ उसे कल्पनालोक में ले जाती है, पर यथार्थ का सामना करते ही वह कुंठा का अनुभव करता है। टीटू की माँ के व्यंग्यबाण उसे पीड़ा पहुँचाते हैं और वह निरन्तर ही ममी-पापा की दोस्ती करवाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

बंटी स्वभाव से **जिज्ञासु** है। कोई भी स्थिति हो, व्यक्ति अथवा वस्तु वह प्रत्येक रूप को तर्क की कसौटी पर परखना चाहता है। ममी का कॉलेज जाने के लिए तैयार होना उसे सदैव कौतूहल में डालता है क्योंकि ड्रेसिंग टेबुल पर रखी रंग बिरंगी शीशियों में जरूर कोई जादू है कि ममी इन सबको लगाने के बाद एकदम बदल जाती हैं। इतना ही नहीं, ममी उसे पापा की भी कोई बात कभी नहीं बताती। दोनों में क्यों लड़ाई हुई है, इतने बड़े लोग लड़ते क्यों हैं, इस लड़ाई में दोस्ती क्यों नहीं है, ममी डॉक्टर साहब के साथ सटकर क्यों बैठती हैं–आदि प्रश्न उसे निरन्तर मथते हैं। ममी को डॉक्टर जोशी के साथ 'अनैतिक' रूप में देखकर वह अपराध भय-बोध से भर उठता है। ममी को खो देने के कारण उत्पन्न कुंठा उसे पापा की ओर ले जाती है, पर... दूर रहते थे तो लगता था पापा बहुत पास हैं ...पर पास रहकर लगता है कि वह इन पापा को जानता भी नहीं।''

एडलर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी या बहुत **हीन-भावना** होती है, जो उसे क्षति-पूर्ति के लिए सदैव प्रेरित करती रहती है। टीटू के साथ नोक-झोंक और उसकी माँ के ताने सुनकर बंटी स्वयं को **उपेक्षित** समझने लगता है, जिसकी पूर्ति वह माँ और पापा के प्रति एकाधिकार में पाना चाहता है, लेकिन असफल होकर विरोधी और आक्रामक बन जाता है। पापा के पास जाकर भी उसे अपने प्रति कहीं कोई अपनापन दिखाई नहीं देता और उसके मन में सदैव गूँजता है– ''तीसरा बच्चा, फालतू बच्चा–तीसरा बंटी फालतू बंटी।''

पर-पीड़न अर्थात् दूसरों को दुःख पहुँचाकर मन में क्रूर आनंद का अनुभव करना और **आत्म-पीड़न** अर्थात् स्वयं कष्ट सहन कर सुख पाने का आभास। पेड़ पर चढ़कर, घर का सामान इधर-उधर फेंककर डॉक्टर जोशी को पापा कहने से इन्कार कर आदि क्रियाओं के द्वारा बंटी माँ को भयभीत अथवा परेशान करके कहीं संतुष्ट सा होने का प्रयास करता है। ममी द्वारा अकेले सुला दिए जाने पर उसका मन दुःख और क्षोभ से भर उठता

है जो धीरे-धीरे भय को जन्म देता है। रात में विस्तर पर सू-सू करने की असामान्य क्रिया उसके मन के भीतर छिपे प्रतिशोध का ही परिणाम है। ममी के अतिरिक्त लाड़-प्यार ने उसे कभी **आत्मनिर्भर** नहीं होने दिया। इसके कारण वह **असुरक्षा** और **कुंठा** से भर उठता है और इसीलिए उल्टे-सीधे व्यवहार के द्वारा माँ का ध्यान आकर्षित करके संरक्षण पाने का प्रयास करता है। **आत्म केन्द्रित** होने के कारण ही वह अत्यंत **संवेदनशील** है। यही कारण है कि उसे कभी भी 'कॉलेज वाली प्रिंसीपल ममी' पसंद नहीं है। कलकत्ते पहुँचकर मीरा को नई माँ के रूप में पाकर वह विह्वल हो उठता है। संवेदनशीलता **संकोच** को जन्म देती है और इसलिए बंटी से ''कुछ भी नहीं पूछा गया, कुछ भी नहीं कहा गया।'' पर मन में किया हुआ यह फैसला भी पापा को नहीं बता पाता कि–''वह यहाँ बिल्कुल नहीं रहेगा, यहाँ पढ़ेगा भी नहीं।'' यहाँ तक कि वह यह भी नहीं बता पाता कि वह हॉस्टल नहीं जाना चाहता है।

इस रूप में बंटी की जीवन-गाथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों और प्रमाणिकता के आधार पर प्रस्तुत हुई है। वह एक असाधारण पात्र है जो व्यक्तिवादी मान्यताओं का प्रतिनिधि है।

नारी मनोविज्ञान

'आपका बंटी' उपन्यास में बंटी के साथ-साथ उसकी माँ शकुन की मनोदशा और प्रवृत्तियों का सहज और प्रकृत चित्रण है। उसकी विवशता, असमर्थता और महत्त्वकाँक्षाएँ उसे कभी सहज नहीं रहने देते। वह एक सुन्दर शिक्षित, सौम्य महिला है जो कॉलेज की प्रिंसीपल जैसे महत्त्वपूर्ण पद की अधिकारिणी है। यह उसका दुर्भाग्य है कि वह सब कुछ होते हुए भी सुखों से सदैव वंचित रही है। पति के होते हुए पति सुख का अभाव है और माँ बनकर भी बेटे के छिन जाने के भय को कातर बनी भोगने रहने के लिए विवश है।'' उसे लगता है कि उसके नितान्त घटनाहीन जीवन में मात्र कॉलेज जाना भी एक घटना की ही अहमियत रखता है। उसकी अपनी ज़िन्दगी में ऐसा कुछ भी नहीं है जो क्षण भर को उत्तेजना पैदा कर सके।'' दस वर्षों के विवाहित जीवन में 'हताशा और विवशता' उसे सदैव दयनीय बनाते रहे, क्योंकि ''तर्कों और बहसों में दिन बीतते थे और ठंडी लाशों की तरह लेटे-लेटे दूसरे को दुःखी, बेचैन और छटपटाते हुए देखने की आकाँक्षा में रातें।'' दाम्पत्य-जीवन में किसी भी समझौते को न स्वीकार करने में उसकी 'स्वाभिमानी वृत्ति' उत्तरदायी थी। उसे लगता है कि विभागाध्यक्ष हो जाने के पीछे भी स्वयं को आगे बढ़ाने की अपेक्षा अजय (पति) को गिराने की भावना अधिक प्रबल थी। संभवतः वह कभी अपना लक्ष्य रही ही नहीं।'' वह जानती है कि उसे अजय के साथ न रह पाने का दुःख नहीं है बल्कि उसे पराजित न कर पाने की कटीली चुभन है। वह इस कल्पना से क्रूर संतोष पाना चाहती है कि वह बंटी को अजय से दूर रखकर उसे मानसिक यातना पहुँचाएगी। वह अपनी कमजोरियों से भली-भाँति परिचित है लेकिन उन्हें दूर कर पाना उसके वश में नहीं है। यही कारण है कि वह डॉक्टर जोशी के साथ जुड़कर भी अपनी यातनाओं से अलग नहीं हो पाती। दरअसल छोटा होकर जीना उसके अहं को स्वीकार्य नहीं और बड़ा होकर जीने लायक 'पूँजी' उसके पास सर्वथा अभाव है।

शकुन बंटी और अजय दोनों के कारण अन्तर्द्वन्द्व से जूझती है। वह जानती है कि बंटी के हित की दुहाई देकर वह अपने ही गलत कार्य को सही सिद्ध करने का प्रयास कर रही है। उसने दोनों को अपनी जिंदगी में साथ रखने की कोशिश की और दोनों ही उसके हाथ से फिसल गए। शकुन महसूस करती है कि ''सब लोग केवल उससे चाहते हैं। जहाँ वह कुछ चाहने लगती है वहीं गलत हो जाती है। कितनी सहज स्वाभाविक इच्छाएँ थीं उसकी। फिर भी सब गलत, केवल इसलिए कि उसकी थीं।'' वह अजय के विरुद्ध होते हुए भी उसे भूल नहीं सकती। साथ ही बंटी को अजय के पास भेजकर उसे लगता है कि बंटी के बिना वह अमि और जोत (डॉ. जोशी के बच्चे) को कभी उतना प्यार नहीं दे पाएगी। दोनों ही संबंध उसकी **अलगाववादी प्रवृत्ति** के परिचायक हैं।

प्रस्तुत उपन्यास को पढ़ते समय पाठक को ऐसा आभास होता रहता है कि यह उपन्यास बंटी पर केन्द्रित है। लेकिन इसके समानान्तर एक और प्रतिक्रिया भी उमड़ती है–''इसे पढ़कर जो एक भावुकतापूर्ण बेचैनी और

उमड़न बंटी को लेकर होती है, उससे अधिक कहीं कुछ और है जो गहरी वैचारिकता के स्तर पर प्रभावित करता है, पर सहसा पकड़ में नहीं आता।'' (डॉ. निर्मला जैन) वस्तुतः अहं की टकराहट और अनिश्चयात्मक मानसिकताजन्य द्वन्द्व को शकुन सदैव भोगती है और त्रासदी का शिकार बनती है।

पुरुष पात्र

अजय कम्पनी में मैनेजर है और शकुन के साथ विवाह के तुरन्त बाद ही उसे लगने लगा कि यह निर्णय गलत हो गया है। परिणामतः दोनों ही एक दूसरे के व्यवहार की निरन्तर कटु आलोचना करने लगे और शकुन बंटी को लेकर अलग रहने लगी। अजय बीच-बीच में बंटी से मिलता रहता था और उसके इसी व्यवहार के कारण शकुन को आशा थी कि संभवतः बंटी के ही कारण वे दोनों फिर से एक साथ रहने लगेंगे। लेकिन अजय शकुन से अलग होने का दृढ़ निश्चय कर चुका था और इसीलिए उसने तलाक की अर्जी पर दस्तखत करके वकील चाचा के द्वारा शकुन तक भिजवाए थे। सब कुछ समाप्त हो जाने के बाद शकुन इस झटके को अनायास सह नहीं पाती। लेकिन अब तो ''अजय ने अपनी स्लेट पर से उसका नाम एवं अस्तित्व धो पोंछकर बहुत सुखी और भरी पूरी एक नई जिन्दगी शुरू कर दी है।'' मीरा उसकी दूसरी पत्नी है और वह वहाँ सुखी है, इसका आभास प्रायः उसके संवादों से मिलता रहता है।

दूसरा विवाह करके और अपनी पत्नी के दो बच्चों की जिम्मेदारी उठाने के बावजूद वह बंटी से अपने को अलग नहीं कर पाता, और शायद इसीलिए वह उसके प्रति अपना उत्तरदायित्व पूरी निष्ठा के साथ निभाता है। बंटी शकुन से अलग होकर जब उसके पास रहने के लिए आता है तो नए वातावरण में अपने को 'मिसफिट' पाता है तब अजय उसके सुरक्षित भविष्य के लिए उसे हॉस्टल में भेजने का निर्णय लेता है। यद्यपि उसकी आमदनी के हिसाब से खर्चा अधिक हो रहा है लेकिन वह फिर भी बंटी को हॉस्टल में भेजकर अपने पितृ-कर्त्तव्य को निभाता है। ''अजय बहुत इगोइस्ट है और पॉजिसिव भी।'' यही कारण है कि वह अपने फैसले को कभी भी बदलता नहीं है और ना ही किसी की सुनता है।

डॉक्टर जोशी से शकुन का परिचय बंटी की बीमारी के दौरान हुआ था। 'धीरे-धीरे कारण हट गया, बस परिणाम ही बाकी रहा।' डॉ. ने शकुन से बंटी के पापा के बारे में कभी नहीं पूछा, क्योंकि शकुन के पति से अलगाव के बारे में आस पास सभी को इसका पता था। हाँ, अपनी पत्नी की मृत्यु के बारे में बताकर, बिना कुछ कहे बहुत कुछ कह दिया था। 'ऐसे ही इधर से जा रहा था'– कहकर बंटी का समाचार जानने के बहाने उनका शकुन के पास जब-तब आना होता रहा। वकील चाचा के समझाने पर शकुन ने जब अपने ही बारे में सोचना शुरू किया तो फिर डॉ. जोशी के साथ विवाह करने में ज्यादा देर नहीं लगाई। इतना अवश्य है कि शकुन और बंटी के घर पर आ जाने के बाद उन्होंने हर व्यक्ति और वस्तु अधिकार स्थापित करने में 'सौ फीसदी विजय' हासिल की। शकुन उसे पूरा महत्व देती है और सदैव खुश रखने का प्रयास भी करती है। डॉ. जोशी एक सीमा तक ही बंटी की बातों को सहन करते है, और अंततः कह ही देते हैं–''आगे से इस तरह की ज़िद करोगे तो हम बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करेंगे, समझे।''

वकील चाचा सदैव रूढ़िवादिता के विरोधी रहे हैं। प्रारंभ में वे शकुन और अजय के बीच संदेशवाहक का कार्य करते हैं। अजय के द्वारा भेजा गया तलाक का कागज भी उन्हीं के द्वारा शकुन को मिलता है। संबंध टूटने पर वे शकुन को सलाह देते हैं– ''चीजों को सही तरीकों से लेना सीखो शकुन। जब आदमी एक जगह धोखा खाता है तो उसे लगता है, सब जगह धोखा ही धोखा है। पर ऐसा होता नहीं है... तुम केवल बंटी की माँ की तरह मत जियो, शकुन की तरह भी जियो।'' इस रूप में वकील चाचा व्यर्थ की परंपरा के विरूद्ध आधुनिकता के समर्थक पात्र के रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

आपका बंटी : समस्याएँ

'आपका बंटी' सामाजिक समस्या पर आधारित होते हुए भी 'मनोविश्लेषणवादी' उपन्यास है। यहाँ शकुन और अजय अपनी 'उन्मुक्त मानसिकता' और साथ ही अनुभवहीनता के शिकार हैं। वास्तव में आज नारी स्वातन्त्र्य

के इतने 'शोर' के बाद भी आज की नारी अपने परंपरागत संस्कारों के साथ बंधी हुई अब भी वहीं खड़ी है। उसे पत्नी, कामकाजी महिला और माँ की तिहरी भूमिका निभानी पड़ती हैं जिसके कारण उसके व्यवहार में जटिलता आ जाना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसे में भी पति का उसकी स्थिति को समझने की बजाय अपनी रूचि उस पर थोपना निश्चय ही संघर्ष को जन्म देता है। यह स्थिति तब और भी विकट हो जाती है जब पति-पत्नी में पारस्परिक सामंजस्य का अभाव होता है। शकुन और अजय-दोनों ही अहं ग्रन्थि के शिकार हैं। 'एक दूसरे के व्यक्तित्व को बौना सिद्ध करना अहं को क्षति पहुँचाना, भावात्मक स्तर पर संबंधों को कमजोर बनाना, एक दूसरे को हीनता का बोध कराना आदि कारण दोनों को तलाक के कगार पर पहुँचा देते हैं। कुंठाएँ और महत्वाकाँक्षाएँ उनके जीवन पर इतनी हावी हो जाती हैं कि वे दोनों ही विवाह जैसे पवित्र संबंध को तोड़ने पर विवश हो जाते हैं। वकील चाचा अजय के 'इगोइस्ट' स्वभाव के कारण ही शकुन को समझाते हैं कि 'यदि वह अजय को पाना चाहती है तो उसे अपने आपको पूरी तरह समाप्त करना होगा। अपने को बचाकर तो उसे खोना (अजय को) ही पड़ेगा।' और छोटा बनकर जीना शकुन को सह्य नहीं है। ''सात वर्षों में विभागाध्यक्ष से प्रिंसीपल हो जाने के पीछे भी कहीं अपने आपको बढ़ाने से ज्यादा अजय को गिराने की आकांक्षा ही थी। ...सच पूछा जाए तो अजय के साथ न रह पाने का दंश नहीं है, वरन् अजय को हरा न पाने की चुभन है यह, जो उसे उठते-बैठते सालती रहती है। ...उसे साफ लगता है कि जोशी या किसी का चुनाव भी उसे करना है तो जैसे अपने लिए नहीं करना है, अजय को दिखाने के लिए करना है। ...मीरा की तुलना में करना है। बंटी से न मिल पाने की वजह से अजय को जो यातना होगी उसकी कल्पना मात्र से उसे क्रूर-सा संतोष मिलने लगा।''

आपसी संबंधों का तनाव जब चरम सीमा पर पहुँच गया तो वकील चाचा हताश होकर शकुन को आखिर कह ही देते हैं कि 'संबंधों को निभाने की खातिर अपने को खत्म कर देने से यही अच्छा है कि संबंध को ही खत्म कर दो' संबंधों की टूटन से सर्वाधिक प्रभावित बंटी होता है। जहाँ माता पिता का पारस्परिक अनुराग बच्चे के सर्वांगीण विकास का आधार बनता है, वहाँ दाम्पत्यजीवन के तनाव बंटी के लिए त्रासदी को जन्म देते हैं। एक दूसरे को न झेल पाने के कारण अजय और शकुन दोनों ही विकल्प ढूँढ लेते हैं, लेकिन बंटी तो दोनों को एक करने के प्रयास में मिली विफलता के कारण न केवल 'अंतर्मुखी बन जाता है वरन् उसके व्यवहार में निरन्तर 'एबनार्मेलिटी' आ जाती है। बंटी का निरंतर अपसामान्यता (एबनार्मेलिटी) की ओर जाना पाठक के मन में करुणा उपजाता है। वह न तो डॉक्टर जोशी को अपना पापा मान सकता है, न ही मीरा के लिए उसके मन में कोई मान जन्मता है। विषाद के इस विष के पीछे यह कारण स्पष्ट झलकता है कि उसके माता पिता दोनों ही बंटी को 'मात्र एक साधन' समझते रहे। सदैव अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के संदर्भ में सोचते हुए उन्होंने उसकी भावना, उसकी आवश्यकता की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। फूफी सदैव शकुन और बंटी के लिए चिंतित रहती है तभी वह बार-बार शकुन का ध्यान इस ओर दिलाना चाहती है– ''उन्होंने जो किया तो आपकी मिट्टी पलीद हुई और अब जो आप करने जा रही हैं तो इस बच्चे की मिट्टी पलीद होगी। बाप के रहते यह बिना बाप का हो रहा, और अब माँ के रहते वह बिना माँ का न हो जाए।'' डॉक्टर जोशी भी शकुन को सलाह देते हैं– ''तुम लोग अपने को, अपने ईगो को उपर न रखकर, बंटी को ऊपर रखो। आइ मीन उसकी दृष्टि से सारी बात सोचो तो ज्यादा सही होगा।''

यहाँ लेखिका ने विवाह जैसे सामाजिक संबंध को लेकर यह प्रश्न उठाया है। निश्चय ही प्रेम एक वैयक्तिक भावना है पर विवाह-संस्था समाज के नैतिक जीवन के लिए परमावश्यक है। अजय और शकुन विवाह के तुरन्त बाद ही समझ जाते हैं कि एक दूसरे को झेलना उनके वश में नहीं है। इतना ही नहीं, उन दोनों के पास पुनर्विवाह का विकल्प भी उपलब्ध है। इस रूप में यहाँ समस्या उनकी नहीं, बल्कि उन दोनों से जुड़े उस बालक की है, जिसके बारे में दोनों ही गंभीरता से नहीं सोचते। इस रूप में यह उपन्यास एक ऐसी समस्या को सामने लाता है, जिससे आज अधिकतर लोग प्रभावित हो रहे हैं। माँ-बाप की समस्याओं में पिसती हुई उनकी संतान को जिन

भावनात्मक परेशानियों का सामना करना पड़ता है उसका यहाँ सजीव चित्रण है। संबंधों के बिखराव और टूटन को बंटी जिस प्रकार झेलता है, वह अत्यंत गंभीर समस्या है। आश्चर्य होता है शकुन की इस भावना पर जो उसके मन में बंटी के लिए उठती है– बंटी केवल उसका बेटा ही नहीं है, वह हथियार भी है, जिससे वह अजय को टारचर कर सकती है, करेगी। बंटी को दरार बनना ही है तो अजय और मीरा के बीच में बने। अजय भी तो जाने कि बच्चे को लेकर किस तरह की यातना से गुजरना होता है ...कि पुरानी स्लेट इतनी जल्दी और इतनी आसानी से साफ नहीं होती। क्यों शकुन अजय से बदला लेने के लिए इस तरह आँखें मीचे बैठी है कि उसे बेटे का दु:ख दर्द कहीं महसूस ही नहीं हो रहा। दूसरी ओर अजय भी यह देखकर कि बंटी उसके यहाँ किसी भी तरह एडजस्ट नहीं कर पा रहा, वह उसे हॉस्टल भेज देने का निश्चय करता है। एक शटलकॉक की तरह यहाँ से वहाँ गिरते हुए इस बालक को सब अनदेखा क्यों कर रहे हैं–यही इस उपन्यास का हृदयद्रावक बिन्दु है। अपने को उपेक्षित मानता हुआ बंटी हीन ग्रंथि का शिकार हो जाता है और एक ही शब्द उसके चारों तरफ गूँजता है–'फालतू।' निश्चय ही यह एक गंभीर और भयानक समस्या है, जिसका निराकरण प्रत्येक दृष्टि से किया जाना अत्यंत आवश्यक है। डॉ. मनमोहन सहगल ने लिखा है–''मन्नू द्वारा संस्पृष्ट यह समस्या शायद साहित्य में पहली बार उठाई गई है। तलाक और पुनर्विवाह के आगे संतानवान माता-पिता का तलाक तथा उस पर पुनर्विवाह जीवन पर कितना बड़ा आघात बन सकता है, इस पर पहली बार ध्यानाकर्षित किया गया है।''

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत उपन्यास में शकुन और मीरा के माध्यम से यह भी दिखाया गया है कि पुरुष ही नहीं, नारी भी अपनी सौत की संतान को अपनी संतान की तरह नहीं अपना सकती। शकुन बंटी के कलकत्ता जाने के बाद जहाँ अपनी स्थिति के बारे में सोचती है–''बिना बंटी के वह इन लोगों (डॉ. जोशी के बच्चे) को उसी तरह प्यार कर सकेगी जैसे बंटी को किया करती थी।'' वहीं मीरा के बारे में भी उसका सोचना है– ''वह भी उससे कभी जुड़ा हुआ महसूस नहीं करेगी। उसे कभी अपने बच्चे की तरह प्यार नहीं करेगी। और यह आशंका उसे कहीं से भी जुड़ने नहीं देती।

आपका बंटी : शीर्षक की सार्थकता

'आपका बंटी' में एक ऐसे बालक की हृदयस्पर्शी संवेदनशील कथा है जो शिक्षित और स्वतंत्रजीवी माँ-बाप की संतान है। वस्तुत: उपन्यास का यह बीज-बिंदु आस पास जिए जा रहे कुछ जीवन-चरित्रों से प्रेरित है। उपन्यास से पूर्व 'जन्मपत्री बंटी की' में लेखिका ने यह स्पष्ट किया है उन्होंने बंटी को ही केन्द्र में रखकर इस उपन्यास की रचना की है। अपने मित्र से बंटी के बारे में सुनकर लेखिका उससे इतना प्रभावित होती है कि उसके बारे में अनेक कल्पना-चित्र उनके मन में बनते बिगड़ते रहे। उन्हें अनुभव होता है कि– बंटी किन्हीं एक-दो घरों में नहीं, आज के अनेक परिवारों में साँस ले रहा है–अलग-अलग संदर्भों में, अलग-अलग स्थितियों में ...लेकिन जब सब मिलाकर बंटी मेरे सामने खड़ा हुआ तो मैंने अपने आपको आतंकित ही अधिक पाया, समाज की दिनों-दिन बढ़ती हुई एक ऐसी समस्या के रूप में, जिसका कहीं कोई हल नहीं दिखाई देता। यही कारण है कि बंटी मुझे तूफानी समुद्र यात्रा में किसी द्वीप पर छूटे हुए अकेले और असहाय बच्चे की तरह नहीं, वरन् अपनी यात्रा के कारणों के साथ और समानान्तर जीते हुए दिखाई दिया। बंटी यहाँ पारिवारिक विसंगतियों के बीच संवेदनहीन परिवेश का प्रतीक है।

बंटी समूचे उपन्यास का केन्द्र बिन्दु है। ''शकुन और बंटी दोनों के चरित्रों की वास्तविकता अंतर्विरोधों में जीने की वास्तविकता है और परोक्ष रूप में अजय के जीवन की वास्तविकता भी यही है।'' यहाँ बंटी उपन्यास का पात्र-मात्र न होकर मध्यवर्गीय समाज में 'बंटी' जैसे बालकों का प्रतिनिधि है। बिखरते परिवारों के मध्य पनपती संवेदनहीनता इन बच्चों को जैसे निगलती जा रही है। लेखिका इस रूप में पाठकों को सामाजिक प्रश्नानुकूलता के बारे में सोचने के लिए प्रेरित करना चाहती है। ''जीते जागते बंटी का तिल-तिल करके समाज की एक बेनाम इकाई-भर बनते चले जाना यदि पाठक को अश्रु-विगलित ही करता है तो मैं समझूँगी कि यह पत्र सही पते पर नहीं पहुँचा है।'' यहाँ तलाश है उस भावधारा की जो 'आपके बंटी' को जीवन के उस मोड़

पर पहुँचाए, जहाँ सभी सुखी प्रसन्न और संतुष्ट हैं।

आपका बंटी : भाषा शैली

प्रस्तुत उपन्यास का शिल्प सहज गति से प्रवाहमान है क्योंकि यहाँ संघर्ष घटनाओं में नहीं, विचारों में चलता है। अत: कथा-प्रस्तुतीकरण की भाषा सरल और सुबोध है। बंटी जब-जब मम्मी को देखकर उनके व्यवहार और मानसिकता के बारे में जानने का प्रयास करता है, उसकी विचार तरंगें उसी तरह डूबती उतराती हैं–''उस कुर्सी पर बैठकर ममी का चेहरा अजीब तरह से सख्त हो जाया करता है। लगता है मानो अपने असली चेहरे पर कोई दूसरा चेहरा लगा लिया हो। ममी के पास जरूर एक और चेहरा है। चेहरा ही नहीं, आवाज़ भी कैसी सख्त हो जाती है। बोलती है तो लगता है डाँट रही हो। इसलिए यों सख्त चेहरा लिए डाँटती प्रिंसीपल की कुर्सी पर बैठी ममी उसे कभी अच्छी नहीं लगती।'' लेकिन जहाँ पात्रों के मन के **उतार-चढ़ाव** और अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है वहाँ अत्यंत **परिष्कृत भाषा** का प्रयोग हुआ है– तर्की और बहसों में दिन बीतते थे, ठण्डी लाशों की तरह लेटे-लेटे दूसरे को दु:खी, बेचैन और छटपटाते हुए देखने की आकांक्षा में रातें।'' **पात्रानुकूलता** भाषा का ऐसा गुण है जो रचना को सजीवता प्रदान करता है। प्रस्तुत उपन्यास में बंटी की मन:स्थिति का रेशा-रेशा उभरकर ऐसे सामने आता है जैसे सब कुछ आँखों के आगे घट रहा हो– ''जब भी वह ममी को लेकर आगे की बात सोचता, उसे हमेशा लगता जैसे ममी पर दु:ख ही दु:ख टूट पड़ रहे हैं और वह अपने नन्हें नन्हें हाथों से उन्हें दूर किए जा रहा है। कैसे दु:ख हैं सो नहीं जानता। उन्हें कैसे दूर कर रहा है यह भी नहीं जानता। बस ममी दु:खी है वह ममी का अकेला बेटा उन्हें दूर कर रहा है।

भाषा में **व्यंगात्मकता** उपन्यास की अर्थवता को सघन करती है। भावों की गहराई और स्थिति भी गंभीरता को उभारने के लिए लेखिका ने इस गुण का बड़ा ही सटीक चित्रण किया है– ''जवानी यों ही अंधी होती है बहू जी और फिर बुढ़ापे में उठी हुई जवानी। साहब ने जो किया तो आपकी मट्टी पलीद हुई और अब आप जो कर रही हैं, इस बच्चे की मट्टी पलीद होगी।'' अनेक स्थलों पर शब्दों का ऐसा चमत्कार दिखाई देता है जो भावाभिव्यंजक होने के साथ **चित्रात्मक और काव्यात्मक** गुणों से भी संपन्न है– ''उसके बाद आँखों के सामने वे बड़े-बड़े मैदान तैर गए, जो स्कूल जाते समय बस में से दूर-दूर दिखाई देते है। मैदान के दूसरे सिरे पर बनी हुई पहाड़ियाँ, जिनके पीछे से सूरज निकल-डूबकर दिन और रात करता है। कौन उन पहाड़ियों की तलहटी में कोई साधु बैठा हो, जिसके पास जादू की खड़ाऊँ हो, जादू का कमण्डल हो।''

उपन्यास के अनेक स्थानीय पात्रों की भाषा भी स्थानीय रंगत लिए हुए हैं–

''आप तो जानती हैं साहब को लेकर हमारे मन में **कइसा** गुस्सा है।

''बापू को ताप चढ़ा है, वे नहीं आ सकेंगे। भोत जोर का ताप चढ़ा है, **सीत देकर**।''

''मिलने की ऐसी **बेकली** है तो खुद आकर ले जाऐंगे।''

''हमारे तनबदन में आग लगी हुई है इस **बखत**।''

''यह तो एक बहू जी हैं जो तुम्हारे पीछे **जान हलकान** किए रहती हैं।''

भाषा की व्यावहारिता बनाए रखने के लिए अंग्रेजी शब्दों का भी भरपूर प्रयोग हुआ है –

''लैट हिम गो लाइक ए मैन, लाइक ए बॉय।''

''व्हाट्स योर फादर, टेल मी अरूप।''

''ही हसबैंड्स यू टू मच।''

''आई मीन इट''

''इट्स ए मस्ट। आदि।

शैली :

आपका बंटी में प्रमुख रूप से **वर्णनात्मक शैली** का ही प्रयोग हुआ है। मनोविज्ञान उपन्यास के मूल में रहने के कारण विश्लेषणात्मक और चेतना प्रवाह शैली पात्र की मानसिकता के प्रस्तुतीकरण में सहायक बनी हैं–

''पहली बात मन में उभरी–यह ममी नहीं है। ममी के पैरों को वह खूब पहचानता है। उनकी चप्पलों को भी और उनकी साड़ियों के बार्डर को भी।'' (चेतना प्रवाह शैली)

''डॉक्टर जान लें कि इस घर के लिए बंटी अनावश्यक हो, फालतू हो, पर कोई है, एक ऐसा भी घर है, जहाँ बंटी की आवश्यकता है, बंटी की प्रतीक्षा है।'' (मनोविश्लेषणात्मक शैली)

''झट से बंटी की नजरें ऊपर उठीं। सामने जो चेहरा था, उसमें दीपा आंटी का चेहरा घुल मिल गया, पर फिर धीरे-धीरे सामने वाला चेहरा खूब साफ होकर उभर आया, मुस्कराता हुआ चेहरा, पर दीपा आंटी से अलग, ममी से भी अलग।'' (फ्लैशबैक शैली)

अंततः कहा जा सकता है कि माता-पिता के जबरदस्त अहं का टकराव बंटी की मनोभूमि को जिस प्रकार झकझोरता है, उसके कारण करुणा का पात्र बन वह 'सबका बंटी' बन जाता है। अपने वर्तमान से जूझती व भविष्य के लिए प्रयत्नशील शकुन की दोहरे नैतिक मूल्यों के बीच की अस्थिरता का भोक्ता तो बंटी ही होता है। लेखिका ने बाल-विकास की प्रत्येक स्थिति, विशेषता और संवेदन को इस कुशलता से पकड़ा है कि शकुन के 'जस्टिफिकेशन' कन्फेशन', के जाल को तोड़कर बंटी बार-बार हमें झकझोरता है।'' (डॉ. सुकृता अजमानी)

व्याख्या भाग

(1) **हमेशा बोलते रहने वाले चाचा भी चुप और चाचा के सामने चुप रहनेवाली ममी भी चुप। अँधेरा-अँधेरा कमरा और भीतर बैठे लोग चुप। जैसे एक अजीब-सी उदासी वहाँ उतर आई हो। चाचा कभी एक घूँट पीते हैं, कभी उसकी ओर देखते हैं तो कभी खिड़की की ओर। पर खिड़की तो बंद है, उस पर परदा पड़ा है। वहाँ तो देखने को कुछ है ही नहीं। ममी एकटक जमीन देखे जा रही हैं और वह है कि कभी ममी को देखता है तो कभी चाचा को।**

संदर्भ : प्रस्तुत गद्यांश आधुनिक भावधारा की प्रमुख उपन्यासकार मन्नू भंडारी द्वारा लिखित 'आपका बंटी' में से लिया गया है। इसमें लेखिका ने पति-पत्नी के दाम्पत्य-जीवन में असंगति के कारण उत्पन्न विश्रृंखल सामाजिक मूल्यों की पृष्ठभूमि में एक अबोध बालक की मानसिकता का मनोवैज्ञानिक चित्रांकन किया है। प्रस्तुत प्रसंग में वकील चाचा जब बंटी के घर आकर शकुन से बात करना चाहते हैं। लेकिन वे नहीं चाहते कि बंटी कुछ सुने, इसलिए वे कुछ कह नहीं पा रहे हैं। इसी विषय को यहाँ रेखांकित किया गया है।

व्याख्या : बंटी के सामने वकील चाचा उसके माता-पिता के जीवन की असंगतियों को लाना उचित नहीं समझते, इसलिए बंटी के सामने मौन हो जाते हैं। ममी यूँ तो उनके सामने अधिक कभी नहीं बोलती थीं, पर अब तो वे कुछ भी नहीं बोल रही हैं। ऐसे में वातावरण और भी बेझिल हो गया है। ऐसा लगता है जैसे शाम का अंधेरा बाहर ही नहीं भीतर भी फैलता जा रहा है। वकील चाचा उदास हैं क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि शकुन और अजय एक दूसरे से अलग हों। पर ऐसा हो रहा है और वे कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं। चाचा एक घूँट चाय के साथ मानो उस बेबसी को भी पी रहे हैं जो उनके सम्मुख आ खड़ी हुई है। बंटी की ओर देखते हैं तो उसके लिए कुछ न कर पाने की कसक मन में उभरने लगती है। ऐसे में उनकी निगाहें खिड़की की ओर उठ जाती हैं, मानो उसके द्वारा वे कहीं कोई मार्ग ढँढ़ने का प्रयास कर रहे हों। लेकिन खिड़की बंद है और

वहाँ पर्दे ने सभी संभावनाओं को जैसे बाहर ही रोक दिया हो। कहीं कोई रास्ता सुझाई नहीं दे रहा। ममी का जमीन की ओर ही देखने जाना प्रतीक है कि वे भी हर तरफ से निराश हो चुकी हैं। ऐसे में बंटी की हालत विचित्र सी हो रही है। उसे कुछ समझ नहीं आ रहा। कभी उसे लगता है कि इस परेशानी का चाचा कोई हल निकाल सकेंगे, या फिर ममी ही ऐसी कोई बात करेंगी जिससे किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति का अंत हो।

विशेष :

प्रस्तुत अनुच्छेद में लेखिका ने छोटे-से बंटी के बाहर और भीतर के उतार-चढ़ावों को प्रस्तुत किया है। वह कुछ समझ नहीं पा रहा लेकिन समझने की कोशिश लगातार जारी है। बंटी की मानसिकता को उभारने के लिए लेखिका ने कमरे के वातावरण को आधार बनाया है।

2. **''क्या बताएँ, कुछ भी समझ में नहीं आता। लगता है जब एक बार धुरी गड़बड़ा जाती है तो फिर जिंदगी लड़खड़ा ही जाती है... फिर कुछ नहीं होता, कुछ भी नहीं।''**

प्रसंग : प्रस्तुत संवाद मन्नू भंडारी के प्रसिद्ध उपन्यास 'आपका बंटी' में से उद्धृत है। यहाँ वकील चाचा शकुन को दाम्पत्य जीवन के बारे में बताने का प्रयास करते हैं।

व्याख्या : वकील चाचा चाहते थे कि किसी तरह से शकुन और अजय में सुलह हो जाए जिससे इनका परिवार सुरक्षित रहे। वे जानते थे कि दोनों के अहं के टकराव का भीषण परिणाम बंटी को भुगतना पड़ेगा। संभवतः वे अजय को यह समझा पाने में असमर्थ रहे हों, लेकिन चाहते थे कि शकुन स्थिति की गंभीरता को समझ कर ऐसा कार्य करे जिससे यह परिवार टूटने से बच जाए। इस समय वे दोनों को समझाने में पूरी तरह निराश होकर कहते हैं कि जब परिवार की 'धुरी' अर्थात् उसका मूल ही गड़बड़ा जाता तो फिर उस परिवार से जुड़े सभी सदस्यों को उसका फल भोगना पड़ता है। 'धुरी' से यहाँ तात्पर्य है पति-पत्नी के बीच प्रेम संबंध। यही तो परिवार का मूल है। जब ये दो जन 'एक' होकर परिवार के भविष्य के लिए प्रयत्नशील होते हैं तो वर्तमान और भविष्य सुखमय होता है, लेकिन जब पति-पत्नी के बीच प्रेम ही नहीं रहता तो वहाँ सर्वत्र अंधकार है।

विशेष : यहाँ लेखिका ने अत्यंत सरल और सहज भाषा में परिवार के सुख का मूलाधार बताया है। साथ ही इन पंक्तियों से वकील चाचा के चरित्र का यह रूप भी सामने आता है जहाँ वे शकुन के हितैषी बनकर, उसे जीवन के सुख के बारे में बताने का प्रयास करते हैं।

3. **''पर वह भी किसी की चीज़ है क्या? है तो किसकी? ममी की या पापा की? नहीं वह ममी का है, ममी के ही पास रहता है। पापा उसे प्यार करते हैं, वह भी पापा को प्यार करता है, पापा उसे अच्छे भी लगते हैं, पर पापा उसे लेना क्यों चाहते हैं? लेकिन पापा लड़े तो नहीं, उसने मना किया कि मैं वहाँ नहीं रहूँगा, घर जाऊँगा तो चुपचाप यहाँ छोड़ गए। यहाँ तो दोनों बिल्कुल नहीं लड़े।''**

प्रसंग : मन्नू भंडारी ने 'आपका बंटी' नामक उपन्यास में बाल मनोविज्ञान का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है, प्रस्तुत पंक्तियाँ इसका सटीक प्रमाण हैं।

व्याख्या : बंटी के मन को सदैव यही बात झकझोरती है कि उसे वह महत्त्व क्यों नहीं मिलता, जिसका वह अधिकारी है। उसे एक 'चीज' क्यों समझा जाता है। 'चीज' तो बेजान होती है, जिसे जो चाहे ले जा सकता है या फिर व्यर्थ समझकर कहीं भी डाल सकता है। वह तो 'चीज़' नहीं है। बेटा है ममी और पापा का। वह ममी के पास रहता है लेकिन पापा को भी प्यार करता है। वह किसी एक का नहीं होना चाहता। उसे दोनों ही चाहिए। पापा उसे अपने पास रखना चाहते हैं और वह ममी को भी छोड़ना नहीं चाहता। अगर पापा उसे लेना चाहते हैं तो ममी से उसके लिए लड़े क्यों नहीं—यह प्रश्न बंटी के मन में बेचैनी बढ़ा देता है। उसे यह भी विचित्र-सा लगा कि पापा उसके उनके साथ न रहने की बात पर चुपचाप यहाँ छोड़ गए। इस प्रकार अपने

लिए ममी और पापा के व्यवहार को समझने की कोशिश में बंटी बेचैन हो उठता है लेकिन कहीं से भी उसे कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिल पाता।

विशेष : लेखिका ने यहाँ बंटी के मन के उतार चढ़ाव का वर्णन अत्यंत सजीव और सरल भाषा में किया। बंटी मन के इस उतार-चढ़ाव को उन्होंने चेतना प्रधान शैली में अभिव्यक्ति दी है।

संभावित प्रश्न

1. 'आपका बंटी' उपन्यास का कथा सार लिखिए।
2. 'आपका बंटी' शीर्षक की सार्थकता बताइये।
3. 'आपका बंटी' उपन्यास बाल-मनोविज्ञान का अनूठा उदाहरण है, सिद्ध कीजिए।
4. मन्नू भंडारी ने इस उपन्यास के द्वारा नारी मन की अनेक पर्तों को अत्यंत रोचक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। स्पष्ट कीजिए।
5. क्या 'आपका बंटी' उपन्यास समाज के वर्तमान जीवन की समस्याओं को प्रस्तुत करने में सक्षम है। सिद्ध कीजिए।

अन्य व्याख्या योग्य अनुच्छेद

1. पर कल वकील चाचा .....मथ दिया गया है। (पृ. 30)
2. सामने वाले को पराजित .....घुटी-घुटी और कृत्रिम (पृ. 32)
3. एक अध्याय था .....वैसा ही अकेलापन (पृ. 33)
4. अजय से कुछ न पा सकने .....उठते बैठते सालती है। (पृ. 32)
5. इस स्थिति की दो परिणतियाँ .....आज से दस गुना ज्यादा हो। (पृ. 37)
6. इस सिलसिले में ..... पूरी तरह पनप ही नहीं पाता (पृ. 39)
7. अजीब सा उत्साह है ..... आते हैं तुम्हारे पापा यहाँ (पृ. 51)
8. शकुन के हर दु:ख को ..... असहाय सा हो गया था (पृ. 101)

(ग) हिन्दी गद्य का परिचयानात्मक इतिहास

– डॉ. विजयबाला तिवारी
– डॉ. मंजुला मोहन

उपन्यास

भारतेन्दु युग–हिन्दी में भारतेन्दु से पूर्व जो कथात्मक पुस्तकें लिखी गयीं, वे आधुनिक उपन्यास और कहानी से मिलती-जुलती होने पर भी उनसे भिन्न थीं। वास्तव में उपन्यास और कहानी पश्चिमी साहित्य की देन है। भारतेन्दु-युग में जो उपन्यास लिखे गये, उनमें उपन्यास विद्या का उचित निर्वाह न होने के कारण उन्हें सच्चा उपन्यास नहीं कहा जा सकता है। सच तो यह है कि हिन्दी में वास्तविक उपन्यास की रचना सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही की। यों, ऐतिहासिक दृष्टि से लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा-गुरु' (1882 ई.) ही हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है। यह पश्चिमी उपन्यास की शैली पर आधारित है और यथार्थ जीवन का चित्र भी प्रस्तुत करता है, परन्तु कला की दृष्टि से बहुत अपरिपक्व है। इसमें उपदेश की प्रवृत्ति प्रधान है।

'परीक्षा-गुरु' के पूर्व भी 'देवरानी-जेठानी' (1872 ई.) 'रीति-रत्नाकर', 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती' आदि कुछ उपन्यास जैसी कथा-पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं परन्तु वे भी मुख्यत: शिक्षात्मक तथा अपरिपक्व हैं। भारतेन्दु ने भी 1866 ई. में कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' लिखने का यत्न किया था और 'चन्द्र प्रभा और पूर्ण प्रकाश शीर्षक मराठी उपन्यास का अनुवाद व संशोधन भी किया था। उनकी प्रेरणा से राधा चरण गोस्वामी, गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने बंगला के बहुत से उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया और मौलिक उपन्यास भी लिखे। इन लेखकों के अतिरिक्त बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा आदि और भी कई लेखकों ने बंगला उपन्यासों का अनुवाद किया। अंग्रेजी से भी कुछ उपन्यासों का अनुवाद हुआ।

भारतेन्दु काल के मौलिक कथा-ग्रन्थों और उपन्यासों में महत्वपूर्ण हैं–ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्याम स्वप्न' (काव्यात्मक गद्य-कथा), पं. बालकृष्ण भट्ट रचित 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' किशोरी लाल गोस्वामी का 'स्वर्गीय कुसुम', राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा-विपत्ति', राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रेमकांता' और रत्नचंद प्लीडर प्रणीत 'नूतन चरित्र'। ये सभी उपन्यास प्राय: सोद्देश्य तथा शिक्षाप्रद हैं, पर कला की दृष्टि से दुर्बल हैं। इनमें परिवार और समाज का साधारणत: अच्छा अंकन हुआ है। उच्च चरित्र, वीरता तथा प्रेम की कथा प्रस्तुत करने वाले कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये, परन्तु उनमें इतिहास के तथ्यों का ठीक निर्वाह नहीं हुआ है।

द्विवेदी युग–द्विवेदी युग में भी मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के उपन्यासों का प्रकाशन हुआ। इस समय अधिकतर तिलस्म, ऐयारी, जासूसी और रोमांस के कथानक प्रस्तुत किए गए। उपन्यास घटना-प्रधान बना रहा। अंग्रेजी से भी साहसिक, जासूसी तथा प्रेमचर्या-प्रधान उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इस युग के तीन उपन्यासकार बहुत प्रसिद्ध हैं–देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी। खत्री जी ने 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता-संतति' तथा 'भूतनाथ' नामक तिलस्म और ऐयारी के रोचक उपन्यास कई भागों में प्रकाशित किए। इन उपन्यासों के पहले भी भारतेन्दु काल में उन्होंने 'नरेन्द्रमोहनी', वीरेन्द्र वीर' आदि उपन्यास लिखे थे। हरेकृष्ण जोहरी आदि कई लेखकों ने उनके अनुकरण पर तिलस्मी उपन्यास लिखे। बहुत लोगों ने उनके मनोरंजक उपन्यास पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी।

किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यास वस्तुत: नाम के ही सामाजिक हैं। उनमें समाज की बहुत ही स्थूल और ऊपरी झलक है, यथार्थ चित्रण नहीं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों का उचित निर्वाह नहीं हुआ। देशकाल का भी ध्यान उन्होंने कहीं-कहीं नहीं रखा। कुछ उपन्यासों में समाज की कुरीतियों पर प्रहार करने का यत्न किया गया और यत्र-तत्र राष्ट्र-प्रेम

की भावना भी है। परन्तु गोस्वामी जी के अधिकांश उपन्यास उत्तेजक श्रृंगार से युक्त हल्के मनोरंजन के साध न हैं। गोस्वामी जी ने लगभग पैंसठ उपन्यास लिखे हैं। उनमें कुछ उपन्यासों के नाम हैं 'कुसुमकुमारी', 'हृदयहारिणी', 'लबंगलता', 'रजिया बेगम', 'तारा', 'कनक कुसुम', 'मल्लिका देवी', 'राजकुमारी', लखनऊ की कब्र', 'चपला', 'प्रेममयी'। जैसा कि नामों में प्रकट है ये उपन्यास नारी-प्रधान और श्रृंगारिक हैं। वास्तव में उनमें समाज और इतिहास के संदर्भ में कामुकता तथा विलासिता का अंकन हुआ है। उन्होंने 'उपन्यास' नामक पत्रिका भी निकाली थी जिसमें उनके पैंसठ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित हुए थे। आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी जी के सम्बन्ध में लिखा है कि 'इस द्वितीय उत्थानकाल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं, परन्तु वस्तुतः उपन्यासकार की सच्ची प्रतिभा इनमें भी नहीं है।'

गोपालराम गहमरी 'जासूस' नामक पत्रिका प्रकाशित करते थे, जिसमें उनके साठ के लगभग उपन्यास छपे। अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासों के अनुकरण पर उन्होंने 'जासूस की भूल', 'घर का भेदी', 'अद्भुत खून', 'भोजपुर की ठगी', आदि रहस्यपूर्ण, साहसिक और डकैती तथा ठगी की कथाएं निर्मित कीं। वैसे उन्होंने जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में भी आदर्श के निर्वाह और लोकोपकार की भावना के समावेश का यत्न किया और आदर्श जासूसों की सृष्टि की। गहमरी जी ने वंगला से गृहस्थ जीवन-सम्बन्धी कुछ उपन्यासों का अनुवाद भी किया था।

दूसरी ओर द्विवेदी युग में कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं में नैतिकता का ध्यान रखते हुए स्वच्छ-स्वस्थ सामग्री प्रस्तुत की। इस तरह के उपन्यासकारों में उल्लेखनीय हैं—हरिऔध, लज्जाराम मेहता और ब्रजनन्दन सहाय। हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' लिखकर इनमें मुहावरेदार ठेठ भाषा का नमूना भी पेश किया। मेहता जी ने सुधारवादी दृष्टिकोण से 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्शदम्पति' और 'हिन्दू गृहस्थ आदि उपन्यास लिखे। ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' में काव्य का आनन्द मिलता है। स्पष्ट है कि गोस्वामी जी, गहमरी जी और खत्री जी के उपन्यासों में जहाँ स्थूल सौन्दर्य और उत्तेजक श्रृंगारिकता प्रस्तुत है वहाँ इन उपन्यासकारों के ग्रन्थ 'उपदेशात्मक भावना की छटा दिखाने वाले या काव्यात्मक है। मानव चरित्र और मानव जीवन के सच्चे चित्रण और उपन्यास-काल की पूर्णता की ओर इस समय तक किसी का भी यथोचित ध्यान नहीं गया था। इस काल में किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त कुछ और लेखकों ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखें। इनमें उल्लेखनीय हैं—गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर पत्नी' और 'मिश्रबंधुओं के विक्रमादित्य', चन्द्रगुप्त मौर्य' तथा 'पुष्य मित्र'।

द्विवेदी युग में भी अधिकतर साधारण जनता के मनोरंजन और मनोविनोद के लिए घटना प्रधान उपन्यास ही लिखे गये। उनमें कथा का रस तो है, किन्तु चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य, समाज का सही अंकन और उपन्यास का परिपक्व शिल्प नहीं। इस समय के उपन्यासकारों को न तो मानव-जीवन का और न मानव-स्वभाव का सूक्ष्म एवं व्यापक ज्ञान था और न उपन्यास की कला से ही उनका अच्छा परिचय था। इस काल में अधिकतर प्रेमप्रध ान, साहसिक तथा विस्मयकारक (तिलस्मी-जासूसी) उपन्यास ही लिखे गये। ऐतिहासिक, शिक्षात्मक और काव्यात्मक उपन्यास भी लिखे गये, परन्तु कम। पात्र अधिकतर सौंदर्य के प्रति आकर्षित होने वाले विलासी प्रेमी-प्रेमिका और राजकुमार-राजकुमारी हैं या फिर ऐय्यार तथा जासूस। इस काल के उपन्यास भारतेन्दु काल के उपन्यासों की अपेक्षा रोचक और मनोरंजक अधिक हैं। शिक्षा देने की प्रवृत्ति भी कम है। प्रतापनारायण मिश्र, गोपालराम गहमरी, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिऔध, कार्तिकप्रसाद खत्री, रूपनारायण पाण्डेय, रामकृष्ण वर्मा आदि साहित्यकारों ने बंगला, अंग्रेजी और उर्दू आदि भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद किया। आचार्य शुक्ल का कथन है कि हिन्दी के मौलिक उपन्यास-सृजन पर इन अनुवाद कार्यों का अच्छा प्रभाव पड़ा और इसके कारण हिन्दी उपन्यास का आदर्श काफी ऊँचा हुआ।

प्रेमचन्द युग—द्विवेदी युग के अन्त तक (1917 ई. तक) हिन्दी के मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के उपन्यास काफी संख्या में लिखे जा चुके थे। मौलिक उपन्यास अनेक प्रकार के और अनेक विषयों पर थे। उपन्यास क्रमशः जीवन और समाज के निकट आ रहा था, परन्तु अब भी उसमें बहुत-सी, त्रुटियां थी। प्रेमचन्द के समय

से विशेष कर उनके 'सेवासदन' के प्रकाशन काल (सन् 1918 ई.) से हिन्दी-कथा साहित्य में एक नये युग का आरम्भ होता है। **प्रेमचंद** ने ही उपन्यास में मानव मन का स्वाभाविक एवं सजीव अंकन आरम्भ किया। उन्होंने ही पहली बार हिन्दी उपन्यास में घटना और चरित्र का संतुलन स्थापित कर मनोविज्ञान का उचित समावेश किया। उन्होंने ही समाज की समस्याओं को सर्वप्रथम कथा-साहित्य में स्थापित किया। उन्होंने जीवन और जगत के विविध क्षेत्रों का, समाज के विभिन्न वर्गों का ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों की बहुत-सी दशाओं तथा परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर व्यापक अनुभव प्राप्त किया था। मनोविज्ञान के वे पंडित थे। मानव-स्वभाव के विविध पक्षों से भली-भांति परिचित थे। उपन्यास-कला का भी उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था। पश्चिम के ताल्सताय, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव, गोर्की, अनातोले फ्रांस आदि महान उपन्यासकारों की रचनाओं का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था।

प्रेमचन्द प्रारम्भ में उर्दू के लेखक थे और कहानियां लिखते थे। उर्दू में उनके कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हुए थे। बाद में उन्होंने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया। उनके महत्वपूर्ण उपन्यास हैं—सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अपूर्ण)। प्रेमचन्द उपन्यास को मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते थे। वे अपने उपन्यासों द्वारा भारतीय जनता के जागरण और सुधार तथा निर्माण की भावना का प्रसार करना चाहते थे। प्रेमचन्द मानवतावादी सहृदय व्यक्ति थे। वे गरीबी में पले थे, गरीबों के दु:ख-दर्द को समझते थे। समाज के निम्न वर्ग से उन्हें सहानुभूति थी। जीवन के अन्तिम समय में, जैसा कि उनके अन्तिम उपन्यासों ('गोदान' और 'मंगलसूत्र') से प्रकट है, उनका झुकाव साम्यवाद की ओर हो गया था और वे सच्चे अर्थ में यथार्थवादी और प्रगतिशील हो गये थे। अपनी पुस्तकों में प्रेमचन्द ने किसानों की आर्थिक दशा, जमीदारों और पुलिस के अत्याचारों, ग्रामीण जीवन की कमजोरियों, समाज की कुरीतियों, शहरी समाज की कमियों, विधवाओं और वेश्याओं की समस्याओं, नारी की आभूषणप्रियता, मध्यवर्ग की झूठी शान और दिखावे की प्रवृत्ति, सम्मिलित हिन्दू-परिवार में नारी की दयनीय स्थिति आदि प्रश्नों और पक्षों पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपने कई उपन्यासों में गांव और शहर की कहानी, ग्रामीण और नागरिक जीवन की झांकी साथ-साथ प्रस्तुत की है। उनके उपन्यासों में कथानक सुगठित है चरित्र-चित्रण प्राय: मनोविज्ञान के अनुकूल सजीव और स्वाभाविक है। संवाद पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार हैं और भाषा सरल एवं व्यवहारिक है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला की मुख्य विशेषताएं हैं—व्यापक सहानुभूति-विशेषकर शोषित किसान, मजदूर और नारी का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण, यथार्थवाद अर्थात् उपन्यास में जीवन का यथार्थ चित्रण, मानव-जीवन और मानव-स्वभाव की अच्छी जानकारी होने से सजीव पात्रों और सजीव वातावरण का निर्माण; चरित्र-चित्रण में नाट्कीय कथोपकथनात्मक तथा घटनापरक पद्धतियों का उपयोग, समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्रों की सृष्टि, अपने व्यक्तित्व को पात्रों से पृथक रखकर उन्हें प्राय: अपनी सहज-स्वच्छन्द गति से चलने देना, अनेकानेक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का चित्रण, समाज के साथ पारिवारिक जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति, मानव-कल्याण की ओर संकेत करने वाले नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा और सरल व्यावहारिक भाषा का संग्रह।

प्रेमचन्द युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रसाद, निराला, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पंत, राहुल सांकृत्यायन और जैनेन्द्र। कोशिक जी के उपन्यास 'मां' और भिखारिणी नारी-हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। आचार्य चतुरसेन ने नारी की समस्या पर 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' आदि उपन्यास प्रारम्भ में लिखे थे। बाद में उनके बहुत से सामाजिक ऐतिहासिक और वैज्ञानिक उपन्यास प्रकाशित हुए। उनके कुछ उल्लेखनीय उपन्यास हैं—'गोली', 'वैशाली की नगर वधू' 'वयं' रक्षाम:' 'सोमनाथ' 'महालय', 'सोना और खून' तथा 'खग्रास'।

वृन्दावनलाल वर्मा ने इतिहास के तथ्यों की पूर्णत: रक्षा करते हुए कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। उन्होंने 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'माधवजी सिंधिया' आदि उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। हिन्दी के कुछ अन्य उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास हैं। जयशंकर प्रसाद

का 'इरावती' (अधूरा), हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'वाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख', चतुरसेन का 'वैशाली की नगरवधू', 'राजसिंह', 'सोमनाथ', 'सह्याद्रि की चट्टानें', सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती', राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', सत्यकेतु दिद्यालंकार का 'आचार्य चाणक्य', रांगेय राघव का 'अंधा रास्ता', उमाशंकर का 'नाना फड़नवीस' तथा 'पेशवा की कंचना'।

प्रसाद जी ने 'इरावती' के पहले 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो उपन्यास और लिखे थे, 'कंकाल' में हिन्दू नारी की असहाय स्थिति और धार्मिक पाखंड पर प्रकाश डाला गया है। 'तितली' में नारी-हृदय की महत्ता के उद्घाटन के साथ-साथ ग्राम-सुधार और यथास्थिति के विरुद्ध आन्दोलन की भावना है। प्रसाद जी मूलत: कवि हैं। उनके उपन्यासों में भी प्राय: जीवन की काव्यात्मक और भावपूर्ण व्याख्या मिलती है। **निराला** जी ने भी 'अप्सरा' 'अल्का', 'निरूपमा' आदि उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में भी प्रसाद जी की भांति रोमांटिक वातावरण है। नारी को निराला जी ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रारम्भिक उपन्यासों में 'विदा', 'विसर्जन' और 'विजय' उल्लेखनीय हैं।

सियारामशरण गुप्त के 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' उपन्यासों में नारी-जीवन और उसकी सामाजिक स्थिति का मार्मिक अंकन हुआ है। साधारण मनुष्य में भी उच्च गुण दिखाने में गुप्त जी निपुण है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के प्रारम्भिक उपन्यासों में पत्रात्मक शैली में लिखे 'चन्द हसीनों के खतूत' का विशिष्ट स्थान है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उपस्थित करते हुए प्रेम का महत्व दिखाया गया है। उनके 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'जीजी जी' आदि उपन्यासों में दुष्टों द्वारा भोली युवतियों को फंसाएं जाने की कथाएं हैं। सभ्य समाज की भीतरी दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियों का उन्होंने अच्छा उद्घाटन किया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'प्रेममयी', 'अनाथ स्त्री', 'त्यागमयी', 'पतिता की साधना' आदि शुरू के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के रूपाकर्षण और प्रेम के चित्र हैं। उनके 'गुप्त धन', 'चलते-चलते', 'पतवार', 'उनसे न कहना', 'रात और प्रभाव', 'टूटते बन्धन' आदि कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

गोविन्दवल्लभ पंत के 'सूर्यास्त', 'प्रतिमा', आदि उपन्यास काफी पहले प्रकाशित हुए थे। बाद में भी उनके 'जल समाधि', 'नारी के सपने', 'मैत्रेय' आदि उपन्यास निकले हैं।

जैनेन्द्र के परख (सन् 1929 ई.) से हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति का आरम्भ होता है। वस्तुत: यह उपन्यास एक लम्बी कहानी है जिसमें कट्टो नाम की देहातिन बालविधवा के भावुकतापूर्ण आत्मसमर्पण का चित्रण किया गया है। जैनेन्द्र ने आगे चलकर कई महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'सुनीता', 'सुखदा', 'त्यागपत्र', विवर्त्त' आदि लिखे, जिनमें प्राय: स्त्री का पर-पुरुष की ओर झुकाव दिखाकर आधुनिक नारी के कुण्ठाग्रस्त मन पर प्रकाश डाला है। मनोविश्लेषण की इस प्रवृत्ति का विकास किया **इलाचन्द्र जोशी** और **अज्ञेय** ने। प्रेमचन्द काल के उत्तरार्ध में इस क्षेत्र में आने वाले अन्य प्रतिभाशाली उपन्यासकार हैं। **ऋषभचरण जैन** (कैंदी गदर, भाई, भाग्य, रहस्यमयी, तपोभूमि, बादशाह की बेटी, सत्याग्रह, दिल्ली का व्यभिचार आदि), **भगवतीचरण वर्मा** (पतन, तीन वर्ष, चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, सबहिं नचावत राम गुसाईं) **राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह** (राम-रहीम, पुरुष और नारी, टूटा तारा, सूरदास, संस्कार आदि)

इस काल में जो उपन्यास लिखे गए, उन्हें चार वर्गों में विभिक्त किया जा सकता है—यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास **ऐतिहासिक** उपन्यास, **स्वच्छन्दतापरक** उपन्यास और **मनोवैज्ञानिक** उपन्यास। उपन्यास-लेखन की बहुत-सी शैलियों (ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, पत्रात्मक आदि) का प्रयोग हुआ है। इस काल में यूरोप की अनेक समृद्ध भाषाओं (रूसी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि) से उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ।

प्रेमचन्दोत्तर युग

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास कई मोड़ों से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। सन् '40 से' 50 तक की कालावधि के उपन्यास मुख्यत: फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से, सन् '50 से' 60 तक के उपन्यास प्रयोगात्मक

विशेषताओं से और सन् '60 से अब तक के उपन्यास आधुनिकतावादी विचारधारा से प्रभावित हैं। प्रेमचन्द समाज की स्वीकृत मान्यताओं के भीतर संघर्ष करते रहे। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद पश्चिम के पुराने मूल्यों का तेजी के साथ विघटन हुआ। फ्रायड ने काम-सम्बन्धी मान्यताओं को नैतिकता-अनैतिकता से परे बताकर सामाजिक नैतिकता के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिया। पूंजीवादी समाज में व्यक्ति-चेतना उभर कर सामने आई। मार्क्स ने समष्टि चेतना पर विशेष बल दिया। हिन्दी उपन्यास इन विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रहा। फलस्वरूप सन् '50 के बाद उपन्यासकारों का ध्यान व्यक्ति और समाज की मुक्ति की ओर गया। किन्तु स्वतंत्रता के बीस वर्षों बाद भी मानव जीवन में एक विशेष प्रकार की कुण्ठा, निराशा, त्रास, अर्थहीनता आदि की अनुभूति होने के कारण सन् '60 के बाद के उपन्यासों में इन्हीं मनोदशाओं का चित्रण किया गया।

प्रेमचन्द-युग में ही जैनेन्द्र ने फ्रायड से प्रभावित होकर मानव-चरित्र के स्थान पर व्यक्ति-चरित्र की सृष्टि की थी। किन्तु सन् '51 में अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन के साथ ही हम उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ पाते हैं। **अज्ञेय** के तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। –'शेखर : एक जीवनी' (दो भाग), 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी'। पहले दो उपन्यासों में व्यक्तिपात्रों के मनो विश्लेषण की प्रवृत्ति है। तीसरी रचना में कोई सम्बद्ध कथानक नहीं है। अज्ञेय ने उपन्यास को पात्र-प्रधान बनाया और सामाजिक मानव के स्थान पर व्यक्ति-मानव के अन्तर्मन का विश्लेषण करने का यत्न किया।

इलाचन्द्र जोशी को उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा 'संन्यासी' (1914) उपन्यास-प्रकाशन के द्वारा मिली। इस उपन्यासो में ही पहली बार मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की विकृति देखी जा सकती है। 'संयासी' के अतिरिक्त 'पर्दे की रानी' (1941), 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ' (1950) '**सुबह** के भूले' (1957), 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी' (1955) और 'ऋतुचक्र' उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनके उपन्यासों की विकास-यात्रा में 'मुक्तिपथ' एक नए मोड़ की सूचना देता है। 'मुक्तिपथ' के पूर्ववर्ती उपन्यास ग्रन्थियों के विश्लेषण पर आध ारित है। उनकी भाव-भूमियाँ एकांगी, संकुचित और छोटी हैं। 'मुक्तिपथ' तथा उसके बाद जो उपन्यास लिखे गये, उनमें परिदृश्य का विस्तार और सामाजिकता का समावेश दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में अपनी विशिष्ट विचारधारा, ईमानदारी और सर्जनात्मक शक्ति के कारण यशपाल ने स्वतंत्र व्यक्तित्व बना लिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यशपाल को प्रेमचन्द उपन्यास-परम्परा की अगली कड़ी के रूप में माना जा सकता है। यशपाल का प्रारम्भिक जीवन क्रांतिकारी दल से सम्बद्ध था। वे इसके सक्रिय सदस्य थे, इसके लिए उन्हें चौदह वर्ष का कारावास भी मिला। कारावास काल में उनका सारा समय अध्ययन-मनन में व्यतीत हुआ। इसी समय मार्क्सवादी विचारधारा का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में उतरने पर उन्होंने इसी विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनके उपन्यास हैं–'अमिता', 'दिव्या', 'दादा कामरेड' (1941), 'देशद्रोही' (1943), 'पार्टी कामरेड' (1946), 'मनुष्य के रूप में' (1949), 'झूठा सच': प्रथम भाग 'वतन और देश' (1958), दूसरा भाग 'देश का भविष्य' (1960)।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' यशपाल की परम्परा में आते हैं। चढ़ती धूप, नई इमारत, उल्का और मरुप्रदीप उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। पर इनमें द्वन्द्वात्मक चेतना पूरे तौर पर नहीं उभरती।

भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्दीय परम्परा के उपन्यासकार हैं। सन् '50 तक यह परम्परा चलती रही प्रेम चन्द ने अपने साहित्य में समसामयिक समस्याओं को चित्रित किया और वर्मा जी परिवर्तमान ऐतिहासिक धारा को मध्यमवर्ग के माध्यम से अंकित करते रहे हैं–मुख्यत: '40 के बाद लिखे गये उपन्यासों में। इनमें टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दाव' 'भूले-बिसरे-चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गुसाईं', मुख्य हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क को प्रेमचन्द-परम्परा का उपन्यासकार कहा जाता है। पर वे समग्र रूप से प्रेमचन्दीय परम्परा से नहीं जुड़ पाते। जहाँ तक मध्यवर्गीय परिवारों और व्यक्तियों की परिस्थितियों, समस्याओं और परिवेश का सम्बन्ध है, वहाँ तक वे प्रेमचन्दीय परम्परा के उपन्यासकार हैं प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी, इसलिए प्रामाणिक

भी। प्रेमचन्द के वैविध्य और जीवन-चेतना का इनमें अभाव है। 'सितारों के खेल' के बाद इनके कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं–गिरती दीवारें, 'गर्म राख' 'बड़ी-बड़ी आँखे', पत्थर अल पत्थर', 'शहर में घूमता आइना' और 'एक नन्हीं किन्दील'। 'गिरती दीवारें' इनका सर्वोत्तम उपन्यास है। गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखे, पत्थर अल पत्थर सुगठित उपन्यासों की श्रेणी में रखे जायेंगे। अन्तिम दोनों उपन्यास 'गिरती दीवारें' का विस्तार हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के आवर्त में पड़ा व्यक्ति कभी अपने को उनके अनुरूप ढालता है कभी उनसे आहत होता है, कभी छोटे-मोटे सुधारों के द्वारा समाज का परिष्कार करता है। वहाँ समाज प्रधान है, व्यक्ति गौण। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने व्यक्ति की सनकों, अन्तर्द्वन्द्वों को समाज से अधिक महत्व दिया है।

अमृतलाल नागर के उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक सम्बन्धों को चित्रित किया गया है। 'नवाबी मसनद', 'सेठ बाँकेमल', 'महाकाल', 'बूंद और समुद्र', शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा नैमिषारण्ये' और 'मानस का हंस' उनके प्रकाशित उपन्यास हैं। अपने विस्तार और गहराई के कारण 'बूंद और समुद्र' विशेष महत्वपूर्ण बन पड़ा है।

'50 के बाद के दशक को आंचलिक उपन्यासों का दशक मान लिया जाता है। वस्तुतः इस समय के उपन्यासों वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों हैं। वैयक्तिक इसलिए कि वह पुराने नैतिक मूल्यों से मुक्त होकर खुले वातावरण में सांस लेना चाहता है, सामाजिक इसलिए कि अभी समाज को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने में लम्बी मंजिल तय करनी थी। देश के विभाजन के कारण जो नई समस्याएं उत्पन्न हुई, उन्हें भी औपन्यासिक रूप दिया गया। प्रवृत्तिक दृष्टि से इस दशक के उपन्यासों को तीन प्रवृत्तियों में बांटा जा सकता है–ग्रामांचल के उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास और प्रयोगशील उपन्यास।

ग्रामांचल को ही समग्रता से चित्रित करने वाले उपन्यासों को ही आंचलिक कहकर आंचलिकता के अर्थ को सीमित कर दिया जाता है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' के प्रकाशन के पूर्व नागार्जुन का 'बलचनमा' (1952) प्रकाशित हो चुका था। पर इसे आंचलिक नहीं कहा गया। यद्यपि इसमें आंचलिकता का कम रंग नहीं है। नागार्जुन के उपन्यासों में दरभंगा-पूर्णिया जिले का राजनीतिक-सांस्कृतिक साक्षात्कार होता है। इनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण गाँव की कहानी पर आरोपित प्रतीत होता है। कथानक स्वयं विकसित न होकर पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार चलता है। इसके फलस्वरूप उपन्यासों की सर्जनात्मकता शिथिल और अवरुद्ध हो जाती है। 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे' आदि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों को ही सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी गयी क्योंकि स्वयं रेणु ने ही 'मैला आंचल' को आंचलिक उपन्यास कहा। 'मैला आंचल' के प्रकाशन के बाद 'परती परिकथा' प्रकाशित हुआ।

उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरे और मनुष्य' (1955) में बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गांव के मछुओं की जीवन-गाथा वर्णित है। **रांगेय राघव** का 'कब तक पुकारूँ' में जरायमपेशा नटों की जिन्दगी को उजागर किया गया है। नट-जीवन और आधुनिक जीवन की असंगतियों को चित्रित करते हुए लेखक ने उज्ज्वल भविष्य का संकेत किया है कि शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया ग्रामांचल का ही उपन्यास है।

सातवें दशक में भी ग्रामांचल को आधार बना कर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र आदि ने उपन्यास लिखे। राही का 'आधा गांव' शिया मुसलमानों की जिन्दगी पर लिखा गया है और शिवसाद सिंह की 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता-बोध को सन्निविष्ट करने का प्रयास किया गया है। किन्तु इनके मूल स्वर त्रासद (ट्रेजिक) हैं। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और देवेन्द्र सत्यार्थी

का 'रथ के पहिये' ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' पारंपरिक अर्थ में उपन्यास नहीं हैं। यद्यपि इसकी कथा ग्रामांचल से सम्बद्ध है। फिर भी यह आंचलिक नहीं है। रिपोर्ताज शैली में लिखे गये इस उपन्यास में स्वतंत्र देश की नवीन व्यवस्थाओं का मखौल उड़ाया गया है।

छठे दशक में देवराज मुख्यत: मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की श्रेणी में आते हैं। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यास है, यद्यपि वह पांचवे दशक में प्रकाशित हुआ। भारती और देवराज दोनों के उपन्यासों का वातावरण महाविद्यालयीय है। 'गुनाहों का देवता' अपनी कैशोर्य भावुकता तथा रूमानियत के कारण काफी लोकप्रिय हुआ। 'पथ को खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' देवराज के उपन्यास हैं। इन सभी उपन्यासों की मूलवर्तिनी धारा है–विवाह के बाहर का प्रेम।

मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव आदि नवीन सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं। भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल', 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा', अमृतराय के 'बीज', 'नागफनी का देश', 'हाथी के दांत' संघर्ष और प्रगति के मिथक के सूचक हैं। लक्ष्मीनारायण लाल के 'धरती की आँखें', काले फूलों का पौधा', रूपाजीवा' में उपर्युक्त स्तर की सामाजिक चेतना को उभारने की कोशिश है। 'काले फूलों का पौधा' चरित्र-चित्रण, संस्कृति-संघर्ष और नव्यतर तकनीक के कारण विशिष्ट बन पड़ा है।

'प्रेत बोलते हैं', 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग' और 'एक इंच मुस्कान' **राजेन्द्र यादव** के उपन्यास हैं। 'एक इंच मुस्कान' यादव और मन्नू भंडारी का सहयोगी लेखन है। इसमें खंडित व्यक्तित्व वाले आधुनिक व्यक्तियों की प्रेम-त्रासदी (ट्रेजिडी) है। आधुनिक जीवन की इस त्रासदी को अंकित करने के कारण यह उपन्यास यादव के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक समकालीन और महत्वपूर्ण है।

कविता में नए प्रयोगों के साथ-साथ कहानी-उपन्यास आदि में भी नये प्रयोग हुए हैं। अब कहानी का तत्व क्षीण हो गया है, कथानक का पुराना रूप विघटित होकर नया हो गया है। अब जिन्दगी पूरे तौर पर विश्लेषित न होकर चेतना प्रवाह, स्वप्न सृष्टि के साथ जुड़ गई है, प्रतीक, कालांतर आदि के द्वारा उपन्यासों में नए शिल्प के दर्शन हुए हैं। इस प्रयोग-संपर्क में प्रभाकर माचवे के परन्तु', 'साँचा', और आभा', **भारती** का 'सूरज का सांतवा घोड़ा', गिरधर गोपाल का 'चांदनी रात के खंडहर', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' आदि अनेक प्रकार की विसंगतियों से भरे हुए प्रयोगशील उपन्यास हैं।

उद्योगीकरण, महानगरीय सभ्यता, बदले हुए मानसिक परिवेश और भ्रष्ट व्यवस्था के कारण आज व्यक्ति यांत्रिक, अजनवी, अकेला या विद्रोही हो गया है। इसकी अभिव्यक्ति मुख्यत: साठोत्तरी साहित्य में होती है, भले ही उपन्यास, नाटक की अपेक्षा इसका तेवर कविता और कहानी में ही अधिक तेजस्वितापूर्ण दिखाई देता है। इस प्रकार के उपन्यासों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है–

(1) **यौन विकृतियों में पनाह खोजने वाले उपन्यास–मोहन राकेश** के 'अन्धेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल' और 'अन्तराल', निर्मल वर्मा का 'वे दिन', महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' राजकमल चौधरी के 'मछली मरी हुई' और 'शहर था शहर नहीं था', श्री कान्त वर्मा का 'दूसरी बार', ममता कालिया का 'बेघर', गिरिराज किशोर का 'यात्राएं' मणिमधुकर का 'सफेद मेमने', कृष्णा सोबती का' सूरजमुखी अंधेरे के' आदि उपन्यास इसी कोटि के हैं। इन उपन्यासों के प्राय: सभी नायक मानसिक दृष्टि से अनिर्णयात्मक, आत्म-निर्वासित और नपुंसक हैं। वे मुक्त होने की प्रक्रिया में ऐसी उलझन में फंस जाते हैं, जहां से उन्हें निष्कृति नहीं मिलती। इन उपन्यासों से आधुनिकता का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें स्त्री-शरीर 'नशे' या 'ड्रग' का काम करता है। राकेश को छोड़कर शेष उपन्यासों में प्रामाणिकता की भी कमी है।

(2) **दी हुई मानवीय स्थितियों में बेमेल व्यक्तियों को चित्रित करने वाले उपन्यास**–इस श्रेणी में उषा प्रियंवदा का **'रुकोगी नहीं राधिका'** और **मन्नू भंडारी** के **'आय बंटी'** की गणना की जाएगी। इन उपन्यासों की आधारभूमियां ठोस और प्रामाणिक हैं।

(3) **व्यवस्था की घुटन को अपनी नियति मानने या उसके विरुद्ध युद्ध करने वाले उपन्यास**–नरेश मेहता का **'वह पथ बन्धु था',** गोविन्द मिश्र का वह **'अपना चेहरा', बदीउज्जमा का 'एक चूहे की मौत', काशीनाथ सिंह** का **'अपना मोर्चा,** नरेन्द्र कोहली का **'आश्रितों का विद्रोह'** आदि उपन्यास इस कोटि के अन्तर्गत आते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी कई प्रयोगशील और प्रतिबद्ध उपन्यास लिखे हैं।

इनके अतिरिक्त गिरिराज किशोर का 'जुगलबन्दी' और 'ढाई आखर', लेख बख्शी का **'वैषाखियों वाली इमारत', देवराज उपाध्याय** का **'दूसरा सूत्र'** और 'अजय की डायरी' कमलेश्वर का 'डाक बंगाला' और 'काली आंधी' और मन्नू भंडारी का 'महाभोज' श्री लाल शुक्ल का 'मकान' शिवप्रसाद सिंह का 'नीला चाँद' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। रमेश चौधरी आरिगमूडि, ओंकार शरद, मार्कण्डेय, मुद्राराक्षस, आनन्द प्रकाश चौबे, श्रीलाल शुक्ल, मोहन सिंह सेंगर, सत्येन्द्र गुप्त, राजेन्द्र अवस्थी, हंसराज रहबर, रामदरश मिश्र, मनहर चौहान, शिवप्रसाद सिंह, राही मासूम रजा, शिवानी आदि उपन्यास के क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रहे हैं। यूरोप के पुराने और नये उपन्यासों के अनुवाद का कार्य भी हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास का युग प्रयोग का युग रहा। जीवन-मरण सम्बन्धी पुराने सभी मत मतान्तरों को चुनौती दी गई है। महानगरीय अकेलापन, अत्यधिक निकटता में अजनबी पन, विसंगति, संत्रास यांत्रिक तटस्थता आदि का चित्रण किया गया है। बाह्य यथार्थ की अपेक्षा आन्तरिक यथार्थ को अधिक महत्ता दी गई है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ लाल', लक्ष्मी नारायण लाल का 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' जैसे आधुनिक उपन्यासों में कथा का ह्रास हुआ है कथानक का नहीं। उपन्यासों में पीढ़ियों का वैचारिक मतभेद, पति-पत्नी, भाई-बहन, माँ-बाप के सम्बन्ध में दोहरा व्यक्तित्व, अन्त:बाह्य संघर्ष, मिल मालिक और मजदूरों का संघर्ष, कृषकों का जागरूक होना पुलिस की धांधलियाँ, महाजनों के धन शोषण के तरीके महानगर, कस्बे और गावों के परिवर्तन को समग्रता में रेखांकित किया गया है। उपन्यासों में पूर्वदीप्ति शैली, आत्म कथात्मक शैली, संकेत शैली, प्रतीक शैली द्वारा मानवीय संवेदना को उभारा गया है। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से आज के उपन्यास समृद्ध दिखाई देते हैं।

निबन्ध

हिन्दी निबन्ध का जन्म भारतेन्दु-काल में हुआ। यह नवजागरण का समय था। भारतीयों की दीन-दुखी दशा की ओर लेखकों का बहुत ध्यान था। पुराने गौरव, मान, ज्ञान, बल-वैभव को फिर लाने का प्रयत्न हो रहा था। लेखक अपनी भाषा को भी हर प्रकार से सम्पन्न और उन्नत करने में लग गए थे, और सबसे बड़ी बात यह थी कि इस काल के लेखक स्वतंत्र विचारों के थे। उनमें अक्खड़पन और फक्कड़पन भी था। ऐसा युग निबन्ध के बहुत अनुकूल होता है, इसलिए इस युग में जितने अच्छे निबन्ध लिखे गये उतने अच्छे नाटक, आलोचना, कहानी आदि नहीं लिखे गए।

भारतेन्दु युग–भारतेन्दु काल के वातावरण और परिस्थितियों से तो आप परिचित ही है। उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी जैसे प्रमुख निबन्धकार हुए।

भारतेन्दु जी के निबन्ध भी अनेक विषयों पर हैं। 'काश्मीर कुसुम' 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह दर्पण'-ऐतिहासिक, 'वैद्यनाथ धाम', 'हरिद्वार', सरयू पार की यात्रा'–विवरणात्मक, 'कंकण स्तोत्र'–व्यंग्यपूर्ण वर्णनात्मक और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' विचारात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु सबसे अधिक सफल हुए अपने व्यंगात्मक निबन्धों में। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्त्रोत', कंकड़ स्तोत्र' आदि में गजब का हास्य-व्यंग्य है ही 'सरयू पार की यात्रा' में भी भारतेन्दु अपने व्यंग्य का बढ़िया नमूना उपस्थित करते हैं। जैसे–वाह रे बस्ती। झक मारने बसती है। अगर बस्ती इसी को कहते हैं, तो उजाड़ किसे कहेंगे?

इनके निबन्धों की भाषा स्वच्छ और श्लेषपूर्ण है। कहीं-कहीं तो उर्दू की बढ़िया शैली भी आपने उपस्थित की। भाव और विचार की दृष्टि से युग की वे सभी विशेषताएं इनमें भी हैं जो भट्ट जी या प्रतापनारायण मिश्र में हैं।

बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहला सकते हैं। इन्हें हिन्दी का 'मान्तेन, कहा जाता है। भट्ट जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'मेला-ठेला', 'वकील'—वर्णनात्मक, 'आंसू', 'चन्द्रोदय', 'सहानुभूति', 'आशा माधुर्य', 'खटका'—भावात्मक 'आत्म-निर्भरता', 'कल्पना-शक्ति', 'तर्क', और 'विश्वास'—विचारात्मक निबन्ध हैं। 'खटका', 'इंगलिस पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो कमा खाय किसी भांति', 'मुछन्दर', 'अकल अजीरन राग' आदि निबन्धों में मस्ती, हास-परिहास, विनोद-व्यंग्य सभी कुछ हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और दैनिक व्यवहार की है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुकूल और अपने समय में सबसे अधिक मंजी हुई सबल और प्रभावशाली है। समाज, व्यक्ति, जीवन, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, हिन्दी—सभी विषयों पर आपने लिखा।

जन-साहित्य को जन-भाषा में लिखने वालों में **प्रतापनारायण मिश्र** का नाम सर्वप्रथम आएगा। इनके व्यक्तित्व और निबन्धों में निराला आकर्षण है। लापरवाही, चुभता व्यंग्य, गुदगुदीभरा विनोद इनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। इस युग में इतनी चुलबुली भाषा लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। यह 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकालते थे, जिसमें इनके निबन्ध छपते थे। छोटे-छोटे विषयों पर इतने बढ़िया, मनोरंजन और उच्च उद्देश्य को लेकर किसी लेखक ने नहीं लिखा। 'नाक', 'भौह', 'वृद्ध', 'दांत', 'पेट', 'मृच्छ' आदि विषयों को लेकर आपने अपने निबन्ध ों में मनोरंजन का सामान भी जुटाया और देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिन्दी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, आत्म-गौरव का सन्देश भी दिया। इनकी शैली में घरेलू बोलचाल की शब्दावली तथा पूर्वी बोलियों की कहावतों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। लापरवाही के कारण भाषा की अशुद्धियाँ रहना साधारण बात है। 'आत्मीयता', 'चिन्ता', 'मनोयोग' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं।

प्रेमघन जी अपने निरालेपन के लिए याद किए जाते हैं। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी बात साध ारण समाज तक पहुंचे, उसका मनोरंजन हो या उसके विचारों में परिवर्तन हो। कलम की करामात दिखाना ही उनका उद्देश्य था। वह स्वाभाविक, प्रवाहमय, सुबोध भाषा नहीं लिखते। बल्कि शब्दों की जड़ाई करते थे। भाषा बनावटी होते हुए भी उसमें कहीं-कहीं विवेचन की शक्ति पायी जाती है। आप 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र निकालते थे। इन्हीं में उनके निबन्ध छपा करते थे। इनके शीर्षक उनकी भाषा-शैली को प्रकट करते हैं जैसे सम्पादकीय, सम्पत्ति सीर, हास्य, हरितांकुर, विज्ञापन और वीर बधूटियां। 'हमारी मसहरी' और 'हमारी दिनचर्या' जैसे मनोरंजक लेख उन्हीं के लिखे हुए हैं। 'फागुन', 'मित्र', 'ऋतु-वर्णन उनके अच्छे निबन्ध हैं।

बावमुकुन्द गुप्त इस युग के अन्तिम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण निबन्धकार थे। 'शिवशम्भू' के नाम से 'भारतमित्र' में वह 'शिवसम्भू' का चिट्ठा' लिखा करते थे। हास्य-व्यंग्य के बहाने 'शिवशम्भू का चिट्ठा नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। उनका व्यंग्य शिष्ट और नागरिक होता था। भाषा मिली-जुली हिन्दी-उर्दू। **राध ाचरण गोस्वामी** को भी इस युग के प्रगतिशील लेखकों में गिना जाएगा। 'यमपुर की यात्रा' में उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास का बहुत मजाक उड़ाया है। धार्मिक विचारों के लोग गाय की पूंछ पकड़कर वैतरणी पार करते हैं। इसमें कुत्ते के पूंछ पकड़कर वैतरणी पार कराई गई है। पहले ऐसी बात सोचना घोर पाप समझा जा सकता था।

भारतेन्दु-काल के निबन्धकारों की विशेषताएँ हैं—निबन्धों के विषयों की विविधता, व्याकरण-सम्बन्धी लापरवाही और अशुद्धियां, देशज या स्थानीय शब्दों का प्रयोग, शैली के विविध रूप और विचार-स्वतन्त्रता, समाज-सुधार, देश-भक्ति, पराधीनता के प्रति रोष आत्म-पतन पर खेद, देशोत्थान की कामना, हिन्दी-सम्मान की रक्षाभावना, हिन्दू, पर्व-त्यौहारों के लिए उत्साह और नवीन विचारों का स्वागत। निबन्ध की एक विशेष शैली भी इस युग की विशेषता है—'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे हिन्द), एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न (भारतेन्दु) एक अनोखा स्वप्न

(बालकृष्ण भट्ट), यमपुर की यात्रा (राधाप्रसाद गोस्वामी)–इन रचनाओं में स्वप्न के बहाने राजनैतिक अधिकार पाने, समाज सुधार तथा धर्म-संस्कार का संदेश दिया गया है।

द्विवेदी युग–भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आता है। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था। बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है। अन्य साथियों की शिष्टता, शील, ज्ञान, आत्मसम्मान आदि को देखकर उनके समान ही हम भी गुण विकसित करना चाहते हैं। यही बात भारतेन्दु युग के संदर्भ में समझनी चाहिए। भारतेन्दु-काल में साहित्य तो बहुत लिखा गया था, पर भाषा की भूलें साधारण बात थी। निबन्ध के विषय भी साधारण हुआ करते थे। इस युग में इन अभावों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के निबन्धों का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों से हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेज लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित कराया। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के समान सम्पन्न नहीं है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास का नाम दूसरी श्रेणी में लिया जा सकता है।

द्विवेदी-युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। अपने युग के यह आचार्य थे। आचार्य का काम होता है शिक्षा देना, ज्ञान-वर्द्धन कराना, समाज पर नया संस्कार डालना और सुधार करना। ये सब काम इन्होंने किये, इसलिए यह आचार्य कहलाए और इनके नाम पर ही इस काल का नाम द्विवेदी-युग रखा गया। अपने निबन्धों और समालोचनाओं के द्वारा सबसे मुख्य काम इन्होंने भाषा-सुधार का किया। 'किंकर्तव्य' नामक निबन्ध में यह लिखते हैं–'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता। जहां तक सम्भव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए। मुहावरे का विचार रखना चाहिए। क्रोध क्षमा कीजिए, इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुंचाते हैं।...' इस अवतरण से इनके भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

द्विवेदी जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'कवि और कविता' 'प्रतिभा', 'साहित्य की महत्ता' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं। 'लोभ', 'क्रोध' 'संतोष'–भावात्मक, 'हंस का क्षीरनीर विवेक', 'जापान में पतंगबाजी', 'हजारों वर्ष पुराने खंडहर' और 'प्रताप सुषमा'–वर्णनात्मक है और 'हंस-संदेश' तथा 'नल का दुस्तर दूत-कार्य'–विवरणात्मक। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि इनके निबन्धों में जानकारी अधिक रहती है, इनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि एक आचार्य शिष्य-मण्डली को पढ़ा रहा है।

माधवप्रसाद मिश्र भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन, साहित्य कला के सच्चे उपासक थे। इनका अपना व्यक्तित्व था। यदि ये किसी को भारतीय और प्राचीन साहित्य का गौरव घटाने का प्रयत्न करते हुए पाते थे, तो उनकी आलोचना करते थे। आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की भी उन्होंने निर्भय आलोचना की थी। इनकी भाषा निर्दोष, साफ-सुथरी, विषयानुकूल, व्यंग्यात्मक और प्रभावशाली है। संस्कृत का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। इनके लिखे 'धृति', 'क्षमा', 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय', 'काव्यालोचना', 'वेबर' का भ्रम'–विचारात्मक और 'सब मिट्टी हो गया'–भावात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु युग की यह परम्परा मिश्र जी के निबन्धों के साथ ही समाप्त हो गई।

अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के सबसे प्रमुख, भावुक और विचारक निबन्धकार हैं। इससे अधिक गौरव की बात और क्या होगी कि इन्होंने केवल छः निबन्ध लिखे और फिर भी अपने समय के श्रेष्ठ लेखक माने गए। उनमें से प्रमुख हैं 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता', और 'सच्ची वीरता'। अध्यापक जी के निबन्धों में प्रेरणा देने वाले नए-नए विचार हैं। इनकी भाषा बड़ी ही शक्तिशाली है। उसमें एक खास बाँकपन है जिससे भाव का प्रकाशन भी निराले ढंग से होता है। विषय भी ऐसे नए कि अब तक किसी को सूझे ही

नहीं। साथ, ही इनमें भावुकता का माधुर्य भरा है। वीरता, आचरण, शारीरिक परिश्रम का जो महत्व उन्होंने समझाया, उसको ठीक समझा जाए तो आज धर्म का नया रूप सामने आ जाए। समाज में क्रांति हो जाए, मनुष्य और सारा देश उन्नति के शिखर पर पहुंच जाए। ''जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं।'' 'मजदूरी और प्रेम' का यह उद्धरण कितना महान् संदेश देता है। भाषा की लाक्षणिकता इनकी विशेषता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी स्वतंत्र विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्ध इन्होंने भी थोड़े ही लिखे। इनकी रचनाओं में भी जीवन को उठाने की प्रेरणा और नए विचारों का खजाना मिलता है। संस्कृत के महापण्डित होते हुए भी पुरानी लकीर पीटने वाले ये नहीं थे। प्राचीन धार्मिक कथाओं की ये वैज्ञानिक और बुद्धिसम्मत व्याख्या करते थे। 'कछुआ धर्म' नामक निबंध भी गम्भीर तर्कपूर्ण, प्रभावशाली, विचार-प्रधान शैली इनकी विद्वता और तर्क-कुशलता का सुन्दर उदाहरण है।

गोविन्दनारायण मिश्र का नाम उनकी विचित्र अलंकारपूर्ण संस्कृत शब्दावली से लदी काव्यमय और बनावटी शैली के लिए लिया जा सकता है। आपको याद होगा भारतेन्दु-काल में 'प्रेमघन' जी भी इसलिए याद किए जाते हैं।

प्रसाद-युग–प्रसाद युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल है। क्या कविता, क्या गद्य दोनों का विकास इस काल में ऊँचे शिखर पर पहुंचा। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना सभी का खूब विकास हुआ। वर्णन और विवरण प्रधान निबन्धों की रचना बहुत कम हुई, विचारात्मक और भावात्मक की अधिक। इन दोनों प्रकार के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध इसी युग में लिखे गए। विचारात्मक निबन्धकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और भावात्मक निबन्धकारों में डॉ. रघुवीर सिंह, सिरमौर हैं। गुलाबराय, वासुदेवशरण अग्रवाल, शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि और रायकृष्णदास का नाम भी उल्लेखनीय है।

गुलाबराय जी के सामने द्विवेदी-युग का सारा साहित्य-भण्डार था। इनके साहित्य का बहुत कुछ रंग द्विवेदी-युग का रहा। यह निबन्धकार पहले हैं, आलोचक बाद में। 'फिर निराशा क्यों? 'मेरी असफलताएं', 'अंधेरी कोठरी' इनके निबन्ध संग्रह हैं। 'मेरी असफलताएं' आत्मपरक या वैयक्तिक व्यंग्यात्मक निबन्धों का संग्रह है। शेष दोनों संग्रहों में विचारात्मक निबन्ध हैं। अन्तिम संग्रह मनोवैज्ञानिक निबन्धों का है। आपकी भाषा बड़ी सरल और सुबोध होती है। विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों तक में भाषा या भाव की उलझन नहीं मिलेगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-संग्रह 'चिन्तामणि' भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विचारात्मक निबन्धों में शुक्ल जी के निबन्ध सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें विचारों की बारीकी और गंभीरता, भावों की मनोवैज्ञानिकता, भाषा का गठन और उसकी शक्ति आदि आदर्श हैं। 'चिन्तामणि' में 'क्रोध ', 'ईर्ष्या', 'लोभ और प्रीति', 'उत्साह', 'श्रद्धाभक्ति', 'भय', 'करुणा', 'घृणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि' आदि विषयों पर लिखे निबन्ध मानसिक भावों, वृत्तियों और विचारों से सम्बन्ध रखते हैं। 'कविता क्या है?' 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्य' साहित्यिक व्याख्या और विश्लेषण सम्बन्धी हैं और 'तुलसीदास का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी। 'मित्रता' और 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' परिचयात्मक वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का विवेचन करते हुए वे राजनीति, समाजनीति, धर्म, पारस्परिक व्यवहार आदि पर भी यह अपने मौलिक विचार प्रकट करते चलते हैं। इन निबन्धों की शैली में लेखक का गहन ज्ञान और गम्भीर व्यक्तित्व प्रकट होता है। थोड़े शब्दों में बड़ी से बड़ी बात कहने की शक्ति इनमें है। जो उच्च स्थान इनका आलोचक के रूप में है, वही निबन्धकार के रूप में भी है। लोक मंगल की भावना भी इनके निबन्ध ों की प्रमुख विशेषता है।

छायावाद-युग के कवियों ने भी कुछ रेखाचित्र, संस्मरण और ललित निबन्धों की सम्मिश्रित विधा में रचनाएं की हैं। ऐसी रचनाओं में **महादेवी वर्मा** की ये पुस्तकें उल्लेखनीय मानी जाती हैं–'स्मृति की रेखाएँ', 'अतीत

के चलचित्र' तथा 'श्रृंखला की कड़ियां'। इनके अतिरिक्त गम्भीर विचारपूर्ण निबन्धों के लेखक सूर्यकान्त त्रिपाठी **'निराला'** को भी नहीं भुलाया जा सकता। उसके तीन निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'पृथिवी पुत्र' में आपने एक स्थान पर कहा है– ''विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भर कर उन्हें अधपके ही बाहर उंडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर जीवन नहीं पा सकता। हिन्दी साहित्यकारों को अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करना चाहिए।'' ये भारतीयता के पुजारी और पक्ष-पोषक थे। 'कला संस्कृति' में प्राचीन और नवीन भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों, कवियों और कलाकारों के विषय में निबन्ध हैं। इन्होंने 'समुद्र-मंथन', 'कल्पवृक्ष' आदि की व्याख्या नवीन वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ढ़ंग से की है। आपके सभी निबन्ध विचारात्मक हैं।

निबन्ध-लेखकों में **शांतिप्रिय द्विवेदी** को भी नहीं भुलाया जा सकता। 'संचारिणी', 'सामयिकी', 'पदचिह्न' 'युग और साहित्य', 'परिव्राजक की प्रथा' इनकी पुस्तकें हैं। गांधीवादी नैतिकता और छायावादी भाषा रचनाओं की विशेषता है। 'धरातल' में आप अपने को समाजवाद का हिमायती बताते हैं। इस संग्रह में जीवन की समस्याओं का भौतिक समाधान खोजा गया है। विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध उन्होंने लिखे हैं। हिन्दी निबन्ध-साहित्य को इनकी देन है इनके वैयक्तिक निबन्ध। इस क्षेत्र में यह अद्वितीय है। अपने माता-पिता-बहन के जो चित्र इन्होंने खींचे हैं उनमें करुणा की नमी है और हृदय को स्पर्श करने वाली सच्चाई। इनके ये अनुपम वैयक्तिक निबन्ध 'पदचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रथा' में संगृहीत हैं। आप काव्यमय, कोमल-कान्त भाषा का प्रयोग करते हैं।

डॉ. रघुवीर सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्ण दास, वियोगी हरि आदि ने भावात्मक निबन्ध लिखे। रघुवीर सिंह और माखनलाल जी के निबन्ध काफी बड़े हैं, शेष दोनों के बहुत छोटे-छोटे एक डेढ़ पृष्ठ के। इनके निबन्धों की शैली अन्य निबन्धकारों की शैली से भिन्न हैं–छोटे-छोटे वाक्य, कहीं खण्डित, कहीं अपूर्ण। आश्चर्य, शोक, करुणा, प्रेम का आवेश इसमें उमड़ता सा दिखता है, ऐसी रचनाओं को हिन्दी गद्यकाव्य का नाम दिया गया है। हम इन्हें निबन्ध मानते हैं। गद्य-काव्य के भीतर तो कहानी, नाटक, उपन्यास, शब्दचित्र, निबन्ध, आलोचना, सभी कुछ सम्मिलित हैं।

रघुवीर सिंह इतिहास के विद्वान हैं। मुगलकालीन घटनाओं, इमारतों, चरित्रों को लेकर इन्होंने 'अतीत स्मृति' और 'शेष स्मृतियाँ' दो पुस्तकें लिखी। वैसे तो इन निबन्धों में वर्णन और विवरण है, फिर भी ये भावात्मक हैं। क्योंकि लेखक ने इनमें वर्णन को महत्व नहीं दिया, इनको देखकर अपने हृदय में उठने वाले भावों को ही प्रकाशित किया है।

माखनलाल जी ने विचार-प्रधान निबन्धों को भी भावात्मक शैली में लिखा। 'युग और कला', 'साहित्य देवता', 'रंगों की बोली', 'व्यक्तित्व' आदि निबन्ध–कला, साहित्य, चित्रकला और व्यक्तित्व विषयों पर हैं, ये विचारात्मक हो सकते हैं। लेकिन विचार भी प्रभावात्मक ढंग से दिये गये हैं। लेखक की मुग्धता, श्रद्धा, करुणा, सहानुभूति ही इसमें प्रकट हुई है।

वियोगी हरि और रायकृष्णदास जी की रचनाओं में भक्ति, प्रेम, विस्मय, पश्चाताप, आत्म-निवेदन, मनोमुग्धता, करुणा, संवेदना आदि अनेक भाव और भावना प्रकट हुई हैं। 'भावना' और 'अन्तर्नाद' वियोगी हरि की और 'साधना' रायकृष्ण दास की पुस्तक है। इन सभी निबन्धकारों ने उर्दू शब्दों का भी यथावसर प्रयोग किया है।

प्रसादोत्तर या प्रगतियुग में निबन्ध-साहित्य ने सबसे अधिक विकास किया। विषयों की संख्या और विविधता की दृष्टि से तो इस युग का मुकाबला ही नहीं। यह युग उथल-पुथल का युग है। दूसरा विश्वयुद्ध हुआ, समाजवादी विचारों का आगमन हुआ। भारत स्वतंत्र होकर विभाजित हुआ। प्राचीन साहित्य, संस्कृति और कला की ओर हमारा ध्यान गया। अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं भी पैदा हुईं। इन सब बातों की छाया

निबन्धों में भी मिलती है। इस युग के चार निबन्धकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार भवन्त आनन्द कौशल्यायन तथा यशपाल।

कौसल्यायन जी बौद्ध भिक्षु थे और समाजवादी विचारों का इन पर बहुत प्रभाव था। निबन्ध तो इन्होंने बहुत नहीं लिखे, पर पृथक् विषय की दृष्टि से इनका महत्व है। 'जो न भूल सका' इनके संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह है, जिनमें सामाजिक विषमता, धार्मिक शोषण, आर्थिक उत्पीड़न के तीखे चित्र हैं। धर्म को यह शोषण का संगठित साधन बताते हैं और अमीरों के भवनों को गरीबों की हड्डियों की ईंटों और खून के चूने से बना मानते हैं। जनवादी लेखक होने से इनकी भाषा सरल है।

प्रगतिवादी निबन्ध-साहित्य में **यशपाल** बेजोड़ हैं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष, 'गांधीवाद की शव परीक्षा', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात में बात', 'राम-राज्य की कथा' इन सभी पुस्तकों के नामों से भी पता चलता है कि ये समाजवाद के समर्थक ही नहीं, प्रचारक भी हैं। पुरानी परम्पराओं, समाज के ढांचे, धर्म की बुनियादों पर उन्होंने बड़े जोश के साथ वार किए हैं। इनका विश्वास है कि पुराने दर्शन और संस्कृति, मानव की उन्नति में रोड़े हैं। इसलिए इनका विरोध यह निडर होकर करते हैं। वर्तमान समाज में धन के गलत बंटवारे के कारण कोई राजा बन गया और कोई गुलाम। वे कहते हैं कि 'मानव की घृणा', मानव से मानव की शत्रुता, मानव द्वारा मानव का शोषण और अपमान तभी दूर हो सकेगा, जब सबको अपने परिश्रम का फल मिले, विकास का अवसर प्राप्त हो।'' सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, समाज सभी के विषय में इन्होंने अपने मौलिक विचार प्रकट किए। विविधता की दृष्टि से इन्होंने हिन्दी निबन्ध-साहित्य को धनी बताया है।

जैनेन्द्र कुमार शुद्ध रूप से विचारक हैं। धर्म, युद्ध, न्याय, राष्ट्रीयता, दान की बात, दीन की बात, पैसा कमाई और भिखाई, गांधीवाद का भविष्य, रोटी का मोर्चा, संस्कृति की बात, उपवास और लोकतंत्र, दु:ख, सत्यं शिवं सुन्दरं, साहित्य की सच्चाई, प्रगतिवाद, जड़चेतन, सम्पादकीय मैटर-इनके इन निबन्धों से विषय की विविधता का तो पता चलता ही है, यह भी पता चलता है कि लेखक समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति, जीवन की यथार्थ उलझनों आदि किसी से भी बेखबर नहीं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–'जड़ की बात', पूर्वोदय', 'जैनेन्द्र के विचार' 'इतस्तत:'। इनके निबन्धों की विशेषताएं हैं : गांधीवाद, नैतिकता, संस्कृति-प्रेम, मौलिक विचार, स्वतंत्रता और सबल, संक्षिप्त गठी हुई शैली। व्यक्तित्व और शैली को निबन्ध का प्राण मानें, तो जैनेन्द्र जी एक महान लेखक हैं। भाषा सरल, हाट-घाट-बाट की है, लेकिन उसमें अर्थ गजब का मिलेगा। इनकी शैली के लिए कुछ अवतरण देखिए–

व्यवस्था का दल कागजी है।
काम उसके दफ्तरी है।
मत पता लगने दो कि नीचे जान है।
दिलेरी डर से पैदा होती है।

उस नीयत का मुंह बाहर चाहे न दीखता हो, पेट में छिपी उसकी जड़ है जरूर।

निबन्धकारों में राहुल सांकृत्यायन का नाम भी महत्वपूर्ण है। इनके निबन्ध देश-दशा, राजनीति, यात्रा-वृत्तान्त तथा इतिहास को लेकर ही होते हैं। देश-दशा और राजनीति से सम्बन्धित निबन्धों के एक संग्रह का नाम है–'तुम्हारा क्षय'। इस संग्रह के सभी निबन्धों का निष्कर्ष यह है कि जो रूढ़िवादी है, जो रास्ता रोककर खड़े हैं, उनका क्षय हो। इनके कुछ संस्मरणात्मक निबन्धों के संग्रह ये हैं बचपन की स्मृतियां, जिनका मैं कृतज्ञ, मेरे असहयोग के साथी, राहुल जी का अपराध आदि। राहुल जी के असली व्यक्तित्व और निबन्धकार की आत्मा का यदि दर्शन करना हो तो उनका 'घुमक्कड़ शास्त्र' पढ़ना चाहिए।

राहुल जी जैसी मस्ती और जैनेन्द्र कुमार जैसी शैली की झलक कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के निबन्धों में मिलती है। इनके निबन्धों के 6 संग्रह हैं–'जिन्दगी मुस्कराई', 'आकाश के तारे', 'धरती के फूल', 'दीप जले' 'शंख बजे', 'माटी हो गयी सोना', 'महके आंगन, चहके द्वार' तथा 'बूँद-बूँद सागर लहराया'।

आधुनिक निबन्धकारों में विद्यानिवास मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अधिकतर ललित निबन्ध लिखे हैं। इन निबन्धों में कविता और पाण्डित्यपूर्ण शास्त्र का आनन्द एक साथ मिलता है। इनके तीन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं : (1) छितवन की छाँह, (2) कदम की फूली डाल तथा (3) तुम चन्दन हम पानी।

नये निबन्धकारों में **प्रभाकर माचवे, नामवर सिंह, हरिशंकर परसाई, श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, शरद जोशी,** श्री लाल शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। **प्रभाकर माचवे** के निबन्धों के संग्रह का नाम है–'खरगोश के सींग' और **नामवर सिंह** का निबन्ध-संग्रह है–बकलम-खुद'। हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्धों में मस्ती और जान है। 'भूत के पाँव' 'सदाचार का ताबीज' और 'निठल्ले की डायरी' में उनके व्यंग्य लेख संग्रहीत हैं। विद्या निवास मिश्र का 'छितवन की छाह', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आंगन का पंछी' 'बनजारामन' और 'मेरे राम का मुकुट' भीग रहा है', कुबेर नाथ राय का 'प्रिया-नीलकंठी', 'गन्ध मादन', 'माया बीज', विवेकी राय का 'आम रास्ता नहीं है', 'देवेन्द्र सत्यार्थी का 'एक युग का प्रतीक' हरिशंकर परसाई का 'शिकायत मुझे भी है' हरीशनवल का 'बागपत के खरबूजे आदि प्रसिद्ध निबन्ध संकलन हैं।

हिन्दी निबन्ध लेखन की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है लेकिन इधर कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में नये लेखकों का आगमन बहुत कम हुआ है। ललित भावात्मक, विचारात्मक निबन्ध लेखन की प्रवृत्ति कम हुई है और जो लिख भी रहे हैं वे पुराने पीढ़ी के ही लेखक हैं। नये लेखकों की निबन्ध लेखन की ओर से यह उदासीनता अत्यन्त चिन्ताजनक है।

नाटक

प्राचीन हिन्दी नाटक

हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी के जो नाटक मिलते हैं, वे या तो नाटकीय काव्य हैं अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं, क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्वों का सर्वथा अभाव है, जैसे नेवाज का 'शकुन्तला', कवि देव का 'देवमायाप्रपंच', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' राजा जसवन्तसिंह का 'प्रबोधचन्द्र चन्द्रोदय' नाटक आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। जो लगभग 1700 ई. में लिखा गया था, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अत: वह भी आधुनिक नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में गद्य अत्यन्त अविकसित स्थिति में था और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। अस्तु, हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका, जबकि हिन्दी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यन्त विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान थी। आधुनिक युग में हिन्दी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज लोग नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रुचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिन्दी-गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिन्दी-नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको

रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य–संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम–धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थी जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी–साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी–नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है–

1. भारतेन्दुयुगीन नाटक–1850 से 1900 ई.
2. द्विवेदी युगीन नाटक–1901 से 1920 ई.
3. प्रसाद युगीन नाटक–1921 से 1936 ई.
4. प्रसादोत्तर युगीन नाटक 1937 से अब तक

भारतेन्दु–युगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अतः साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए।

युग–प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने अनूदित/मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है : (1) विद्यासुन्दर (1868), (2) रत्नावली (1868), (3) पाखण्ड विखंडन (1872), (4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873), (5) धनंजय विजय (1873), (6) प्रेम जोगिनी, (1874), (7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875), (8) मुद्राराक्षस (1875), (9) कर्पूर मंजरी (1876), (10) विषस्य विषमोषधम् (1876), (11) श्री चन्द्रावली (1875), (12) भारत–दुर्दशा (1876), (13) भारत जननी (1877) (14) नीलदेवी (1880), (15) दुर्लभ–बन्धु (1880), (16) अन्धेर नगरी (1881), (17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त–महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु–युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषधम्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अधःपतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्र्य' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्जवल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा श्रृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) **पौराणिक धारा**–इसकी तीन उपधाराएं–(1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रह्लाद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) **ऐतिहासिक धारा**–ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) **समस्या-प्रधान धारा**–भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विध वा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) **प्रेम-प्रधान-धारा**–रीतिकाल की श्रृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु–युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(ङ) **राष्ट्रीय प्रहसन धारा**–राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नव जागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति

बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आंखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे।

1. **संस्कृत**

भवभूति: (i) उत्तर रामचरित-देवदत्त तिवारी (1871), नन्दलाल, विश्वनाथ दूबे (1891), लाला सीताराम (1891)।

(ii) मालती माधव–लाला शालिग्राम (1881), लाला सीता राम (1898)।

(iii) महावीर चरित–लाला सीताराम (1897)।

कालिदास: (i) अभिज्ञान शकुन्तला–नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (1888)।

(ii) मालविकाग्निमित्र–लाला सीताराम (1898)।

कृष्णमित्र प्रबोध चन्द्रोदय–शीतला प्रसाद (1879), अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885)।

शुद्रक मृच्छकटिक–गदाधर भट्ट (1880), लाला सीताराम (1899)।

हर्ष रत्नावली–देवदत्त तिवारी (1872), बालमुकुन्द सिंह (1798)।

भट्टनारायण वेणीसंहार–ज्वालाप्रसाद सिंह (1897)।

2. **बंगला**

माइकेल मधुसूदन दत्त : (i) पद्मावती–बालकृष्ण भट्ट (1878)।

(ii) शर्मिष्ठा–रामचरण शुक्ल (1880)।

(iii) कृष्णमुरारी–रामकृष्ण वर्मा (1899)।

द्वारिकानाथ गांगुली : वीरनारी-रामकृष्ण वर्मा (1899)।

राजकिशोर दे : पद्मावती–रामकृष्ण वर्मा (1888)।

मनमोहन वसु: सती–उदित नारायण लाल (1880)।

अंग्रेजी

शेक्सपीयर

(i) मरचेंट आफ वेनिस (वेनिस के व्यापारी)–आर्या (1888)।

(ii) द कॉमेडी आफ एरर्स (भ्रमजालक)–मुन्शी इमदाद अली, भूल भुलैया–लाल सीताराम (1885)।

(iii) एज यू लाइक इट (मनभावन)–पुरोहित गोपीनाथ (1896)।

(iv) रोमियो जूलियट (प्रेमलीला)–पुरोहित गोपीनाथ (1897)।

(v) मैकबैथ (साहसेन्द्र साहस)–मथुराप्रसाद उपाध्याय (1893)।

जोजेफ एडीसन: केटो कृतान्त–बाबू तोता राम (1879)

भारतेन्दु-युगीन नाटककारों की अनूदित रचनाएं केवल उनकी अनुवाद वृत्ति का ही दिग्दर्शन नहीं कराती, वरन् सामाजिक जीवन के उन्नयन के लक्ष्य को भी प्रकट करती हैं। अनुवादक उन रचनाओं के माध्यम से वस्तुत: एक नाट्यादर्श प्रस्तुत करना चाहते थे और उन नैतिक तत्वों के प्रति भी जागरूक थे जो नव-जागरण में सहायक थे। इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन इन नाटकों की विषय वस्तु में वैविध्य मिलता है। रामायण और महाभारत के प्रसंगों को लेकर पौराणिक नाटक बहुतायत से लिखे गये। इसी संदर्भ में ऐसे नाटकों की संख्या भी पर्याप्त कही जा सकती है जो नारी के सतीत्व और पतिव्रता के आदर्श से सम्बन्धित है। सामाजिक नाटकों में भी विषयवस्तु का वैविध्य और विस्तार मिलता है। इस काल में मुख्य रूप से अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह, मद्यपान, वेश्या गमन, नारी स्वातंत्र्य आदि समस्याओं पर विचार किया है। किन्तु युगीन सन्दर्भ के प्रति इस प्रकार की जागरूकता के बावजूद अनुभूति की तीव्रता और नाट्य शिल्प की विशिष्टता के अभाव में इस युग का नाट्य साहित्य कोई महत्वपूर्ण साहित्यिक देन नहीं दे सका। फिर भी नाट्य रचना और रंगमंच के लिए जैसा वातावरण इस युग में बन गया था, वैसा हिन्दी साहित्य के किसी काल में सम्भव नहीं हुआ।

द्विवेदी–युगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पांचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अत: कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं–(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया

रंगमंच), (2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच) साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुजफ्फरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे—पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलत: नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का नि:संकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं—कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए ह्रास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें—गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध

विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं। व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटक इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़धोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अत: कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रागंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप

एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

प्रसाद-युगीन नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्त्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियां—सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी—परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है। और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानयी बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अत: इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। 'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीन साम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु

ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। 'एक घूट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धिक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता की श्रृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुर्नविवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्‌बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्‌भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936),

'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय है उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। **धार्मिक नाट्यधारा** के अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं–अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत- 'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्राय: कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धिवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में **इतिहास का आधार** लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलत: जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिंध पतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य–कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी

हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियां हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त **सामाजिक नाटकों** की रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929), और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्वार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों—बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग में श्रृंगार-प्रधान नाटकों का प्रायः ह्रास हो गया था। थोड़ी बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्व वस्तुतः सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ज्योत्स्ना' (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झांकी का मनोरम स्वरूप व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ प्रहार ऊपर से तो साधारण सा प्रतीत होता है। किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी' (1919) गड़बड़ झाला (1919), नाक में दम उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियां का जूता मियां के सर (1926) भूलचूक (1928), चोर के घर छिछोर (1933) चाल बेढव (1934), साहित्य का सपूत (1934), स्वामी चौखटानन्द (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएं हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं—मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'स्वर्ण विहान' (1937) भगवतीचरण वर्मा-कृत 'तारा', उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा (1937) और विश्वमित्र (1938) आदि उल्लेखनीय है। 'स्वर्ण विहान' में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं की ओर अवश्य लिखे गये किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। फिर भी इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

प्रसादोत्तर युगीन नाटक (1937 से अब तक)

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलतः आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मद्धिम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधि यों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धिवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धिकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएं थीं, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलतः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आध ुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अतः उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धिक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धिक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धिक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धिकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोध ी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो

परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्राय: इस प्रकार परितृप्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यत: कोई दृश्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृश्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावन्विति के स्थान पर बौद्धिक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है। लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं– 'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938, 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्राय: सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा–सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्त:पुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्ज्य' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मन: स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950),

'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने वालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं–'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएं जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धिक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएं प्रगतिशील एवं ह्रासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धिक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्बुद्ध नहीं करती क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धित तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी

ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआ और धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अर्द्ध-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं:–'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्यू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुंचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुंच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं।

उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवां सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मन:स्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्म इतिहास हैं, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्र्य की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्म और पाखंडो का ही पर्दाफाश किया है। अधुनातन नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमश: अपने नाटकों 'योअर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है', 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्यो की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के ह्रासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तो से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे, रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं–

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य सांप', रमेश बख्शी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड' सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़' शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' अमृतराय की 'विंदियों की एक झलक' गोविन्द चातक का' अपने अपने खूंटे' विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग' भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य प्रवृत्तियां उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं–आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध , वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहां तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

किसी भी रचना की सम्पूर्णता कथ्य और शिल्प के सानुपातिक कलात्मक संयोजन में निहित रहती है। हिन्दी नाटकों में इन दोनों तत्वों के बीच तालमेल की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो हिन्दी के बहुत कम नाटक इस स्तर तक ऊंचे उठ पाते हैं। जब तक रंग जगत में वे सफल नहीं होते, उन्हें अर्थवान साबित नहीं किया जा सकता। यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी रंगमंच व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका में क्रियाशील है। आज के हिन्दी नाटकों की उपलब्धि पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मकता प्राप्त करने की दिशा में कदम

बढ़ाया है। और अब नाट्यलेखन केवल सतही सामाजिक उद्देश्यपरकता के आसपास चक्कर नहीं काटता बल्कि गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूति या स्थितियों का सन्धान करता है। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

कहानी

प्रारम्भिक युग–हिन्दी में कहानी वस्तुतः द्विवेदी-युग से प्रारम्भ होती है। भारतेन्दु-काल में और उसके पूर्व जो कहानियाँ लिखी गयीं, वे पश्चिमी ढंग की आधुनिक कहानी से काफी भिन्न हैं। वैसे तो ब्रज-भाषा की वैष्णव वार्ताओं तथा दृष्टांतों, राजस्थानी बातों 'गिलक्राइस्ट या लल्लूलाल द्वारा सम्पादित 'लतायफ' आदि की लघु कहानियों में कहानी के बहुत से तत्व हैं। राजस्थानी बातें तो कहानियाँ ही हैं, परन्तु आधुनिक कहानी से विषयवस्तु और शैली दोनों दृष्टि से पृथक है। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (1805 ई. के लगभग) भी दास्तान शैली की लम्बी कहानी ही है। वास्तविक मानव-जीवन से दूर, अतिमानव प्रसंगों से युक्त कथाकृति से हिन्दी कहानी–परम्परा का आरम्भ नहीं माना जा सकता। इसकी रचना शुद्ध हिन्दी की छटा दिखाने के लिए की गयी थी। 1860 ई. के आस-पास उस समय के शिक्षा–संचालकों की प्रेरणा से 'बुद्धिफलोदय। 'सूरजपुर की कहानी', 'धरमसिंह का वृतान्त', 'तीन देवां की कहानी' आदि शिक्षात्मक कहानियाँ लिखी गयी थीं, जो प्रायः अंगेजी या उर्दू से अनूदित हैं। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की लिखी और लिखवायी हुई 'गुलाब और चमेली का किस्सा' 'वीर सिंह वृतान्त' आदि रचनाएँ भी प्रायः अनूदित या रूपान्तरित हैं।

हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियाँ आख्यायिका शैली की हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं–पं. माधवप्रसाद मिश्र रचित 'मन की चंचलता (1900 ई. के लगभग), **किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'इन्दुमती'** (1900 ई. के लगभग), 'गुलबहार', **मास्टर भगवानदास कृत** 'प्लेग की चुड़ैल', **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** प्रणीत 'ग्यारह वर्ष का समय', **गिरिजादत्त वाजपेयी** की 'पंडित और पंडितानी' और 'पति का पवित्र प्रेम', बंगमहिला की 'दुलाई वाली' तथा 'कुम्भ में छोटी बहू', पार्वती नन्दन की 'मेरा पुनर्जन्म' और वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा लिखित 'राखीबन्द भाई'। इनमें कई कहानियाँ बंगला और अंग्रेजी की कहानियों के अनुकरण पर लिखी गई हैं। कुछ काफी लम्बी हैं और शुद्ध कहानी की श्रेणी में नहीं आती। इन कहानियों में से प्रथम द्विवेदी–युग के प्रारम्भ में 'सुदर्शन' में तथा शेष कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। **डॉ. श्रीकृष्णलाल किशोरी लाल गोस्वामी** की 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम कहानी मानते हैं। **डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल** का कहना है कि शुक्ल जी की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी ही हिन्दी की पहली कहानी है। लगभग इसी समय (1909 ई. से) प्रसाद जी की प्रेरणा से 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसमें प्रकाशित प्रसाद जी की 'ग्राम' शीर्षक कहानी हिन्दी जगत में नए युग का प्रारम्भ करती है।

भारतेन्दु युग में लेखकों का ध्यान नाटक, निबन्ध और उपन्यास की ओर अधिक था। कहानी को उन्होंने अधिक महत्व नहीं दिया। द्विवेदी युग के प्रारम्भ में भी इस ओर कम ध्यान दिया गया। अनुवाद–कार्य, भाषा के परिष्कार और गद्य के अन्य रूपों पर साहित्यकारों ने अधिक बल दिया। इन सब कारणों से प्रसाद और प्रेमचन्द से पूर्व कहानी साहित्य की रचना बहुत कम हुई। उसमें वास्तविक साधारण जीवन का यथार्थ विचित्र न उभर सका। इन्हीं दिनों संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों की कथाओं के आधार पर लम्बी आख्यायिकाएँ भी लिखी गयीं। अधिकतर कथानक-प्रधान (घटना-प्रधान), उपदेशात्मक-कल्पनात्मक, विस्मयपूर्ण, व्यंग्यविनोदमय कहानियाँ लिखी गईं। शैली की दृष्टि से प्रेमचन्द से पहले की हिन्दी कहानियाँ प्रायः तीन प्रकार की हैं–ऐतिहासिक शैली में, आत्मकथात्मक और यात्रा शैली में लिखित। द्विवेदी–युग में **पारसनाथ त्रिपाठी, बंगमहिला और गिरिजाकुमार** घोष ने बंगला की कई सुन्दर कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। आधुनिक ढंग की अंग्रेजी कहानियों का अनुवाद भी द्विवेदी–युग में प्रारम्भ हुआ।

प्रसाद-प्रेमचन्द युग–सन् 1916 ई. के आस-पास **प्रेमचन्द** और **प्रसाद** कहानी के क्षेत्र में आए। इसके बाद हिन्दी कहानी पर अंग्रेजी और बंगला कहानीकारों का प्रभाव कम होने लगा। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'इन्दु', 'हिन्दी गल्प-माला' आदि पत्रिकाओं का हिन्दी-कहानी के प्रारम्भिक विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन पत्रिकाओं में सैकड़ों मौलिक और अनूदित कहानियाँ प्रकाशित हुई, जिनमें विविध विषय और शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहानी का वास्तविक विकास **प्रेमचन्द** के समय से ही प्रारम्भ होता है। उनके समय से ही आख्यायिका के स्थान पर सच्ची कहानी का प्रारम्भ हुआ। कहानी में घटना की प्रधानता के स्थान पर पात्र और भावना की प्रधानता हुई। वास्तविक मानव-जीवन और मनोविज्ञान से उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ।

प्रसाद जी कहानी क्षेत्र में **प्रेमचन्द** से कुछ पहले आए थे। वे मूलतः कवि हैं और बाद में नाटककार। उनकी कहानियों में भी काव्यात्मकता और नाटकीयता है। उनकी कहानियों को लक्ष्य में रखते हुए उन्हें यथार्थपरक, आदर्शवादी या रोमांटिक आदर्शवादी कहा जा सकता है। प्रसाद की कहानियों के संग्रह हैं–'प्रतिध्वनि', 'आकाश–दीप', 'आंधी', 'इन्द्रजाल' तथा 'छाया'। **प्रसाद** ने अधिकतर भावनाप्रधान, कल्पनापरक कहानियाँ लिखी, जो प्रायः सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। उन्होंने चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं। नाटकीयता, अर्थ की गंभीरता, भावुकतापूर्ण वातावरण, काव्यात्मक भाषा और सांकेतिक व्यंजना उनकी कहानियों की अन्य विशेषताएँ हैं। **प्रसाद** प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रेमी थे।

प्रेमचन्द का आधुनिक काल के यथार्थवादी जीवन पर अधिक आग्रह था। वे यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' (6 भाग) तथा 'गुप्त धन' (2 भाग) में संगृहीत हैं। 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रतिमा', 'सप्तसुमन' आदि नामों से भी उनकी कहानियों के संग्रह छपे हैं। प्रेमचन्द की प्रारम्भ की कहानियों में घटना की प्रधानता और वर्णन की प्रवृत्ति है। चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। भाषा अपरिपक्व तथा व्याकरण–सम्बन्धी दोषों से युक्त है। वस्तुतः प्रेमचन्द प्रारम्भ में उर्दू के लेखक थे और वहाँ से हिन्दी में आए थे। उनकी प्रारम्भिक राष्ट्रीय कहानियाँ 'सोजे वतन' संग्रह में प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर प्रेमचन्द ने चरित्र-प्रधान, मनोविज्ञान-मूलक, वातावरण-प्रधान, ऐतिहासिक आदि कई प्रकार की कहानियाँ लिखीं और वास्तविक-जीवन तथा मानव-स्वभाव के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए। प्रेमचन्द की भाषा सरल, व्यावहारिक है और उनके संवाद स्वाभाविक तथा सजीव हैं। साधारण घटनाओं और बातों को मार्मिक बनाने में वे कुशल हैं। प्रेमचन्द नवीन जीवन-रुचि रखने वाले मानवतावादी लेखक थे। प्रारम्भ में प्रेमचन्द गांधी और ताल्स्ताय से प्रभावित रहे। बाद में वे मार्क्स और लेनिन की विचारधारा की ओर झुक गए थे।

प्रसाद-प्रेमचन्द-युग के प्रारम्भ के कहानीकारों में **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और पं. ज्वाला दत्त शर्मा** के नाम भी उल्लेखनीय हैं। **गुलेरी जी** की उसने कहा था' शीर्षक कहानी हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी में भावुक वीर तथा कर्त्तव्य-परायण लहनासिंह के पवित्र प्रेम और बलिदान का चित्रण है। सुन्दर ढंग से विकसित होने वाला, सुगठित, कुतूहलपरक नाटकीय कथानक, सजीव वातावरण, मार्मिक अन्त, संवादों तथा घटनाओं की योजना द्वारा पात्रों का स्वाभाविक चरित्र-चित्रण, पात्रानुकूल संवाद, मुहावरेदार सरल-जीवन्त भाषा और सांकेतिक अभिव्यक्ति इस कहानी की मुख्य विशेषताएँ हैं। गुलेरी ने केवल तीन कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु तीन कहानियों के बल पर वे हिन्दी के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान बना गए हैं। **सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', पांडेय बेचन शर्मा, 'उग्र', 'चतुरसेन शास्त्री', 'रायकृष्णदास', 'चण्डीप्रसाद, 'हृदयेश', 'गोविन्द वल्लभ पंत', 'वृन्दावन लाल वर्मा', 'जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', 'राधिकारमण प्रसाद सिंह', 'सियारामशरण गुप्त' और भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रेमचन्द-प्रसाद-काल** के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं।

सुदर्शन और **कौशिक प्रेमचन्द** की शैली के कहानीकार हैं। दोनों ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को अपनाकर सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और पारिवारिक कहानियाँ लिखी हैं। चरित्र-चित्रण और भाषा की दृष्टि से भी ये दोनों प्रेमचन्द के निकट हैं। सुदर्शन ने मानव-जीवन के विविध पक्षों और अनेक सामाजिक सत्यों का चित्रण किया

है। कौशिक जी ने अपनी कई कहानियों में पारिवारिक जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनकी 'ताई' नामक चरित्र प्रधान कहानी हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध है। चरित्र-परिवर्तन उनकी कहानी में स्वाभाविक रूप से होता है। संवादों द्वारा पात्रों की मनः स्थिति पर कहीं-कहीं उन्होंने अच्छा प्रकाश डाला है। सुदर्शन के कहानी-संग्रहों के नाम हैं– 'परिवर्तन', 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थयात्रा', सुदर्शन-सुमन', 'पुष्पलता', 'सुप्रभात', 'नगीना', 'फूलवती', 'पनघट'। कौशिक जी की कहानियाँ 'गल्पमन्दिर', 'चित्रशाला', 'प्रेम-प्रतिमा', 'कल्लोल' आदि शीर्षकों से प्रकाशित हुई है।

उग्र जी ('चाकलेट', 'चिनगारियां', 'इन्द्रधनुष', 'निर्लज्जा', 'दोजख की आग', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर', 'पीली इमारत', 'चित्र-विचित्र', 'यह कंचन सी काया', 'कला का पुरस्कार' आदि के लेखक) की कहानियों में समाज और राजनीति का मार्मिक अंकन हुआ है। रूढ़ियों तथा राजनीतिक एवं राष्ट्रीय दुष्प्रवृत्तियों पर उन्होंने तीव्र रोष प्रकट किया है। उसके पात्र सजीव-सबल होते हैं, संवाद प्रायः छोटे तथा स्पष्ट और भाषा वक्र होने पर भी सरल। उग्र जी ने कई तरह की कहानियाँ लिखी हैं–भावुकता तथा कल्पना से पूर्ण प्रतीकात्मक, समस्यामूलक और नाटकीय रेखाचित्र जैसी। चतुरसेन (राजकण, अक्षय आदि) ने अधिकतर सामाजिक परिस्थितियों का अंकन किया है। **राधाकृष्णदास** ('सुधांशु' आदि) भावप्रधान कहानियों के लेखक हैं। वे प्रसाद–पद्धति के कहानीकार हैं। **रायकृष्णदास** ने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। लघु प्रकृति-चित्र भी उन्होंने कहीं-कहीं दिए हैं। उनकी भाषा संस्कृतपरक और प्रांजल है। चण्डीप्रसाद **'हृदयेश'** ('नन्दन निकुंज', 'वन माला' आदि) की कहानियाँ भी लगभग इसी प्रकार की भाषा–शैली में लिखी गयी हैं : भावुकता, उच्च भावों की व्यंजना, स्वल्प कथानक और अलंकृत भाषा उनकी विशेषताएं हैं। **पं. गोविन्दवल्लभ पंत** में भी भावुकता तथा कल्पना की रंगीनी है, साथ ही यथार्थ की कटुता भी प्राप्त होती है। उनकी कहानियों में रोचकता भी काफी है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ('कलाकार का बल' आदि) मुख्यतः उपन्यासकार हैं। उनकी कहानियों में कल्पना तथा इतिहास का समन्वय होता है और सरल, स्वाभाविक भाषा–शैली होती है। प्रायः सभी कहानियाँ वर्णनपरक, बहिर्द्वन्द्वपूर्ण तथा आदर्शोन्मुख हैं। राधिकारमणप्रसाद सिंह की शैली भी काव्यात्मक तथा जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' (किसलय, मृदुदल, मधुमयी आदि) की कहानियाँ भी मार्मिक तथा करुणापूर्ण हैं। राधिकारमणप्रसाद सिंह की शैली भी काव्यात्मक तथा अलंकृत ही है। उनकी कहानियों का वातावरण प्रायः भावात्मकता तथा मार्मिकता से पूर्ण होता है। **सियारामशरण गुप्त** की कहानियों में सरल रोचक शैली में कोमल भावों की अभिव्यक्ति हुई है। **भगवती प्रसाद वाजपेयी** (पुष्करिणी, खाली बोतल, हिलोर आदि) की कहानियों में प्रायः घटनाओं की सांकेतिक व्यंजना रहती है। उन्होंने असाधारण परिस्थितियों में पड़े हुए नर–नारियों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। इस समय के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं–**विनोद शंकर व्यास, मोहनलाल महतो 'वियोगी'** तथा **शिवपूजन सहाय। सुमित्रानन्दन पंत** और **निराला जी** ने भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं।

उपर्युक्त कहानीकारों में कौशिक, सुदर्शन, वाजपेयी आदि प्रेमचन्द के आदर्शों से प्रभावित हैं और **राधिकारमण प्रसाद सिंह, रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, द्विज** आदि प्रसाद के आदर्शों से। कुछ कहानीकार अपना पृथक् व्यक्तित्व रखते हैं और उन्हें इन दोनों में से किसी वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

वर्तमान युग : तीन पीढ़ियाँ–वर्तमान समय में हिन्दी में कई पीढ़ियाँ एक साथ कहानी लिखने में लगी रही हैं। **प्रेमचन्द काल** के उत्तरार्द्ध में इस क्षेत्र में आने वाले कुछ कहानीकार हैं–जैनेन्द्र ('फांसी' 'स्पर्द्धा', 'वातायन', 'पाजेब', 'जयसंधि', 'एकरात', 'दो चिड़ियां' आदि), **यशपाल** ('वो दुनिया', 'ज्ञान दान', 'अभिशप्त', 'पिंजड़े की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'चित्र का शीर्षक', 'यशपाल : श्रेष्ठ कहानी') इलाचन्द जोशी ('रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'दिवाली और होली', 'कंटीले फूल लजीले कांटे'), **अज्ञेय** ('त्रिपथगा', 'कोठरी की बात', 'परम्परा', 'जयदोल' आदि) **भगवतीचरण वर्मा** ('दो बाँके', 'इन्स्टालमेंट आदि), **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** ('चन्द्रकला', 'वापसी', 'अमावस', 'तीन दिन')। ये कथाकार जो उस समय नयी पीढ़ी के कहानीकार माने जाते थे जब पुराने हो चुके हैं। इनके बाद कहानीकारों की दो और पीढ़ियां विकसित हो चुकी हैं। इन तीनों पीढ़ियों के कहानीकारों ने हिन्दी कहानी का विषय-वस्तु तथा शिल्प दोनों दृष्टियों से पर्याप्त विकास किया है।

जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और **अज्ञेय** ने चरित्रप्रधान मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। मार्मिक दृश्यों का चयन, एक ही दृश्य या घटना के सहारे कथानक का निर्माण करके देशकाल के संकलन का निर्वाह, असाधारण परिस्थितियों में पड़े मानवों का सूक्ष्म मनोविश्लेषण, विचारात्मकता और यत्र-तत्र वक्र-अस्पष्ट भाषा जैनेन्द्र की कहानीकला की विशेषताएं हैं। **इलाचन्द्र जोशी** की कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्यों का मार्मिक उद्घाटन है। साधारण-असाधारण दोनों प्रकार के पात्रों का चित्रण उन्होंने किया। जोशी जी का कहना है कि मनोविश्लेषण करते हुए व्यक्ति के अहं पर प्रहार करना ही मेरा लक्ष्य है। **अज्ञेय** ने मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक सत्य की व्यंजना करने वाली कहानियों के साथ समाज के मध्यम-वर्ग के दैनिक जीवन की विशेषताओं और उनकी साधारण तथा कारुणिक स्थितियों के खण्डचित्र प्रस्तुत करने वाली कहानियाँ भी लिखी हैं और राजनीतिक विद्रोह से सम्बन्धित कहानियाँ भी। इनकी कई कहानियाँ पात्रों के पिछले जीवन की अस्फुट चित्र–कल्पनाओं के रूप में हैं। कुछ अधूरापन-सा होने पर भी अज्ञेय की कहानियाँ प्रभावपूर्ण होती हैं।

यशपाल प्रगतिशील लेखक थे। जीवन के संघर्षो और विविध परिस्थितियों का उन्होंने अपने अनुभवों के आधार पर सजीव अंकन किया है। उनकी कहानियों में वर्तमान समाज की विशेषताओं पर तीव्र व्यंग्य-प्रहार है। **भगवतीचरण वर्मा** की शैली बड़ी सरस और आकर्षक है। इनकी कहानियों में पात्र कम होते हैं, परन्तु वे पूर्णतः सजीव और विश्वसनीय हैं। आप आधुनिक मानव और उसके जीवन को अच्छी तरह समझते हैं। सामाजिक तथा ऐतिहासिक–दोनों प्रकार की कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं। **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** ने दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं को लेकर प्रभावपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। उन्होंने मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुए कुछ शाश्वत सत्यों और साथ ही सामयिक सत्यों की सुन्दर व्यंजना की है। उनकी कुछ कहानियों में एक सुगठित कथानक न होकर कई सम्बद्ध कथा-खण्ड प्रस्तुत किए गये हैं, जिनके द्वारा उन्होंने किसी सत्य की व्यंजना की है। इन कहानीकारों ने चरित्रप्रध ान, प्रभाववादी, मनोविश्लेषणपरक, भावना-प्रधान, वातावरण-प्रधान, किसी शाश्वत या सामयिक सत्य की व्यंजना करने वाली कई प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। ऐतिहासिक शैली के अलावा, आत्मकथा, पत्र, डायरी आदि अनेक शैलियों का प्रयोग किया गया है।

आधुनिक काल की इस पहली पीढ़ी के कुछ बाद और दूसरी पीढ़ी के कुछ पहले आने वाले उल्लेखनीय कथाकार हैं–**उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, उषादेवी मित्रा, पहाड़ी, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, रांगेय राघव।** दूसरी पीढ़ी के उल्लेख कथाकार हैं–**फणीश्वरनाथ रेणु, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकांत, मोहन राकेश, नरेश मेहता, शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, शैलेश मटियानी, मुद्राराक्षस।** हिन्दी की बिल्कुल नई पीढ़ी के कहानीकारों में उल्लेखनीय हैं–**निर्मल वर्मा, रामकुमार, विजय चौहान, कृष्ण बलदेव वैद**। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (राजेन्द्र यादव), 'चाँद और टूटे हुए लोग' (धर्मवीर भारती), 'धरती अब भी घूम रही है' (विष्णु प्रभाकर), 'जानवर और जानवर', 'नए बादल' (मोहन राकेश), 'गीली मिट्टी' (अमृतराय), 'कुमारी' (रेणु), 'भूदान' (मार्कण्डेय), 'चाय का रंग' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'जीने की सजा' (आरिगपूडि), 'नरक का न्याय' (मोहरसिंह सेंगर), 'प्यार के बन्धन' (रावी), 'मेरी तेतीस कहानियाँ' (शैलेश मटियानी) आदि संग्रह चर्चा में रहे हैं। हिन्दी की नवीनतम कहानियों में कथा-तत्व की न्यूनता, कामकुण्ठाओं का विश्लेषण, व्यक्ति की पीड़ा, विवशता की अभिव्यक्ति, किसी मनः स्थिति का अंकन और आलोचना-प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान युग में आँचलिक कहानियाँ भी लिखी गयी हैं। भावकथाएँ, गाथाएँ और लम्बी कहानियाँ पत्रिकाओं में दिखाई देती हैं।

हिन्दी में हास्य और व्यंग्य प्रधान कहानियाँ भी लिखी गई हैं। इस प्रकार की कहानियाँ **जी. पी. श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, अन्नपूर्णानन्द, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी** आदि ने लिखी हैं। **जहूर बख्श** आदि ने बाल कहानियाँ लिखी हैं। नारी कहानीकारों में **सुभद्रा कुमारी चौहान, सत्यवती मलिक, कमला चौधरी, शिवरानी देवी, तारा पाण्डे** आदि ने अच्छा कार्य किया है।

आज के प्रयोगवादी युग में हिन्दी कहानी सभी रूपों में बढ़ रही है। कुछ कहानीकार कथानक–रहित कहानी लिखने का यत्न कर रहे हैं। कहानी बहुत अमूर्त्त (ऐबस्ट्रैक्ट) होती जा रही है। आज कहानी में प्राय: एक मन: स्थिति, क्षण–विशेष की अनुभूति, व्यंग्यचित्र या चिन्तन की झलक प्रस्तुत की जाती है। कहानी में विषय–वस्तु क्षीण, पात्र बहुत थोड़े (एक दो ही) और अस्पष्ट होते जा रहे हैं और पुराने ढंग की सरलता समाप्त होती जा रही है। नयी कविता की तरह नयी कहानी भी कहानीपन छोड़कर निबन्ध के निकट (कथात्मक निबन्ध के निकट) पहुंच रही है। भारतेन्दुकाल में जो कहानी घटना–प्रधान थी, प्रेमचन्द युग में जो चरित्र–प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक हुई, जैनेन्द्र–अज्ञेय के उत्कर्ष–काल में जो कहानी घटना–प्रधान थी, प्रेमचन्द युग में जो चरित्र–प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक हुई, जैनेन्द्र–अज्ञेय के उत्कर्ष–काल में जो मनोविश्लेषणमय तथा चिन्तनपरक बनी, वही अब कथानकपरक तो है ही नहीं, चरित्र–चित्रणपरक भी नहीं रही। विषय–वस्तु और शिल्प दोनों में वह काफी आगे बढ़ गई है। काशीनाथ सिंह, ज्ञान रंजन, सुरेश सेठ, गोविन्द मिश्र, मृदुला गर्ग, नरेन्द्र मोहन, मृणाल पाण्डेय, उदय प्रकाश, ओम प्रकाश वाल्मीकि, चित्र प्रभा मुदगल, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा आदि अनेक कथाकार हैं जिन्होंने बदलते मनुष्य, समाज, परिस्थितियों, समस्याओं को अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

हिन्दी एकांकी

आधुनिक हिन्दी साहित्य की जिन गद्यात्मक विधाओं का विकास विगत एक शताब्दी में हुआ है, उनमें एकांकी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से, हिन्दी–साहित्य में इसका उद्‌भव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में माना जाता है। यदि इसके संवादात्मक स्वरूप एवं एक नाट्य विधा के अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाय तो इसके सूत्र हमें अत्यन्त प्राचीन समय से मिलने लगते हैं।

आधुनिक एकांकी वैज्ञानिक युग की देन है। विज्ञान के फलस्वरूप मानव के समय और शक्ति की बचत हुई है। फिर भी जीवन संघर्ष में मानव की दौड़–धूप अव्याहत जारी है। जीवन की त्रस्तता और व्यस्तता के कारण आधुनिक मानव के पास इतना समय नहीं है कि वह बड़े–बड़े नाटकों, उपन्यासों, महाकाव्यों आदि का सम्पूर्णत: रसास्वादन कर सके और इसलिए गीत, कहानी, एकांकी आदि साहित्य के लघुरूपों को अपनाया जा रहा है। किन्तु एकांकी की लोकप्रियता का एकमात्र कारण समयाभाव ही नहीं है। भोलानाथ तिवारी के शब्दों में ''यह नहीं कहा जा सकता कि चूंकि हमारे पास बड़ी–बड़ी साहित्यिक रचनाओं को पढ़ने के लिए समय नहीं हैं, इसलिए हम गीत, कहानी, एकांकी आदि पढ़ते हैं। बात यह है कि हम जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं और समस्याओं आदि को क्रमबद्ध एवं समग्र रूप से भी अभिव्यक्त देखना चाहते हैं और उन अभिव्यक्तियों का स्वागत करते हैं मगर साथ ही साथ किसी एक महत्त्वपूर्ण भावना, किसी एक उद्दीप्त क्षण, किसी एक असाधारण एवं प्रभावशाली घटना या घटनांश की अभिव्यक्ति का भी स्वागत करते हैं। हम कभी अनगिन फूलों से सुसज्जित सलोनी वाटिका पसन्द करते हैं और कभी भीनी सुगन्धि देने वाली खिलने को तैयार नन्हीं सी कली। दोनों बातें हैं, दो रुचियाँ हैं, दो पृथक किन्तु समान रूप से महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं, समय के अभाव या अधिकता की इसमें कोई बात नहीं।''[1]

इस प्रकार, समयाभाव के अतिरिक्त एकांकी की लोकप्रियता के अन्य भी कई कारण हैं यथा देश में सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध हिन्दी रंगमंच के उद्धार द्वारा जीवन और साहित्य में सुरुचि का समावेश करना, रेडियो से हिन्दी एकांकियों की मांग, केन्द्रीय सरकार के शिक्षा–विभाग की ओर से आयोजित 'यूथ फेस्टीवल' में एकांकी नाटक का भी प्रतियोगिता का एक विषय होना, विश्वविद्यालयों में विशेष अवसरों पर एकांकी नाटकों का अभिनय आदि। इन सब कारणों के परिणामस्वरूप एकांकी नाटक आज एक प्रमुख साहित्यिक विधा बन गया है।

एकांकी ने नाटक से भिन्न अपना स्वतंत्र स्वरूप प्रतिष्ठित कर लिया है। एकांकी बड़े नाटक की अपेक्षा छोटा अवश्य होता है परन्तु वह उसका संक्षिप्त रूप नहीं है। बड़े नाटक में जीवन की विविधरूपता, अनेक पात्र, कथा का साँगोपांग विस्तार, चरित्र–चित्रण की विविधता, कुतूहल की अनिश्चित स्थिति, वर्णनात्मकता की

अधिकता, चरम सीमा तक विकास तथा घटना-विस्तार आदि के कारण कथानक की गति मन्द होती है जबकि एकांकी में, इसके विपरीत, जीवन की एकरूपता, कथा में अनावश्यक विस्तार की उपेक्षा, चरित्र-चित्रण की तीव्र और संक्षिप्त रूप-रेखा, कुतूहल की स्थिति, प्रारम्भ से ही व्यंजकता की अधिकता और प्रभावशीलता, चरम सीमा तक निश्चित बिन्दु में केन्द्रीयकरण तथा घटना-न्यूनता आदि के कारण कथानक की गति क्षिप्र होती है सद्गुरुशरण अवस्थी का कथन है कि 'जीवन की वास्तविकता के एक स्फुलिंग को पकड़कर एकांकीकार उसे ऐसा प्रभावपूर्ण बना देता है कि मानवता के समूचे भाव जगत् को झनझना देने की शक्ति उसमें आ जाती है।''[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-एकांकी के विकास-क्रम को निम्नलिखित प्रमुख काल-खण्डों में विभाजित किया जा सकता है–

1. भारतेन्दु-द्विवेदी युग (1875-1928)
2. प्रसाद-युग (1929-37)
3. प्रसादोत्तर-युग (1938-47)
4. स्वातंत्र्योत्तर-युग (1948 से अब तक)

वास्तव में प्रारम्भिक एकांकी-प्रयोगों में भी भटकती हुई नाटय-दृष्टि ही प्रमुखता से उभरकर सामने आई है किन्तु विकास की दृष्टि से उन्हें नकारा नहीं जा सकता।

भारतेन्दु-द्विवेदी युग (1875-1928)

जिस प्रकार भारतेन्दु हिन्दी में अनेकांकी नाटकों के लिखने वालों में प्रथम नाटककार माने जाते हैं उसी प्रकार हिन्दी में सबसे पहला एकांकी भी उन्होंने ही लिखा। यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद अवश्य है। फिर भी भारतेन्दु-प्रणीत 'प्रेमयोगिनी' (1875 ई.) से हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

आलोच्य युग में विषयगत दृष्टिकोण को सामने रखकर **सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक** एवं **सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ** उभरीं। समाज में प्रचलित प्राचीन परम्पराओं, कुप्रथाओं एवं स्वस्थ सामाजिक विकास में बाधक रीति-रिवाजों को दूर करने का प्रयास उन सामाजिक **समस्या-प्रधान रचनाओं** के माध्यम से किया गया। इन एकांकीकारों ने जहाँ सामाजिक कुरीतियों पर हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण प्रहार किये वहीं सामाजिक नवनिर्माण के लिए भी समाज को प्रेरित एवं जाग्रत किया। इन रचनाओं के पात्र भारतीय जन-जीवन के जीवित एवं सजीव पात्र हैं जिनके संवादों द्वारा भारतीय भद्र जीवन में प्रविष्ट पाखण्ड एवं व्यभिचार का भण्डाफोड़ होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु-रचित 'भारत-दुर्दशा', प्रतापनारायण मिश्र रचित 'कलि कौतुक रूपक', श्री शरण-रचित 'बाल-विवाह', किशोरीलाल गोस्वामी-रचित 'चौपट चपेट', राधाचरण गोस्वामी-रचित 'भारत में यवन लोक', 'बूढ़े मुंह मुहासे' आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है जिनमें धार्मिक पाखण्ड, सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किये गये हैं। देवकीनन्दन रचित 'कलियुगी उनेऊ', 'कलियुग विवाह', राधाकृष्णदास रचित 'दुखिनी बाला', काशीनाथ खत्री रचित 'बाल विधवा' आदि रचनाएं भारतीय नारी के त्रस्त विवाहित जीवन का यथार्थ चित्रण हैं। सामाजिक भ्रष्टाचार का चित्रण कातिक प्रसाद खत्री-रचित 'रेल का विकट खेल' में मिलता है जिसमें रेलवे विभाग में रिश्वत लेने वालों का भण्डा-फोड़ किया गया है। समाज सुधार की परम्परा के पोषक इन एकांकीकारों के प्रयास के फलस्वरूप भारतीय समाज का यथार्थ चित्रण समाज के समक्ष उपस्थित हुआ तथा इन्हीं के द्वारा जन सामान्य को नवीन एवं प्रगतिशील विचारों को ग्रहण करने की प्रेरणा भी मिली। इन्हीं के प्रयासों का परिणाम था कि भारतीय जनता समाज में प्रचलित रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति घृणाभाव से भर उठी तथा उनके उन्मूलन के लिए कृत संकल्प हो गयी।

---

1. भारतीय नाट्य-साहित्य : सं. डॉ. नगेन्द्र : पृ. 375-76

इस प्रकार भारतेन्दु युग नवचेतना और जागृति का युग था। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का उन्मेष होने से इस काल के एकांकीकारों ने **जन-जागृति के विचारों को मुखरित करने वाले** नाटक लिखे। जिनमें भारत की तत्कालीन दुर्दशा, पराधीनता पर क्षोभ, अतीत की स्मृति, राष्ट्र में आत्म गौरव की भावना का जागरण, राष्ट्रहित, आशा-निराशा का द्वन्द्व, उज्जवल भविष्य आदि का चित्रण किया गया है। इस युग में सामाजिक नवजागरण के साथ-साथ राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न भी किया गया है। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु-कृत 'भारत दुर्दशा' एवं 'भारत-जननी', राधाकृष्ण गोस्वामी-कृत 'भारत माता' और 'अमरसिंह राठौर', राधाकृष्ण दास-कृत 'महारानी पद्मावती', रामकृष्ण वर्मा-कृत 'पद्मावती' 'दीर नारी' आदि उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु-कालीन एकांकियों की **धार्मिक पौराणिक धारा** के अन्तर्गत वे एकांकी आते हैं, जिनमें धार्मिक कथानकों के आधार पर भारतीय संस्कृति का आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया है। इस क्षेत्र में भारतेन्दु जी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'धनंजय', लाला श्रीनिवासदास का 'प्रह्लाद चरित्र', बदरीनारायण प्रेमघन का 'प्रयाग राजा-गमन', राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा' और 'सती चन्द्रवली' बालकृष्ण भट्ट का 'दमयन्ती स्वयंवर', जैनेन्द्र किशोर का 'सोमावती' अथवा 'धर्मवती', कार्तिक प्रसाद का 'ऊषाहरण', 'गंगोत्तरी', 'द्रोपदी चीर हरण' और 'निस्सहाय हिन्दू', मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया का 'प्रह्लाद', खड्गबहादुर मल्ल का 'हरतालिका' आदि में धार्मिक कथानकों पर आधारित पौराणिक एकांकियों के माध्यम से सांस्कृतिक आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया।

आलोच्य युग में **हास्यव्यंग्य-प्रधान** एकांकी सर्वाधिक लिखे गए जो प्रहसन की श्रेणी में आते हैं। ये प्रहसन धार्मिक और सामाजिक दोनों प्रकार के विषयों को अपने भीतर समेटे हुए हैं। इन प्रहसनों पर पारसी रंगमंच का सर्वाधिक प्रभाव है इसलिए उच्चकोटि का हास्य एवं व्यंग्य इनमें नहीं मिलता। फिर भी सामाजिक क्षेत्र में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, वेश्यागमन, मद्यपान, विलासप्रियता आदि पर व्यंग्य किया गया है और धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक संकीर्णता और उसकी आड़ में किया पाखण्ड, पंडागिरी, कर्मकाण्ड, ज्योतिषियों की धोखेबाजी आदि पर आक्षेप किए गए हैं। इस प्रकार के एकांकियों में कमलाचरण मिश्र का 'अद्भुत नाटक', श्री जगन्नाथ का 'वर्ण व्यवस्था', माधोप्रसाद का 'वैसाखनन्दन', घनश्यामदास का 'वृद्धावस्था-विवाह', दुर्गाप्रसाद मिश्र का 'प्रभात मिलन', अम्बिकादत्त व्यास का 'गौ-संकट' और 'मन की उमंग', देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जय नरसिंह की', 'सैकड़ों में दस-दस', 'कलयुगी जनेऊ', 'कलियुगी विवाह', 'एक एक के तीन तीन', 'बैल छः टके का', 'वेश्याविलास' आदि, बालकृष्ण का 'शिक्षादान', खङगबहादुर मल्ल का 'भारत-आरत' आदि उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त रचनाओं में से कुछ का उल्लेख नाटक के अन्तर्गत भी किया जाता है। वास्तव में ये एक अंक के नाटक ही हैं। एकांकी की परम्परा में आते हुए भी इन्हें सभी दृष्टियों से पूर्ण 'एकांकी' नहीं कहा जा सकता। इनमें एकांकी के कुछ तत्त्व अवश्य ढूँढ़े जा सकते हैं।

कुल मिलाकर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि उस काल के एकांकी-साहित्य को प्रेरित करने वाली कई नाट्य शैलियाँ थीं-(क) संस्कृत की नाट्य परम्परा (ख) अंग्रेजी, बंगला, पारसी रंगमंच और (ग) लोक नाटक। आलोच्य युग के सभी एकांकीकारों ने इन्हें आत्मसात् किया। इस प्रकार इस युग में परम्परा के प्रभाव की प्रधानता रही। नए-नए प्रयोग होते रहे। इसलिए कला की सूक्ष्म दृष्टि इस काल के एकांकीकारों में भले न हों, पर वे आधुनिक एकांकियों के पूर्वगामी अवश्य हैं।

प्रसाद-युग (1929 से 1927)

हिन्दी एकांकी के विकास की दृष्टि से द्वितीय युग प्रसाद के युग से जाना जाता है। इस संदर्भ में आधुनिक एकांकी-साहित्य की प्रथम मौलिक कृति के रूप में प्रसाद के 'एक घूँट' का उल्लेख किया जा सकता है। यह रचना सन् 1929 में प्रकाशित हुई। यहीं से हम एकांकी के शिल्प में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखते हैं।

---

1. नाटक और नायक : प्रो. सद्गुरुशरण अवस्थी : पृ. 9

रसोद्रेक के लिए संगीत-व्यवस्था, संस्कृत नाट्य प्रणाली का विदूषक, स्वगत कथन आदि प्राचीन परम्पराओं के निर्वाह के साथ ही स्थल की एकता, पात्रों का मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, गतिशील कथानक, आदि आधुनिक एकांकी की सभी विशेषताएं 'एक घूंट में' मिलती है। अतः भारतेन्दु ने यदि आधुनिक एकांकी की नींव डाली है तो उसे पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय प्रसाद जी को ही है।

वास्तव में आधुनिक ढंग से हिन्दी एकांकियों का विकास प्रसाद-युग में ही हुआ क्योंकि इस युग में कुछ महत्त्वपूर्ण नवीन प्रयोग एकांकी क्षेत्र में हुए। इस युग में एकांकीकारों ने पाश्चात्य अनुकरण पर नवीन शैली में एकांकी लिखना प्रारम्भ किया तथा पाश्चात्य टेकनीक को अपनाया। स्पष्टतः इस युग में एकांकी नाटकों में पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों की प्रेरणा एवं प्रभाव विद्यमान है। पाश्चात्य नाटककारों हैनरिक, इब्सन, गाल्सवर्दी तथा बर्नार्ड शॉ आदि का प्रभाव इस युग के एकांकियों पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा तथा इससे एकांकी साहित्य को परिपक्वता की स्थिति पर पहुंचने में सहायता मिली। भारतेन्दु युग में जो एकांकी संस्कृत परिपाटी पर विरंचित हुआ था, इस युग में आकर वह नवीन रूपों में विकसित होने लगा। प्राचीनता का मोह छोड़कर नवीन ढंग के एकांकी नाटक लिखे गये जो कथानक की दृष्टि से मानव जीवन के अत्यधिक निकट थे। प्राचीन कथावस्तु में जो कृत्रिमता होती थी उसके स्थान पर सामाजिक, पारिवारिक एवं दैनिक समस्याओं को एकांकी का विषय बनाना प्रारम्भ किया गया। ये रचनाएं समाजिक यथार्थ के निकट आयीं। प्राचीन कृत्रिम प्रणाली, काव्यमय कथोपकथन, प्राचीन रंगमंच एवं अस्वाभाविकता के बहिष्कार का स्वर इस युग की रचनाओं में प्रमुखतया प्राप्त होता है। नई समस्याएँ, विचारध ारा एवं गद्यात्मक शिष्ट भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

इस युग के अधिकांश एकांकी रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखे गये जिससे उनका अभिनय हो सके और प्रेक्षक अपना ज्ञानवर्धन कर सकें। एकांकी में प्रयुक्त संवादों में सजीवता, संक्षिप्तता एवं मार्मिकता की ओर ध्यान दिया गया। प्रहसन, फेंटेसी, गीति-नाट्य, ओपेरा, संवाद या सम्भाषण, रेडियो प्ले, झांकी तथा मोनोड्रामा आदि एकांकी से नवीन रूपों का विकास इसी युग में हुआ। युगीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि का प्रभाव आलोच्य युगीन एकांकीकारों की रचनाओं पर पड़ने के कारण कतिपय प्रवृत्तियों का जन्म हुआ जिनमें सामाजिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक प्रवृत्तियां प्रमुख हैं।

प्रसाद-युग में जिन सामाजिक एकांकियों की रचना हुई उन पर युगीन सामाजिक पृष्ठभूमि का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। इस युग के अनेक एकांकीकारों ने सामाजिक जीवन की विभिन्न पक्षीय समस्याओं का चित्रण किया है तथा उसमें प्रचलित विभिन्न जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों को अपनी आलोचना का केन्द्र बनाया है। बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, जातीयता, अस्पृश्यता की समस्या, मद्यपान, जुआ तथा समाज में फैला व्यभिचार आदि समस्याएँ जिस रूप में भारतेन्दु युग में परिव्याप्त थीं वह अभी तक उसी रूप में बनी हुई थी। यद्यपि भारतेन्दु युगीन एकांकीकारों ने भी इन पर प्रहार किया था, किंतु इनका निवारण अथवा उन्मूलन सरल नहीं था क्योंकि इनकी जड़ें समाज में बहुत गहरी थीं। अतः प्रसाद युगीन एकांकीकारों ने भी विषय-रूप में इन सामाजिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में चित्रित किया।

तत्कालीन **समाज की नग्न विकृतियों का चित्रण** करने वाले अनेक एकांकियों की रचना इस युग में हुई। जीवानन्द शर्मा कृत 'बाला का विवाह' सुधारवादी दृष्टिकोण को प्रकट करता है। हरिकृष्ण शर्मा कृत 'बुढ़ऊ का ब्याह' वृद्ध अनमेल विवाह एवं दहेज समस्या पर कुठाराघात है। जी. पी. श्रीवास्तव रचित 'गड़बड़झाला' में वृद्धों की अनियंत्रित काम वासना एवं समाज के लोगों का भ्रष्टाचार चित्रित किया गया है। रामसिंह वर्मा कृत 'रेशमी रूमाल' में पतिव्रत धर्म की प्रतिष्ठा, शैक्षिक वृत्तियों एवं रोमांस की त्रुटियों का चित्रण है। प्रेमचन्द कृत 'प्रेम की देवी में' लेखक ने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन प्रबल रूप में किया है। श्री बदरीनाथ भट्ट कृत 'विवाह विज्ञापन' में आधुनिक शिक्षित वर्ग की रोमांस वृत्ति पर व्यंग्यात्मक प्रहार है। डॉ. सत्येन्द्र कृत 'बलिदान' में दहेज समस्या का चित्रण है। जी. पी. श्रीवास्तव-कृत 'भूलचूक' से विधवा विवाह समर्थन, 'अच्छा उर्फ अक्ल की मरम्मत' में शिक्षित पति एवं अशिक्षित पत्नी के मध्य उत्पन्न कटुता, 'लकड़बग्घा' में ऋण समस्या आदि पर व्यंग्य किया

गया है। इनके अतिरिक्त 'बंटाधार', 'दुमदार आदमी', 'कुर्सीमैन', 'पत्र पत्रिका सम्मेलन', 'न घर का न घाट का', 'चोर के घर मोर' आदि रचनाओं में श्रीवास्तव जी का दृष्टिकोण सुधारवादी रहा है। श्रीवास्तव जी का 'अछूतोद्धार' एकांकी अछूत समस्या पर लिखा गया है। श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश कृत 'विनाश लीला' में भारतीय नारी के जन्म से अन्त तक के सामाजिक कष्टों का चित्रण है। पं. हरिशंकर शर्मा कृत 'बिरादरी विभ्राट', 'पाखण्ड प्रदर्शन', तथा 'स्वर्ग की सीधी सड़क' सामाजिक छुआछूत तथा वर्ग वैषम्य की हानियों को चित्रित करते हैं। श्री सुदर्शन कृत 'जब आँखें खुलती हैं' में वेश्या का हृदय-परिवर्तन स्वाधीनता संग्राम के वातावरण में चित्रित किया गया है। आलोच्य युग में श्री रामनरेश त्रिपाठी कृत 'समानाधिकार', 'सीजन डल है', 'स्त्रियों की काउन्सिल', पांडेय बेचन शर्मा उग्र-कृत 'चार बेचारे', बेचारा सम्पादक', बेचारा सुधारक', श्री रामदास-कृत 'नाक में दम', 'जोरू का गुलाम', 'करेन्सी नोट', 'लबड़ धौं धौं' आदि एकांकियों को भी विशेष ख्याति प्राप्त हुई है।

भारतेन्दु युग में जिस **राजनीतिक एकांकी** की प्रवृत्ति का उदय हुआ था वह प्रसाद-युग में आकर और अधिक गतिशील हो गई। इस युग में राष्ट्रीयता का स्वर सर्वाधिक मुखरित हुआ है। राजनीतिक भावना से प्रभावित होकर एकांकीकारों ने अपनी रचनाओं से स्वतंत्रता-आन्दोलन, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश एवं घृणा तथा स्वतंत्रता की भावनाओं का स्वर मुखरित किया है। इस संदर्भ में मंगल प्रसाद विश्वकर्मा कृत 'शेरसिंह', सुदर्शन कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा', 'राजपूत की हार', तथा 'जब आंखें खुलती हैं' आदि राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत एकांकी रचनाएं हैं। श्री ब्रजलाल शास्त्री रचित 'दुर्गावती' में विद्रोह एवं स्वातंत्रय भावना की प्रधानता है। 'पन्ना धाय' में स्वामिभक्ति एवं अपूर्व बलिदान का चित्रण है। बदरीनाथ भट्ट कृत 'बापू का स्वर्ग समारोह' में राष्ट्रपिता बापू के अपूर्व त्याग एवं बलिदान युक्त चरित्र का उद्घाटन किया गया है। श्री वृन्दावन लाल वर्मा रचित 'दुरंगी' में भारतीय नारियों को देश प्रेम की भावना जाग्रत करने में रत दिखाया गया है। रामनरेश त्रिपाठी रचित 'सीजन डल है' में विदेशी बहिष्कार एवं स्वदेश की भावना का चित्रण है। सेठ गोविन्द दास के 'अपरिग्रह की पराकाष्ठा' में गांधीवाद के अपरिग्रह के सिद्धान्त का चित्रण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद युग में विभिन्न राजनीतिक दृष्टिकोणों को लेकर एकांकियों की रचना हुई। उन्होंने प्राचीन भारतीय राष्ट्रीय गौरव की स्थापना करते हुए भविष्य में उसकी प्राप्ति की ओर संकेत किया है। भारत भूमि की स्वतंत्रता राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्र भक्ति की भावधारा का भारतीय मानव के अन्त:करण में उद्रेक करना इनका उद्देश्य रहा है। चूंकि ये एकांकीकार स्वयं देशप्रेम की भावना से आपूरित थे। अत: उसके चित्रण में स्वाभाविकता एवं प्रभावोत्पादकता का प्राधान्य रहा है। इनकी रचनाओं का परिणाम यह हुआ कि पूर्व प्रसाद-युग में अंकुरित राष्ट्र-प्रेम की भावना इस युग के एकांकीकारों के विचारों की खाद प्राप्त करके भारतीय जनता के हृदय में अधिक पुष्पित एवं पुल्लवित हो उठी।

प्रसाद-युगीन एकांकीकारों ने अनेक **ऐतिहासिक एकांकियों** की रचना करके प्राचीन भारतीय गौरव एवं अतीत के स्वरूप का स्मरण भारतीय जनता को कराया। यद्यपि विदेशी सरकार का भय होने के कारण ये भावना प्रत्यक्ष रूप से प्रगट न हुई किन्तु इसमें निरन्तर विकास के चिह्न अंकित होते चले गये। जैसे-जैसे स्वतंत्रता आन्दोलनों में तीव्रता आई, त्यों-त्यों उनका स्वर एकांकियों में अधिकाधिक मुखरित होने लगा। इन एकांकीकारों ने भारतीय नारी के पतिव्रत धर्म के महान आदर्श, उनकी त्याग एवं बलिदानमयी भावना अपने राष्ट्र के हित के लिए सर्वस्व त्याग की भावना, राष्ट्रहित के लिए प्राणों की वलि चढ़ाना, कर्त्तव्यों के प्रति जागरूकता आदि सद्गुणों का चित्रण अपनी कृतियों में किया है।

मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा कृत 'शेरसिंह' में राष्ट्रीयता, स्वातंत्रय प्रेम तथा भारतीय अतीत के गौरवशाली स्वरूप की प्रतिष्ठा है। श्री आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव कृत 'नूरजहां', 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त', 'शिवाजी और भारत राजलक्ष्मी' ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। श्री ब्रजलाल शास्त्री रचित 'दुर्गावती', 'पद्मिनी', 'पन्ना', 'तारा', 'किरण देवी', आदि ऐतिहासिक आदर्शवाद से प्रभावित अतीत गौरव को स्पष्ट करने वाली रचनाएं हैं। श्री सुदर्शनकृत 'राजपूत की हार', 'प्रताप प्रतिज्ञा', आदि में राजपूती शौर्य, राजपूती स्त्रियों का स्वदेश हित हेतु कर्त्तव्य का पालन एवं देश प्रेम की भावना का प्रभावपूर्ण वर्णन हुआ है। सेठ गोविन्ददास ने तो बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक एकांकियों की रचना

की है, जिनमें 'बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन'? 'बुद्ध की एक शिष्या', 'सहित या रहित', 'अपरिग्रह की पराकाष्ठा', 'चैतन्य का संन्यास', 'सूखे संतरे' आदि ऐतिहासिक धारा के अन्तर्गत आते हैं। इनमें प्राचीन भारतीय गौरव एवं संस्कृति की प्रतिष्ठा, आचार-विचार का प्रतिपादन सेठ जी का प्रमुख उद्देश्य रहा है। गोविन्द वल्लभ पंत के 'विष कन्या', 'भस्म रेखा', 'एकाग्रता की परीक्षा' आदि ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित हैं। इस प्रकार प्रसाद युग में अनेक ऐतिहासिक एकांकियों की रचना हुई जिनके माध्यम से भारत के अतीतमय गौरव एवं संस्कृति पर दृष्टिपात किया गया।

प्रसाद-युगीन कुछ एकांकीकारों ने **धार्मिक पौराणिक** क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। प्रसाद-युग के धार्मिक एकांकी अपने पूर्व युग में विरचित एकांकी नाटकों से भिन्न थे। भारतेन्दु-युग में इनका विषय प्रधान रूप से राम तथा कृष्ण की कथाओं से ही सम्बद्ध रहा। प्रसाद युग में अन्य पौराणिक कथाओं को भी महत्त्व दिया गया क्योंकि सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति का प्राधान्य होने के कारण धार्मिक एकांकियों से जनता सन्तुष्ट नहीं होती थी। जनता की धार्मिक अश्रद्धा का कारण धार्मिक भ्रष्टाचारों का प्रधान्य एवं वास्तविक धर्म के स्वरूप का लोप होना था। अत: वह धार्मिक क्षेत्र में सुधार परमावश्यक समझती थी। अत: कुछ धार्मिक कथाओं को आधार रूप में ग्रहण कर भारत के प्राचीन धार्मिक आदर्शों को प्रस्तुत करना इस युग के कलाकारों को युक्ति संगत प्रतीत हुआ। ध ार्मिक पौराणिक एकांकी धारा को प्रवाहित करने में राधेश्याम कथावाचक कृत 'कृष्ण-सुदामा', 'शान्ति के दूत भगवान', 'सेवक के रूप में भगवान कृष्ण', जयदेव शर्मा रचित 'न्याय और अन्याय', जयशंकर प्रसाद कृत 'सज्जन' और 'करुणालय' आनन्दी प्रसाद-कृत 'पार्वती और सीता', चतुरसेन शास्त्री कृत 'सीताराम', 'राधा-कृष्ण', 'हरिश्चन्द्र शैव्या', आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार प्रसाद-युग में कुछ एकांकीकारों ने धार्मिक पौराणिक एकांकी की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

भारतेन्दु-युग में जिस **हास्य-व्यंग्य-प्रधान धारा** को सामाजिक सुधार-हेतु माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया था उसका निर्वाह प्रसाद-युग में भी दृष्टिगोचर होता है। इन एकांकीकारों ने समाज में प्रचलित अनेक जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों, कुप्रथाओं एवं परम्पराओं पर व्यंग्य किये हैं। उनका लक्ष्य सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सुधार ही अधिक रहा है। श्री बद्रीनाथ भट्ट रचित 'चुंगी की उम्मेदवारी' में चुनाव की प्रणाली पर व्यंग्य किया गया है। श्री जी. पी. श्रीवास्तव रचित 'दुमदार आदमी', 'पत्र-पत्रिका सम्मेलन', 'अच्छा उर्फ अक्ल की मरम्मत', 'न घर का न घाट का', 'गड़बड़झाला', 'लकड़बग्घा', 'घर का मनेजर' आदि हास्य व्यंग्य प्रधान एकांकी हैं जिनमें विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों व रूढ़ियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार किये गये हैं। इन रचनाओं में लेखक ने दहेज समस्या, विवाह समस्या तथा सामाजिक विरूपताओं एवं मिथ्या प्रदर्शन की भावना पर सुन्दर व्यंग्य किया है। इसी सन्दर्भ में द्वारिकाप्रसाद गुप्त रचित 'बशर्ते कि' बद्रीनाथ रचित 'लबड़ धौं-धौं', 'पुराने हकीम का नया नौकर', 'मिस अमेरिकन', 'रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छना' आदि हास्य व्यंग्य प्रधान रचनाएं हैं जिनमें मध्यम तथा अल्प शिक्षित वर्ग की समस्याओं का चित्रण किया गया है। भट्ट जी का यह हास्य शिष्ट एवं सुरुचिपूर्ण बन पड़ा है। श्री रामचन्द्र रघुनाथ रचित 'पाठशाला का एक दृश्य', 'सभी हा : हा :', 'मदद मदद', 'यमराज का क्रोध', रूप नारायण पांडेय रचित 'समालोचना रहस्य', गरीबदास कृत 'मियाँ की जूती मियां के सिर', मुकन्दीलाल श्रीवास्तव कृत 'घर का सुख कहीं नहीं है', श्री गोविन्द वल्लभ पंत रचित '140 डिग्री.', 'काला जादू', पांडेय बेचन शर्मा उग्र कृत 'चार बेचारे', 'बेचारा अध्यापक', 'बेचारा सुधारक', सेठ गोविन्ददास कृत 'हंगर स्ट्राइक', 'उठाओ खाओ खाना अथवा बफेडिनर', 'वह मेरा क्यों?' आदि रचनाएं इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसाद-युग में भी विभिन्न एकांकीकारों ने विविध क्षेत्रीय समस्याओं एवं परिस्थितियों के उद्घाटन हेतु हास्य व्यंग्य को महत्व दिया तथा उसका सफलतापूर्वक प्रयोग भी किया।

प्रसाद-युग के उपर्युक्त प्रतिभाशाली एकांकीकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक एकांकीकार भी हुए जिन्होंने एकांकी के क्षेत्र में अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। अनेक एकांकीकारों ने अन्य भाषाओं में लिखित एकांकियों का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया। यद्यपि इस युग में आधुनिक युग की अपेक्षा विकास नगण्य कहा जाता है

किन्तु इसमें संदेह नहीं कि प्रसाद-युग में आकर नाट्यकला विषयक मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस युग ने आगामी एकांकीकारों को एक पुष्ट आधारभूमि प्रदान की जिसमें आध ुनिक एकांकी साहित्य और भी स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ।

प्रसादोत्तर-युग (सन् 1938-47)

प्रसादोत्तर-युग हिन्दी एकांकी के विकास की तीसरी अवस्था है जिसका समय सन् 1938 से 1947 ई. (स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व) तक रहा। इसके भी हम दो उप-सोपान मान सकते हैं-(1) 1938 ई. से 1940 ई. तक और (2) 1941 ई. से 1947 ई. तक। प्रथम सोपान अर्थात् इस काल के प्रारम्भिक समय में हिन्दी एकांकी में अपने समय की विभिन्न समस्याओं एवं परिस्थितियों पर तर्क-वितर्क मिलता है। तभी कुछ विचित्र एवं क्रांतिकारी परिस्थितियों ने विषय, शैली, और दृष्टिकोण को भी नया मोड़ दिया। हिन्दी के अनेक एकांकीकार इस समय पाश्चात्य नाट्य शैलियों एवं विकसित प्रवृत्तियों से प्रभावित हो उनका अनुकरण कर रहे थे। इब्सन, विल्यिम आर्चर, बर्नार्ड शॉ आदि ख्याति प्राप्त पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव हिन्दी एकांकीकारों पर पड़ ही रहा था। अतः इस युग के एकांकीकारों ने परम्परागत एकांकी-तत्त्वों का निर्वाह करने के साथ-साथ अभिनव शिल्प-रूपों को भी स्थान दिया तथा विषय की दृष्टि से एकांकी को मात्र मनोरंजन की वस्तु न बनाकर उसमें मानव जीवन की सामयिक समस्याओं एवं विरूपताओं का चित्रण प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् इस समय हिन्दी एकांकी आदर्शवाद के एकांगी घेरे से निकल कर यथार्थवाद की ओर बढ़ा। सन् 1940 से 1947 तक का समय भारत के लिए आपत्तियों का समय था। युद्ध की विभीषिकाएं, बंगाल का अकाल, आजादी की हुंकार, विदेशी शासकों के लोमहर्षक अत्याचार, चोर बाजारी आदि इन्हीं सात वर्षों के भीतर की ही बातें हैं। इन सबने हमारे चिन्तन और हमारी कला को प्रभावित किया। एकांकी भी इनसे अछूता नहीं रह सका। कृत्रिमता की बजाय स्वाभाविक और सहज जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाले एकांकी की रचना प्रारम्भ हुई। इन एकांकियों में नाटकीय अभिनय के स्थान पर सरल अभिनयात्मक संकेत दिये जाने लगे। इसमें परम्परागत रंगमंच-विधान सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया और उससे सहजता, सरलता, स्वाभाविकता एवं यथार्थ के दर्शन होने लगे। शिल्प विधान के अनावश्यक आडम्बर बन्धन से इस युग का एकांकी साहित्य मुक्त हो गया। संकलन त्रय को वस्तुतः इसी समय एकांकी का अनिवार्य अंग माना जाने लगा। अब एकांकी केवल साहित्यिक विधा ही न रह गयी अपितु इस युग में रंगमंच की स्थापना के साथ उसके स्वरूप में भी अन्तर परिलक्षित हुआ। इस समय तक 'हंस' तथा 'विश्वमित्र' आदि पत्रिकाओं में एकांकी नाटक एकांकी के नाम से प्रकाशित होने प्रारम्भ हो गये तथा इनकी प्रारम्भिक भूमिकाओं में एकांकी के शिल्प आदि पर विचार प्रस्तुत किये जाने लगे। जिस प्रकार भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग में हिन्दी एकांकी की विविध प्रवृत्तियाँ उभरी थीं उसी प्रकार प्रसादोत्तर युग में भी हिन्दी एकांकी की विविध प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं। वास्तव में प्रस्तुत युग में भी पूर्वयुगीन प्रवृत्तियों को ही आधार बनाकर एकांकियों की रचना हुई किन्तु उनको आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवादी आधारभूमि पर निर्मित किया गया।

प्रसादोत्तर युग में यद्यपि एकांकी की अनेक प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला है तथापि सामाजिक एकांकी की प्रवृत्ति पर लगभग सभी युगीन एकांकीकारों ने अपनी लेखनी चलाई। प्रस्तुत युग के प्रमुख एकांकीकार डा. रामकुमार वर्मा ने तो अनेक सामाजिक समस्या प्रधान एकांकियों की रचना करके हिन्दी एकांकी साहित्य को बहुमूल्य ध रोहर प्रदान की है। इन्होंने जीवन की वास्तविकता को अपने एकांकियों का आधार बनाया। इस दृष्टि से इनके 'एक तोले अफीम की कीमत', 'अठारह जुलाई की शाम', 'दस मिनट', 'स्वर्ग का कमरा', 'जवानी की डिब्बी', 'आंखों का आकाश', 'रंगीन स्वप्न', आदि एकांकी सामाजिक एकांकी की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्मा जी के समान **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** का ध्यान भी विविध वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं की ओर गया। इनकी एकांकी रचनाओं में-'चरवाहे', 'चिलमन', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पहेली', 'सूखी डाली', 'अन्धी गली', 'तूफान से पहले', आदि सामाजिक दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें लेखक ने युगीन सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, विरूपताओं विकृतियों, एवं अज्ञानताओं का बड़ा ही प्रभावोत्पादक किन्तु व्यंग्यात्मक

चित्र उपस्थित किया है। युगीन एकांकीकार **भुवनेश्वर**-रचित 'श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना', 'स्ट्राइक', 'एक साम्यहीन साम्यवादी' तथा 'प्रतिमा का विवाह' आदि प्रसिद्ध हैं। इसमें सामाजिक बाह्याडम्बर, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, यौन विषयक समस्याओं एवं प्राचीन अप्रगतिशील मान्यताओं का चित्रण किया गया है जो मानव जीवन के विकास पथ को अवरुद्ध किए हैं। **श्री जगदीश चंद्र माथुर** का दृष्टिकोण भी सामाजिक जीवन की समस्याओं के प्रति स्वस्थ एवं उदार रहा है। वे उन एकांकियों को सफल नहीं मानते जो समाज से निरपेक्ष होकर मात्र साहित्यिक विधा बनकर रह जाते हैं। उन्होंने 'ओ मेरे सपने' के पूर्व निवेदन में लिखा है कि 'कौन ऐसा लेखक होगा कि जिसकी कलम पर सामाजिक समस्याएँ सवार न होती हों अनजाने ही या डंके की चोट के साथ ?' इस विचार के अनुसार उनके 'मेरी बाँसुरी', 'खिड़की की राह', 'कबूतर खाना', 'भोर का तारा', 'खंडहर', आदि एकांकी उल्लेखनीय हैं। इनमें सामाजिक बन्धनों के प्रति तीव्र विद्रोही भावना व्यक्त हुई है। **श्री शम्भुदयाल सक्सेना** रचित 'कन्यादान', 'नेहरू के बाद', 'मुर्दो का व्यापार', 'नया समाज', 'नया हल नया खेत', 'सगाई', 'मृत्युदान' आदि एकांकी सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। सक्सेना जी पर गाँधीवादी जीवन का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में सादा जीवन का महत्त्व, मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा, नैतिक उन्नयन के प्रति आग्रह, बाह्याडम्बर के प्रति घृणा एवं कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता के दर्शन होते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी ने 'बादलों के पार', 'वाणी मन्दिर', 'सेवा मन्दिर', 'घर या होटल', 'निष्ठुर न्याय' आदि एकांकी रचनाओं में विविध सामाजिक समस्याओं का अंकन किया है जिनमें विधवा समस्या, 'नारी की आधुनिकता', वर्ग वैषम्य, जातीय बन्धन की संकीर्णता, प्राचीन परम्पराओं एवं मान्यताओं की अर्थहीनता, पुरुष की वासना लोलुपता एवं दुश्चरित्रता आदि का चित्रण प्रमुख रूप के किया है। **भगवतीचरण वर्मा** कृत 'मैं और केवल मैं', 'चौपाल में' तथा 'बुझता दीपक', में पीड़ित मानव की अन्तर्वेदना का करुण स्वर उभर कर सामने आया है। **श्री रामवृक्ष बेनीपुरी** रचित 'नया समाज', 'अमर ज्योति', तथा 'गाँव का देवता' आदि रचनाएं सामाजिक समस्या प्रधान हैं। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों को उपयुक्त एवं उचित तर्कों की कसौटी पर कसकर उनको समाज के लिए उपयोगी सिद्ध किया जिनमें बुद्धि, तर्क एवं विवेक का प्राधान्य है। इस दृष्टि से 'हाँ में नहीं का रहस्य', 'खद्दर', 'वे दोनों' आदि विशेष महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** रचित 'प्यास' तथा 'दीनू', **श्री यज्ञदत्त शर्मा** कृत 'छोटी-बात', 'साथ', 'दुविधा', **एस. सी. खत्री रचित,** 'बन्दर की खोपड़ी', 'प्यारे सपने', **श्री सज्जाद जहीर** रचित 'बीमार' आदि रचनाओं में सामाजिक जीवन के सत्य को उभारते हुए और उनका सर्वपक्षीय चित्रण किया गया है।

प्रसादोत्तर युग राजनीतिक क्रांति का युग था। गाँधी जी का प्रभाव राजनीतिक जीवन में विशेष रूप से पड़ रहा था। दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र भी राजनीतिक क्रांति को कुचलने के लिए तीव्र गति से चल रहा था। एकांकीकारों ने तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं एवं गतिविधियों का चित्रण करना तथा देशवासियों में देशप्रेम एवं स्वतंत्रता की भावना को प्रबल करना अपना महान कर्त्तव्य समझा। **श्री भगवती चरण वर्मा** ने 'बुझता दीपक' में राजनीतिक दृष्टि से कांग्रेस के उच्च पदाधिकारियों अथवा नेताओं के खोखलेपन पर भी व्यंग्यात्मक प्रहार किया है। **श्री हरिकृष्ण प्रेमी** ने अपनी राजनीतिक रचनाओं में राष्ट्र के नवनिर्माण, देशभक्तों भारतीय नेताओं एवं जनता के स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु किये जाने वाले कार्यों, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता, दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए कृत संकल्प देशभक्तों की चारित्रिक महानता आदि को चित्रित किया है। इस दृष्टि से इनकी 'राष्ट्र मन्दिर', 'मातृ-मन्दिर', 'मान-मन्दिर' तथा 'न्याय मन्दिर आदि उल्लेखनीय रचनाएं हैं। **श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र** रचित 'देश के शत्रु' शीर्षक एकांकी में उन स्वार्थलोलुप व्यक्तियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है जो अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को भुलाकर देशद्रोही बन बैठे हैं। **जगदीश चंद्र माथुर** रचित 'भोर का तारा' शीर्षक एकांकी में देशभक्त कवि के महान बलिदान की कहानी है। **डा. सुधीन्द्र** रचित 'खून की होली', 'नया वर्ष', 'नया संदेश', 'राखी', 'संग्राम' आदि तथा **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** रचित 'कासमोपोलिटन क्लबों' आदि रचनाएँ राजनीतिक भावना से ओतप्रोत हैं। इस प्रकार युगीन एकांकीकारों ने राजनीतिक भावना से प्रभावित होकर राष्ट्रीयता का स्वर अपनी रचनाओं में प्रस्फुटित किया है।

आलोच्य युग में कुछ देशद्रोही वैयक्तिक स्वार्थों के कारण ब्रिटिश शासकों का साथ दे रहे थे। ऐसे देश-द्रोहियों को देशभक्ति की शिक्षा देने की दृष्टि से एकांकीकारों ने ऐतिहासिक पात्रों के आदर्श एवं त्यागमय चरित्र को प्रस्तुत करके प्राचीन भारतीय गौरव की ओर ध्यान भी आकर्षित करवाया। डॉ. वर्मा के ऐतिहासिक एकांकियों में 'चारुमित्रा', 'पृथ्वीराज की आँखें', 'दीपदान', 'रात का रहस्य', 'प्रतिशोध', 'राज श्री', आदि प्रमुख हैं। जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कलिंग विजय', तथा 'शारदीया', शीर्षक एकांकियों की रचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर की है तथा भारतीय सांस्कृतिक वातावरण का प्रभावोत्पादक स्वरूप चित्रित किया है। राष्ट्रीय ऐतिहासिक भावना पर 'सिकन्दर', 'जेरुसलम' आदि एकांकियों की रचना करके भुवनेश्वर प्रसाद ने अपने देश प्रेम का परिचय दिया है।

हरिकृष्ण प्रेमी रचित 'मान मन्दिर', 'न्याय मन्दिर', 'मातृ भूमि का मान', 'प्रेम अन्धा है', 'रूपशिखा' आदि राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत ऐतिहासिक रचनाएं हैं। **श्री यज्ञदत्त शर्मा** रचित 'प्रतिशोध' तथा 'हेलन' में भारत के गौरवमय अतीत की झाँकी प्रस्तुत की गई है। **डा. सत्येन्द्र** रचित 'कुणाल', 'प्रायश्चित, 'विक्रम का आत्ममेघ' में प्राचीन कथानक लेकर स्वस्थ तथा तार्किक विचारधारा का प्रतिपादित किया गया है। भारतीय सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा, अतीत कालीन भारतीय गौरव की महत्ता तथा नागरिकों के चारित्रिक बल की अभिवृद्धि करने वाले आदर्श पात्रों की सृष्टि करके लेखक ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में सहयोग प्रदान किया है। **गिरिजाकुमार माथुर** रचित 'विषपान', 'कमल और रोटी', 'वासवदत्ता' आदि में देशभक्तिपूर्ण आत्म वलिदान तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु किये गये शौर्यपूर्ण कार्यों का चित्रण है। **श्री रामवृक्ष बेनीपुरी** रचित 'संघमित्रा', 'सिंहल विजय', 'नेत्रदान', 'तथागत', आदि इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं पर आधारित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसादोत्तर युग में अनेक एकांकीकारों ने बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर एकांकियों की रचना करके प्राचीन भारतीय गौरव को वर्तमान के समक्ष रखा है।

धर्म-प्रधान देश के नागरिक होने के कारण भारतीय हिन्दी एकांकीकारों ने अपने एकांकियों की रचना धार्मिक आधार पर करने की प्रवृत्ति इस युग में भी नहीं छोड़ी। **श्री शम्भुदयाल सक्सेना** ने विशेष रूप से धार्मिक पौराणिक प्रसंगों पर आधारित एकांकियों की रचना की है। इन्होंने प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा करने की दृष्टि से उन गौरवशाली चित्रों को उपस्थित किया जिन्होंने भारतीय हिन्दू संस्कृति की मर्यादा को बनाये रखा। इनके द्वारा रचित 'सीताहरण', 'शिला का उद्धार', 'उतराई', 'सोने की मूर्ति', 'विदा', 'वनपथ', 'तापसी', 'पंजवटी' आदि एकांकी प्रमुख हैं। लगभग सभी एकांकियों में हिन्दू संस्कृति की महत्ता भारतीय आर्य सभ्यता के उच्चादर्शों, बौद्ध धर्म की भव्यता तथा भारतीय नैतिक दृष्टिकोण की श्रेष्ठता के स्वरूप का चित्रण किया गया है। **डा. रामकुमार वर्मा** ने 'अन्धकार' तथा 'राजरानी सीता', शीर्षक एकांकियों में पाप, पुण्य, प्रेम तथा वासना संबंधी प्रश्नों को उठाते हुए यह चित्रित किया है कि प्रेम के बिना वासना असम्भव है। **लक्ष्मीनारायण मिश्र** रचित 'अशोक वन', शीर्षक एकांकी में लेखक ने सीता के आदर्श चरित्र की विशेषताओं, पतिव्रत, चारित्रिक बल, तार्किक बुद्धि तथा सात्विक प्रवृत्ति की आकर्षक झांकी प्रस्तुत करके नीति एवं मर्यादा पर विशेष बल दिया है।

प्रो. सद्गुरुशरण अवस्थी रचित 'कैकेयी', 'सुदामा', 'प्रह्लाद', 'शम्बूक', 'त्रिशंकु' आदि एकांकियों में प्राचीन पौराणिक एवं धार्मिक पात्रों को मौलिक ढंग से नवीन तर्क, विचार, आदर्श एवं नैतिक तत्वों सहित प्रस्तुत किया है। तथा इन पात्रों के माध्यम से प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का गौरव गुणगान किया है। अवस्थी जी ने अतीत की व्याख्या आधुनिक तथा नवीन दृष्टिकोण से की है।

आलोच्य युग में अनेक एकांकीकारों ने अनेक हास्य व्यंग्य प्रधान एकांकियों की रचना करके विभिन्न समसामयिक समस्याओं की अभिव्यक्ति एवं समाधान प्रस्तुत किया है। इन एकांकीकारों ने उन विभिन्न समस्याओं पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है। जो सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक जीवन के लिए अभिशाप बनी हुई थीं। **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** ने विशेष रूप से इस श्रेणी के एकांकियों की रचना की। इनकी 'कइसा साब काइसी बीबी', 'जोंक', 'पक्का गाना', 'घपले' आदि रचनाएँ हास्य व्यंग्य प्रधान हैं। **भगवती चरण वर्मा** रचित 'दो कलाकार' तथा 'सबसे बड़ा आदमी', में हास्यमय वातावरण की सृष्टि करते हुए व्यंग्यात्मक प्रहार किये गये हैं। **गिरिजाकुमार**

माथुर 'बरात चढ़े', 'मध्यस्थ', 'पिकनिक', **श्री पृथ्वीनाथ शर्मा** रचित 'मुक्ति' तथा **डा. रामकुमार वर्मा** रचित 'रूप की बीमारी' आदि रचनाएं हास्य व्यंग्य प्रधान हैं।

मनोवैज्ञानिक एकांकी की प्रवृत्ति का जन्म भी प्रसादोत्तर युग में हुआ। पाश्चात्य एकांकीकारों के प्रभावस्वरूप हिन्दी एकांकीकारों ने भी पात्रों के मन की गहराइयों में पहुंचकर उनके मनोभावों के चित्रण को परमावश्यक समझा। **जगदीशचन्द्र माथुर** रचित 'मकड़ी का जाला' शीर्षक एकांकी में अतीत की घटनाओं को स्वप्न के माध्यम से चित्रित करते हुए अवचेतन मन की ग्रंथियों का अत्यन्त कलात्मक ढंग से चित्रण किया है **'भुवनेश्वर प्रसाद'** रचित 'ऊसर', 'प्रतिमा का विवाह' तथा 'लाटरी' आदि मनोविश्लेषण प्रधान मनोवैज्ञानिक रचनाएं हैं। इन रचनाओं पर फ्रायड के मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव है। **श्री शम्भुदयाल सक्सेना** रचित 'जीवन धारणी', 'नन्दरानी', 'पंचवटी' आदि, **गिरिजाकुमार माथुर** रचित 'अपराधी', **श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** रचित 'छटा बेटा', 'भंवर', 'अंधी गली', 'मेमना', 'सूखी डाली' आदि मनोवैज्ञानिक रचनाएं हैं। इन एकांकियों में मन की अतृप्त इच्छाओं, महत्वकांक्षाओं तथा मन की दलित अनुभूतियों का सजीव चित्रण किया गया है।

इस प्रकार, प्रसादोत्तर युग में पहुंचकर, हर दृष्टि से एकांकी साहित्य का एक स्वतंत्र अस्तित्व परिलक्षित होता है। अनेक पाश्चात्य नाटककारों जैसे इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी, चेखव आदि एकांकीकारों की रचनाओं का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ हो गया था। इन अंग्रेजी एकांकियों के हिन्दी अनुवादों की माँग रेडियो के क्षेत्र में अधिक थी। प्रो. अमरनाथ गुप्त ने ए. ए. मिलन के एकांकी का हिन्दी अनुवाद किया। कामेश्वर भार्गव द्वारा 'पुजारी' शीर्षक हिन्दी अनुवाद प्राप्त हुआ जो 'विशप्स कैन्डिलस्टिक्स' का हिन्दी अनुवाद है। इसके अतिरिक्त हैराल्ड ब्रिगहाउस की रचनाओं के भी हिन्दी अनुवाद हुए। इस प्रकार आलोच्य युगीन एकांकीकारों ने विभिन्न नवीन प्रयोगों के द्वारा हिन्दी एकांकी साहित्य को समृद्धिशाली बनाया गया।

स्वातंत्र्योत्तर युग (1947 से अब तक)

हिन्दी एकांकी के विकास की चौथी अवस्था स्वतंत्रता के पश्चात् प्रारम्भ होती है, जिसे स्वातंत्रयोत्तर युग के नाम से जाना जाता है। इस अवस्था में हिन्दी एकांकियों पर रेडियो का प्रभाव बड़ी गहराई से पड़ा है। रेडियो नाटकों के रूप में नाटकों का नवीन रूप हमारे समक्ष आया। रेडियो माध्यम होने के कारण श्रोतागण इसमें रुचि लेने लगे। इसलिए रेडियो एकांकियों की मांग इस युग में अधिक रही। **डॉ. दशरथ ओझा** ने लिखा है कि 'हिन्दी के जितने-नाटक आज रेडियो स्टेशनों पर अभिनीत होते हैं उतने सिनेमा की प्रयोगशालाओं में भी नहीं होते होंगे। अतः नाट्यकला का भविष्य रेडियो-रूपक के रचयिताओं के हाथ में है।'[1] स्वातंत्र्योत्तर युगीन हिन्दी एकांकी का स्वरूप विविधता लिए हुए हैं। इनमें एक ओर परम्परागत शैली में राष्ट्रीय भावना प्रधान एकांकी लिखे गये तो दूसरी ओर ध्वनि नाट्य तथा गीति नाट्य का भी विकास हुआ। इस युग के एकांकीकारों ने सामाजिक, राजनीतिक, मानवतावादी तथा यथार्थवादी विचारधाराओं से प्रभावित होकर एकांकियों की रचना की। इन एकांकीकारों का दृष्टिकोण प्रगतिशील तत्त्वों से प्रभावित रहा। जिससे इनकी रचनाओं में पूँजीवाद विरोध, वर्ग संघर्ष, सड़ी-गली रूढ़ियों के प्रति अनास्था, मानव अन्तर्मन की सूक्ष्म भावनाओं का विश्लेषण, भ्रष्टाचार उन्मूलन, कृषक एवं मजदूर की दयनीय स्थिति तथा ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष आदि विचार व्यक्त हुए।

इस क्षेत्र में विनोद रस्तोगी रचित 'बहू की विदा', कणाद ऋषि भटनागर रचित 'नया रास्ता', तथा 'अपना घर' दहेज की कुप्रथा का पर्दाफाश करते हैं। **विनोद रस्तोगी, जयनाथ नलिन, लक्ष्मीनारायण लाल, राजाराम शास्त्री, कैलाश देव, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, रेवतीसरण शर्मा, श्री चिरंजीत, भारत भूषण अग्रवाल, कृष्ण किशोर, करतार सिंह दुग्गल, स्वरूप कुमार बख्शी, गोविंद लाल माथुर आदि** ने समाज में परिव्याप्त विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों एवं विकृतियों के चित्र खींचे हैं। इस युग के एकांकीकारों का यथार्थपरक दृष्टिकोण एवं मानवीय मूल्यों के प्रति विशेष आग्रह रहा है। विष्णु प्रभाकर के 'बन्धन मुक्त' में अछूतोद्धार, 'पाप' में अविवाहित युवती का अनुचित पैगाम, 'साहस' में निर्धनता और वेश्यावृत्ति, 'प्रतिशोध' तथा 'इंसान' में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों से उत्पन्न साम्प्रदायिकता की समस्या, 'वीर पूजा' में शरणार्थी समस्या, 'किरण और कुहासा' में अन्तर्जातीय-विवाह

की सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया गया है। विष्णु प्रभाकर पर गाँधीवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इनके 'स्वतंत्रता का अर्थ', 'काम', सर्वोदय, 'समाज सेवा', 'नया काश्मीर' आदि एकांकियों में गांधीवादी सामाजिक एवं आर्थिक विचारधाराओं की अभिव्यक्ति हुई है। चिरंजीत के एकांकी यथार्थ एवं कल्पना का सम्मिलित रूप प्रकट करते हैं। सामाजिक एकांकियों में इनका यथार्थवादी आलोचनात्मक एवं व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण रहा है। कणाद ऋषि भटनागर कृत 'नया रास्ता' तथा 'लांछन' में नारी स्वातंत्र्य एवं समानाधिकार का स्वर मुखरित हुआ है। देवीलाल सामर कृत 'परित्यक्त', देवराज दिनेश कृत 'समस्या सुलझ गई', विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर एकांकीकारों ने अपनी रचनाओं में उन विविध सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है जो सहज ही मानव संवेदनाओं का संस्पर्श करती हैं।

आलोच्य युग में हिन्दी एकांकी में राजनीतिक जीवन, स्वाधीनता संघर्ष, बंगाल का अकाल, भुखमरी, फासीवाद का विरोध, जागीरदारी और देशी नरेशों का जीवन तथा अन्य अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं प्रकट हुई हैं। गाँधी जी द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु चलाये गये विभिन्न आन्दोलनों एवं क्रिया-कलापों का चित्रण भी इन एकांकियों में मिलता है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् हिन्दी एकांकीकारों की लेखनी निर्बाध रूप से निर्भय होकर चल पड़ी। अतः उन्होंने अपनी लेखनी से ब्रिटिश प्रशासकों के काले कारनामों का भी भण्डाफोड़ उन्मुक्त रूप से किया तथा देशद्रोहियों की वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु ब्रिटिश सरकार के प्रति चाटुकारिता की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए उनकी कटु आलोचना भी की है। **जयनाथ नलिन** की राष्ट्रीय रचनाओं में सृजनात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। देश की स्वतंत्रता, इसके लिए किया गया बलिदान, त्याग, सतत उद्योग एवं कर्म की आवश्यकता के महत्त्व का प्रतिपादन इनकी रचनाओं में हुआ है। इनके 'विद्रोही की गिरफ्तारी', 'देश की मिट्टी', 'युग के बाद', 'लाल दिन' आदि राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण एकांकी हैं। **विष्णु प्रभाकर** ने जो राजनीतिक भावना से परिपूर्ण एकांकी लिखे उनमें राजनीतिक उथल-पुथल, समाज पर राजनीतिक प्रभाव, स्वतंत्रता आन्दोलन तथा राजनीतिक गौरव का चित्रांकन किया है। इस श्रेणी के प्रमुख एकांकी–'क्रांति', 'कांग्रेस मैन बनो', 'हमारा स्वाधीनता संग्राम' आदि हैं। 'हमारा स्वाधीनता संग्राम', संयम, स्वतंत्रता का अर्थ, काम, सर्वोदय आदि गांधीवादी भावना से प्रभावित रचनाएं हैं। राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य एवं जागरूकता का चित्रण **प्रेमराज शर्मा** कृत 'गाँधी की आंधी'। देवीलाल सागर ने 'बहादुर शाह', 'वाजिद अली शाह', तथा 'शेरशाह सूरी' में **परिपूर्णानन्द वर्मा** ने राष्ट्रीय एकता एवं संगठन का संकेत किया है। भारतीय नारी द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में दिये गये सक्रिय सहयोग का चित्रण भी इन एकांकीकारों ने किया है।

प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक राजनीतिक एकांकी की धारा तीव्रवेग से प्रवाहित हो रही थी। इस युग के एकांकीकारों ने प्राचीन ऐतिहासिक पात्रों के महान चरित्रों को समक्ष रख भारतीय इतिहास का गौरवमय चित्र सामने रखा तथा देशद्रोहियों को उनके दुष्कृत्यी पर धिक्कारा। इसी धारा का पोषण स्वातंत्र्योत्तर युगीन एकांकीकारों ने उन्मुक्त हृदय से किया है। इन एकांकीकारों ने मुगलकाल से लेकर ब्रिटिश काल तक के इतिहास को अपनी एकांकी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई का इतिहास प्रस्तुत कर आगामी पीढ़ी के लिए एक अमूल्य धरोहर प्रदान की है। साथ ही गाँधीवाद से प्रभावित एकांकीकारों ने गांधी के सत्य, अहिंसा एवं मानवतावादी एवं शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक आन्दोलन की स्वतंत्रता के युद्ध की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्ति की है। **श्री विनोद रस्तोगी** ने 'पुरुष का पाप', 'पत्नी परित्याग', 'साम्राज्य और सोहाग', 'प्यार और प्यास' आदि एकांकियों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आधार बना आधुनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। **देवीलाल सागर** ने 'वीर बल्लू', 'ओ नीला घोड़ा वा असवार', तथा 'जीवन दान', शीर्षक ऐतिहासिक एकांकियों में प्राचीन राजपूती शौर्य, मातृभूमि प्रेम, स्वातंत्रय प्रेम तथा त्याग का सुन्दर चित्रण किया है। **प्रो. जयनाथ नलिन** ने 'देश की मिट्टी', 'विद्रोही की गिरफ्तारी' आदि एकांकियों में देश की स्वतंत्रता, देशहेतु किए गए शौर्यपूर्ण बलिदान, देश सेवा तथा देश के प्रति कर्त्तव्य का सन्देश दिया है। **श्री परिपूर्णानन्द वर्मा** ने 'वाजिद अली शाह', 'शेरशाह सूरी' तथा 'बहादुरशाह' आदि में

1. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : डॉ. दशरथ ओझा : पृ. 337

तीनों मुगल बादशाहों के शासन-काल की सुन्दर झांकी प्रस्तुत की है। **प्रेमनारायण टंडन** ने 'अजात शत्रु', 'गान्धार पतन', 'संकल्प', 'माता' की रचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर की है।

विष्णु प्रभाकर रचित 'अशोक' शीर्षक एकांकी जहाँ हिंसा पर अहिंसा, असत्य पर सत्य तथा दानवता पर मानवता की विजय को चित्रित करता है वहीं ऐतिहासिक पात्र कलिंग कुमार के देशभक्तिपूर्ण बलिदान, शौर्य, वीरता एवं दृढ़ता का भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार ये एकांकीकार ऐतिहासिक एकांकी प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने का कार्य कर रहे हैं।

स्वातन्त्रयोत्तर युगीन एकांकीकारों ने अपनी रचनाओं में प्राचीन सांस्कृतिक, पौराणिक, धार्मिक तथा नैतिक प्रसंगों की अभिव्यक्ति अपनी एकांकी रचनाओं में नवीन विचारों तथा तर्क की कसौटी पर नवीन ढंग से की है। प्रो. कैलासदेव बृहस्पति ने अतीत भारत की सांस्कृतिक परम्परा का पुनरुत्थान तथा उसके आदर्शमय अतीत गौरव का चित्रांकन अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक रूपकों में किया है। इसके 'सागर मंथन', 'विश्वामित्र', 'स्वर्ग में क्रान्ति', आदि महत्वपूर्ण रेडियो रूपक हैं जिनमें भारतीय सांस्कृतिक गौरव का कलात्मक चित्रण किया गया है। **कणाद ऋषि भटनागर** ने 'आज का ताजा अखबार', में भारतीय संस्कृति की महत्ता चित्रित की है। **ओंकारनाथ दिनकर** रचित गणतंत्र की गंगा, अभिसारिका, **सीताराम दीक्षित रचित** 'रक्षाबन्धन', **देवीलाल सामर** रचित 'आत्मा की खोज', 'ईश्वर की खोज' आदि में पौराणिक एवं धार्मिक कथानकों के आधार पर प्राचीन भारतीय राजनैतिक, सांस्कृतिक मानवतावादी एवं दार्शनिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। इनमें से कतिपय एकांकियों में गांधीवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई है।

आलोच्य युगीन एकांकीकारों ने विभिन्न वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं का चित्रण हास्य व्यंग्य प्रधान शैली में किया है। जैसे **देवीलाल सामर** ने 'वल्लभ', 'तवायफ के घर बगावत', 'उपन्यास का परिच्छेद', 'अमीर की बस्ती अछूत' आदि में आश्रयहीन तिरस्कृत विधवाओं, समाज के उनके प्रति दुर्व्यवहार, छुआछूत, रूढ़ियों तथा परिवारों में होने वाले छोटे-छोटे अत्याचारों पर व्यंग्य किया है।

प्रो. जयनाथ नलिन ने 'संवेदना सदन', 'शान्ति सम्मेलन', 'वर निर्वाचन', 'नेता', 'मेल मिलाप' आदि व्यंग्य प्रधान एकांकी लिखे हैं। लक्ष्मीनारायण लाल ने 'गीत के बोल', 'मुर्ख', 'सरकारी नौकरी', 'कला का मूल्य', 'रिश्तेदार' आदि भावना प्रधान कटु व्यंग्य मिश्रित एकांकियों का सृजन किया है। कृष्ण किशोर श्रीवास्तव रचित 'मछली के आंसू', जीवन का अनुवाद', 'आँख', 'बेवकूफ की रानी' आदि में सामाजिक यथार्थ चित्रण कर कटु व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है। इसके अतिरिक्त राजाराम शास्त्री, श्री चिरंजीत आदि को हास्य रस के छोटे-छोटे व्यंग्यात्मक एकांकी लिखने में अच्छी सफलता मिली है।

उपर्युक्त एकांकीकारों के अतिरिक्त स्वातंत्र्योत्तर युग में अन्य अनेक प्रतिभा सम्पन्न एकांकीकार भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए हिन्दी एकांकी को सम्पन्न एवं समृद्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कुछ एकांकीकारों ने मनोविश्लेषण प्रधान एकांकियों की रचना की जिनमें मानसिक कुण्ठाओं एवं जटिल भावना-ग्रन्थियों का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस युग में विविध विषयों एवं समस्याओं को लेकर बहुत बड़ी संख्या में एकांकियों की रचना हुई।

संक्षिप्ततः, हिन्दी एकांकी का विकास क्रमशः भारतेन्दु-युग, प्रसाद-युग, प्रसादोत्तर-युग तथा स्वतंत्रयोत्तर-युग में सम्पन्न हुआ। भारतेन्दु युग में जो एकांकी लिखे गये वे प्रायः नाटक का ही लघु रूप थे। इस युग में एकांकी का स्वतंत्र रूप नहीं मिलता। किन्तु प्रसाद-युग से प्रारम्भ होकर स्वातंत्रयोत्तर काल तक इसका स्वतंत्र स्वरूप निश्चित हुआ जो निश्चित रूप से प्रगति युग कहा जा सकता है। ऐसे विकास-क्रम को देखते हुए कहा जा सकता है कि निश्चय ही हिन्दी एकांकी का भविष्य उज्जवल होगा।

आत्मकथा

– लेखक

'आत्मकथा' का अर्थ–आत्मकथा स्वानुभूति का सबसे सरल माध्यम है। आत्मकथा के द्वारा लेखक अपने जीवन, परिवेश, महत्त्वपूर्ण घटनाओं, विचारधारा, निजी अनुभव, अपनी क्षमताओं और दुर्बलताओं तथा अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

आरंभिक-युग हिन्दी में आत्मकथाओं की एक लंबी परंपरा रही है। हिंदी की प्रथम आत्मकथा **बनारसीदास** जैन कृत 'अर्द्धकथा' (1641ई.) है। आत्मकथा की मूलभूत विशेषताओं–निरपेक्षता और तटस्थता को इसमें सहज ही देखा जा सकता है। इसमें लेखक ने अपने गुणों और अवगुणों का यथार्थ चित्रण किया है। पद्य में लिखी इस आत्मकथा के अतिरिक्त पूरे मध्यकाल में हिंदी में कोई दूसरी आत्मकथा नहीं मिलती।

अन्य कई गद्य विधाओं के साथ आत्मकथा भी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में विकसित हुई। **भारतेंदु ने** अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से इस विधा का पल्लवन किया। उनकी स्वयं की आत्मकथा 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का आरंभिक अंश 'प्रथम खेल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। उनकी संक्षिप्त-सी आत्मकथा की भाषा आम-बोलचाल के शब्दों से निर्मित हुई है, जो एक तरह से बाद की आत्मकथाओं के लिए आधार दृष्टि का काम करती है। भारतेंदु के अतिरिक्त इस काल के आत्मकथाकारों में **सुधाकर द्विवेदी** कृत 'रामकहानी' और **अंबिकादत्त व्यास** कृत 'निजवृतांत' को महत्वपूर्ण माना जा सकता है। कलेवर की दृष्टि से इन आत्मकथाओं को भी संक्षिप्त कहा जा सकता है। व्यास जी की आत्मकथा मात्र 56 पृष्ठों की है। इसमें उन्होंने सरल भाषा का प्रयोग करते हुए अपने जीवन संघर्षों को स्वर दिया है।

स्वामी दयानंद सरस्वती की आत्मकथा सन् 1875 में प्रकाश में आई। इस आत्मकथा में दयानंद सरस्वती के जीवन के विविध पक्षों यथा-ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, विद्वत्ता, सत्यनिष्ठा और निर्भीकता आदि का सजीव चित्रण हुआ है। **सत्यानंद अग्निहोत्री** कृत 'मुझ में देव जीवन का विकास' का पहला खण्ड सन् 1909 में और दूसरा खण्ड सन् 1918 में प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा में आत्मश्लाघा की प्रधानता है। सन् 1921 में **भाई परमानंद** की आत्मकथा 'आपबीती' प्रकाशित हुई। इसे किसी क्रांतिकारी की प्रथम आत्मकथा माना जा सकता है। इसमें लेखक ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपने योगदान, अपनी जेल यात्रा और अपने ऊपर पड़े आर्य समाज के प्रभाव को रेखांकित किया है। सन् 1924 में **स्वामी श्रद्धानंद** की आत्मकथा 'कल्याणमार्ग का पथिक' प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने अपने जीवन संघर्षों और आत्मोत्थान का वर्णन किया है।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

हिंदी के आत्मकथात्मक साहित्य के विकास में 'हंस' के आत्मकथांक का विशिष्ट योगदान है। सन् 1932 में प्रकाशित इस अंक में जयशंकर प्रसाद, वैद्य हरिदास, विनोदशंकर व्यास, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, दयाराम निगम, मौलवी महेशप्रसाद, गोपालराम गहमरी, सुदर्शन, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, श्रीराम शर्मा आदि साहित्यकारों और गैर-साहित्यकारों के जीवन के कुछ अंशों को प्रेमचंद ने स्थान दिया है।

इस काल की सबसे महत्वपूर्ण आत्मकथा श्यामसुंदर दास कृत 'मेरी आत्मकहानी' (सन् 1941) है। इसमें लेखक ने अपने जीवन की निजी घटनाओं को कम स्थान दिया है। इसकी बजाय काशी के इतिहास और समकालीन साहित्यिक गतिविधियों को भरपूर स्थान मिला है। लगभग इसी समय बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा में लेखक ने व्यंग्यपूर्ण रोचक शैली में अपने जीवन की असफलताओं का सजीव चित्रण किया है।

सन् 1946 में राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। सन् 1949 में दूसरा तथा सन् 1967 में उनकी मृत्यु के उपरांत इसके तीन भाग और प्रकाशित हुए। इस बृहत् आकार की आत्मकथा की विशेषता इसकी वर्णनात्मक शैली है।

सन् 1947 के आरंभ में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा इसी शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस बृहद्‌काय आत्मकथा में राजेंद्र बाबू ने बड़ी सादगी और निश्छलता से स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान देश की दशा का वर्णन किया है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1948 में वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा के समाज सेवा से संबंधित अंश में समाज के निम्न वर्ग का लेखक ने बहुत मार्मिक वर्णन किया है। यशपाल कृत 'सिंहावलोकन' का प्रथम भाग सन् 1951 में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा भाग सन् 1952 और तीसरा सन् 1955 में आया। यशपाल की आत्मकथा की विशेषता उसकी रोचक और मर्मस्पर्शी शैली है। सन् 1952 में शांतिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन के प्रारंभिक इकतालीस वर्षों की करुण कथा का वर्णन किया है। सन् 1953 में यायावर प्रवृत्ति के लेखक देवेंद्र सत्यार्थी की आत्मकथा 'चाँद-सूरज के बीरन' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन की आरंभिक घटनाओं का चित्रण किया है।

सन् 1960 में प्रकाशित पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की आत्मकथा 'अपनी खबर' बहुत चर्चित हुई। इसमें उनके जीवन की विद्रूपताओं के बीच युगीन परिवेश की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है।

हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा हिंदी की सर्वाधिक सफल और महत्वपूर्ण आत्मकथा मानी जाती है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (सन् 1969), 'नीड़ का निर्माण फिर'(सन् 1970), 'बसेरे से दूर'(सन् 1977) और 'दशद्वार से सोपान तक'(सन् 1985) चार भागों में विभाजित उनकी आत्मकथा इस विधा को नए शिखर पर ले गई। प्रथम खंड में बच्चन जी ने अपने बचपन से यौवन तक के चित्र खींचे हैं। द्वितीय भाग में आत्मविश्लेषणात्मक पद्धति को अधिक स्थान मिला है। तीसरे भाग में लेखक ने अपने विदेश प्रवास का वर्णन किया है तथा चौथे और अंतिम भाग में बच्चन ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों के अनुभवों को संचित किया है। अत्यंत विस्तृत होने के बावजूद बच्चन जी की आत्मकथा की विशेषता उसका सुव्यवस्थित होना है। उनके गद्य की भाषा सहज-सरल है।

बच्चन की आत्मकथा ने अनेक साहित्यकारों को अपने जीवन को लिपिबद्ध करने के लिए प्रेरित किया। उनके बाद प्रकाशित आत्मकथाओं में वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी'((सन् 1970), देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर'(सन् 1970), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन'(सन् 1985), प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक ज़िंदगी की'(सन् 1990) और भीष्म साहनी की 'आज के अतीत'(सन् 2003) प्रकाशित हुई। देश विभाजन की त्रासदी को भीष्म साहनी ने जीवंत भाषा में चित्रित किया है। उनकी शैली मर्मस्पर्शी है।

समकालीन आत्मकथा साहित्य में दलित आत्मकथाओं का उल्लेखनीय योगदान है। ओमप्रकाश बाल्मीकि कृत 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय कृत 'अपने-अपने पिंजरे' और कौशल्या बैसंत्री कृत 'दोहरा अभिशाप' आदि आत्मकथाओं ने इस विधा को यथार्थ अभिव्यक्ति की नई ऊँचाई पर पहुँचाया है। वर्तमान समय में महिला और दलित रचनाकारों ने इस विधा को गहरे सामाजिक सरोकारों से जोड़ा है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी आत्मकथा साहित्य एक लंबी यात्रा के बाद आज उस मुकाम पर पहुँचा है जहाँ वह आत्मश्लाघा के दुर्गुण से मुक्त होकर व्यक्तिगत गुण-दोषों की सच्चाई को बयान करने में सक्षम है।

यात्रा-साहित्य

यात्रा-साहित्य का उद्देश्य : यात्रा करना मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। हम अगर मानव इतिहास पर नज़र डालें तो पाएँगे कि मनुष्य के विकास की गाथा में यायावरी का महत्वपूर्ण योगदान है। अपने जीवन काल में हर आदमी कभी-न-कभी कोई-न-कोई यात्रा अवश्य करता है लेकिन सृजनात्मक प्रतिभा के धनी अपने यात्रा अनुभवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर यात्रा-साहित्य की रचना करने में सक्षम हो पाते हैं। यात्रा-साहित्य का उद्देश्य लेखक के यात्रा

अनुभवों को पाठकों के साथ बाँटना और पाठकों को भी उन स्थानों की यात्रा के लिए प्रेरित करना है। इन स्थानों की प्राकृतिक विशिष्टता, सामाजिक संरचना, सामाज के विविध वर्गों के सह-संबंध, वहाँ की भाषा, संस्कृति और सोच की जानकारी भी इस साहित्य से प्राप्त होती है।

आरंभिक युग

हिंदी साहित्य में अन्य गद्य विधाओं की भाँति ही भारतेंदु-युग से यात्रा-साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। उनके संपादन में निकलने वाली पत्रिकाओं में 'हरिद्वार', 'लखनऊ', 'जबलपुर', 'सरयूपार की यात्रा', 'वैद्यनाथ की यात्रा' और 'जनकपुर की यात्रा' आदि यात्रा-साहित्य प्रकाशित हुआ। इन यात्रा-वृतांतों की भाषा व्यंग्यपूर्ण है और शैली बड़ी रोचक और सजीव है। इस समय के यात्रा-वृतांतों में हम दामोदर शास्त्री कृत 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा'(सन् 1885), देवी प्रसाद खत्री कृत 'रामेश्वर यात्रा'(सन् 1893) को महत्वपूर्ण मान सकते हैं किंतु यह यात्रा-साहित्य परिचयात्मक और किंचित स्थूल वर्णनों से युक्त है।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा लिखे गए यात्रा-वृतांत 'पृथ्वी प्रदक्षिणा'(सन् 1924) को हम आरंभिक यात्रा-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दे सकते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता चित्रात्मकता है। इसमें संसार भर के अनेक स्थानों का रोचक वर्णन है। लगभग इसी समय स्वामी सत्यदेव परिव्राजक कृत 'मेरी कैलाश यात्रा'(सन् 1915) तथा 'मेरी जर्मन यात्रा'(सन् 1926) महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने सन् 1936 में 'यात्रा मित्र' नामक पुस्तक लिखी, जो यात्रा-साहित्य के महत्व को स्थापित करने का काम करती है। विदेशी यात्रा-विवरणों में कन्हैयालाल मिश्र कृत 'हमारी जापान यात्रा'(सन् 1931), रामनारायण मिश्र कृत 'यूरोप यात्रा के छः मास' और मौलवी महेशप्रसाद कृत 'मेरी ईरान यात्रा' (सन् 1930) यात्रा-साहित्य के अच्छे उदाहरण हैं।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

यात्रा-साहित्य के विकास में राहुल सांकृत्यायान का योगदान अप्रतिम है। इतिवृत्त-प्रधान शैली होने के बावजूद गुणवत्ता और परिमाण की दृष्टि से इनके यात्रा-वृतांतों की तुलना में कोई दूसरा लेखक कहीं नहीं ठहरता है। 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'किन्नर देश में', 'रूस में 25 मास', 'तिब्बत में सवा वर्ष', 'मेरी यूरोप यात्रा', 'यात्रा के पन्ने', 'जापान, ईरान, एशिया के दुर्गम खंडों में' आदि इनके कुछ प्रमुख यात्रा-वृतांत हैं। राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-साहित्य में दो प्रकार की दृष्टि को साफ देखा जा सकता है। उनके एक प्रकार के लेखन में यात्राओं का केवल सामान्य वर्णन है और दूसरे प्रकार के यात्रा-साहित्य को शुद्ध साहित्यिक कहा जा सकता है। इस दूसरे प्रकार के यात्रा-साहित्य में राहुल सांकृत्यायन ने स्थान के साथ-साथ अपने समय को भी लिपिबद्ध किया है। सन् 1948 में इन्होंने 'घुम्मकड़ शास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिससे यात्रा करने की कला को सीखा जा सकता है। इनका अधिकांश यात्रा-साहित्य सन् 1926 से 1956 के बीच लिखा गया।

स्वातंत्र्योत्तर युग

राहुल सांकृत्यायन के बाद यात्रा-साहित्य में बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि-कथाकार अज्ञेय का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। अज्ञेय अपने यात्रा-साहित्य को यात्रा-संस्मरण कहना पसंद करते थे। इससे उनका आशय यात्रा-वृतांतों में संस्मरण का समावेश कर देना था। उनका मानना था कि यात्राएँ न केवल बाहर की जाती हैं बल्कि वे हमारे अंदर की ओर भी की जाती हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' (सन् 1953) और 'एक बूँद सहसा उछली'(सन् 1960) उनके द्वारा लिखित यात्रा-साहित्य की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' में उनके भारत भ्रमण का वर्णन है और दूसरी पुस्तक 'एक बूँद सहसा उछली में' उनकी विदेशी यात्राओं को शब्दबद्ध किया गया है। अज्ञेय के यात्रा-साहित्य की भाषा गद्य भाषा के नए मुकाम तक ले जाती है।

आज़ादी के बाद हिंदी साहित्य में बहुतायत से यात्रा-साहित्य का सृजन हुआ। अनेक प्रगतिशील लेखकों ने इस विधा को समृद्धि प्रदान की। रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'पैरों में पंख बाँधकर'(सन् 1952) तथा 'उड़ते चलो उड़ते चलो', यशपाल कृत 'लोहे की दीवार के दोनों ओर'(सन् 1953), भगवतशरण उपाध्याय कृत 'कलकत्ता से पेकिंग तक'(सन्

1953) तथा 'सागर की लहरों पर'(सन् 1959), प्रभाकर माचवे कृत 'गोरी नज़रों में हम'(सन् 1964) उल्लेखनीय हैं।

हिंदी यात्रा-साहित्य के संदर्भ में मोहन राकेश तथा निर्मल वर्मा को भी बड़े हस्ताक्षर माना जाता है। इन्होंने यात्रा-साहित्य को नए अर्थों से समन्वित किया। मोहन राकेश द्वारा लिखित 'आखिरी चट्टान तक'(सन् 1953) में दक्षिण भारत का विस्तार से वर्णन किया गया है। दक्षिण भारतीय जीवन पद्धति के विविध बिम्बों को इसमें लेखक ने यथावत प्रस्तुत कर दिया है। इनके यात्रा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कहानी की-सी रोचकता और नाटक का-सा आकर्षण देखा जा सकता है। निर्मल वर्मा ने 'चीड़ों पर चाँदनी'(सन् 1964) में यूरोपीय जीवन के चित्रों को उकेरा है। निर्मल वर्मा के यात्रा-साहित्य में न केवल अपने समय का वर्णन रहता है बल्कि इतिहास और संस्कृति के अनेक बिंदुओं को भी इसमें अभिव्यक्ति मिलती है। विदेशी संदर्भों को भी उनके गद्य की सहजता बोझिल नहीं होने देती।

कोई भी लेखक अच्छा लेखक तभी बनता है जब वह जीवन को समीप से देखता है और जीवन को समीप से देखने का सबसे सरल माध्यम यात्रा करना है। रचनात्मक लेखन करने वाला हर लेखक अपने साहित्य में किसी न किसी रूप में यात्रा-साहित्य का सृजन अवश्य करता है। हमने उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में देखा कि हिंदी में यात्रा विषयक प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। हिंदी गद्य के साथ-साथ इसने भी पर्याप्त विकास किया है। अधिकांश लेखकों ने इस विधा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है।

रिपोर्ताज़

'रिपोर्ताज' का अर्थ एवं उद्देश्य : जीवन की सूचनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज का जन्म हुआ। रिपोर्ताज पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। इस शब्द का उद्भव फ्रांसीसी भाषा से माना जाता है। इस विधा को हम गद्य विधाओं में सबसे नया कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप के रचनाकारों ने युद्ध के मोर्चे से साहित्यिक रिपोर्ट तैयार की। इन रिपोर्टों को ही बाद में रिपोर्ताज कहा गया। वस्तुतः यथार्थ घटनाओं को संवेदनशील साहित्यिक शैली में प्रस्तुत कर देने को ही रिपोर्ताज कहा जाता है।

आरंभिक युग

हिंदी खड़ी बोली गद्य के आरंभ के साथ ही अनेक नई विधाओं का चलन हुआ। इन विधाओं में कुछ तो सायास थीं और कुछ के गुण अनायास ही कुछ गद्यकारों के लेखन में आ गए थे। वास्तविक रूप में तो रिपोर्ताज का जन्म हिंदी में बहुत बाद में हुआ लेकिन भारतेंदुयुगीन साहित्य में इसकी कुछ विशेषताओं को देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, भारतेंदु ने स्वयं जनवरी,1877 की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में दिल्ली दरबार का वर्णन किया है, जिसमें रिपोर्ताज की झलक देखी जा सकती है। रिपोर्ताज लेखन का प्रथम सायास प्रयास शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखित 'लक्ष्मीपुरा' को मान जा सकता है। यह सन् 1938 में 'रूपाभ' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसके कुछ समय बाद ही 'हंस' पत्रिका में उनका दूसरा रिपोर्ताज 'मौत के खिलाफ ज़िन्दगी की लड़ाई' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हिंदी साहित्य में यह प्रगतिशील साहित्य के आरंभ का काल भी था। कई प्रगतिशील लेखकों ने इस विधा को समृद्ध किया। शिवदान सिंह चौहान के अतिरिक्त अमृतराय और प्रकाशचंद गुप्त ने बड़े जीवंत रिपोर्ताजों की रचना की।

रांगेय राघव रिपोर्ताज की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ लेखक कहे जा सकते हैं। सन् 1946 में प्रकाशित 'तूफानों के बीच में' नामक रिपोर्ताज में इन्होंने बंगाल के अकाल का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। रांगेय राघव अपने रिपोर्ताजों में वास्तविक घटनाओं के बीच में से सजीव पात्रों की सृष्टि करते हैं। वे गरीबों और शोषितों के लिए प्रतिबद्ध लेखक हैं। इस पुस्तक के निर्धन और अकाल पीड़ित निरीह पात्रों में उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता को देखा जा सकता है। लेखक विपदाग्रस्त मानवीयता के बीच संबल की तरह खड़ा दिखाई देता है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के रिपोर्ताज लेखन का हिंदी में चलन बढ़ा। इस समय के लेखकों ने अभिव्यक्ति की विविध शैलियों को आधार बनाकर नए प्रयोग करने आरंभ कर दिए थे। रामनारायण उपाध्याय कृत 'अमीर और गरीब' रिपोर्ताज संग्रह में व्यंग्यात्मक शैली को आधार बनाकर समाज के शाश्वत विभाजन को चित्रित किया गया है। फणीश्वरनाथ रेणु के रिपोर्ताजों ने इस विधा को नई ताजगी दी। 'ऋण जल धन जल' रिपोर्ताज संग्रह में बिहार के अकाल को अभिव्यक्ति मिली है और 'नेपाली क्रांतिकथा' में नेपाल के लोकतांत्रिक आंदोलन को कथ्य बनाया गया है।

अन्य महत्वपूर्ण रिपोर्ताजों में भंदत आनंद कौसल्यायन कृत 'देश की मिट्टी बुलाती है' धर्मवीर भारती कृत 'युद्धयात्रा' और शमशेर बहादुर सिंह कृत 'प्लाट का मोर्चा' का नाम लिया जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपने समय की समस्याओं से जूझती जनता को हमारे लेखकों ने अपने रिपोर्ताजों में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। लेकिन हिंदी रिपोर्ताज के बारे में यह भी सच है कि इस विधा को वह ऊँचाई नहीं मिल सकी जो कि इसे मिलनी चाहिए थी।

रेखाचित्र

रेखाचित्र का अर्थ : 'रेखाचित्र' शब्द अंग्रेजी के स्कैच शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। जैसे 'स्कैच' में रेखाओं के माध्यम से किसी व्यक्ति या वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, ठीक वैसे ही शब्द रेखाओं के माध्यम से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसके समग्र रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। ये व्यक्तित्व प्राय: वे होते हैं जिनसे लेखक किसी न किसी रूप में प्रभावित रहा हो या जिनसे लेखक की घनिष्ठता अथवा समीपता हो।

आरंभिक युग

रेखाचित्र को स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित करने का श्रेय पद्म सिंह शर्मा कृत 'पद्म पराग' को दिया जा सकता है। 'पद्म पराग' में संस्मरणात्मक निबंधों और रेखाचित्रों का संकलन है। इन रेखाचित्रों में समकालीन महत्वपूर्ण लोगों को विषय बनाया गया है। पद्म सिंह शर्मा से प्रभावित होकर श्रीराम शर्मा, हरिशंकर शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने रेखाचित्र लिखने आरंभ किए। श्रीराम शर्मा के रेखाचित्रों का प्रथम संग्रह 'बोलती प्रतिमा' शीर्षक से सन् 1937 में प्रकाशित हुआ। इसकी विशेषता यह है कि इसमें समाज के निम्नवर्ग के पात्रों का सजीव चित्रण हुआ है।

बनारसीदास चतुर्वेदी के रेखाचित्रों की शैली सरस और व्यंग्यपूर्ण है। रेखाचित्र के स्वरूप के बारे में इन्होंने सैद्धांतिक विवेचन भी किया है। इनका कथन है कि, ''जिस प्रकार एक अच्छा चित्र खींचने के लिए कैमरे का लैंस बढ़िया होना चाहिए और फिल्म भी काफी कोमल या सैंसिटिव, उसी प्रकार साफ चित्रण के लिए रेखाचित्रकार में विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा भावुकतापूर्ण हृदय दोनों का सामंजस्य होना चाहिए; पर-दु:खकातरता, संवेदनशीलता, विवेक और संतुलन इन सब गुणों की आवश्यकता है।'' निस्संदेह बनारसीदास चतुर्वेदी के लेखन में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ हम देख सकते हैं। राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को इनके रेखाचित्रों में देखा जा सकता है। इनके रेखाचित्र 'हमारे साथी' और 'प्रकृति के प्रागंण' नामक ग्रंथों में संकलित हैं।

उत्कर्ष युग

रामवृक्ष बेनीपुरी निर्विवाद रूप से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ रेखाचित्रकार माने जाते हैं। इनके रेखाचित्रों में हम सरल भाषा शैली में सिद्धहस्त कलाकारी को देख सकते हैं। परिमाण की दृष्टि से इन्होंने अनेक रेखाचित्रों की रचना की है। 'माटी की मूरतें'(सन् 1946) संग्रह से इन्हें विशेष ख्याति मिली। इस संग्रह में इन्होंने समाज के उपेक्षित पात्रों को गढ़कर नायक का दर्जा दे दिया। उदाहरणस्वरूप 'रजिया' नामक रेखाचित्र के माध्यम से निम्नवर्ग की एक बालिका को जीवंत कर दिया गया है। इस संग्रह के अन्य रेखाचित्रों में बलदेव सिंह, मंगर, बालगोबिन भगत, बुधिया, सरजू भैया प्रमुख हैं। इन रेखाचित्रों की श्रेष्ठता का अनुमान मैथिलीशरण गुप्त के इस कथन से लगाया जा सकता है, ''लोग माटी की मूरतें बनाकर सोने के भाव बेचते हैं पर बेनीपुरी सोने की मूरतें बनाकर माटी के मोल बेच रहे हैं।''

सन् 1950 में रामवृक्ष बेनीपुरी का दूसरा रेखाचित्र संग्रह 'गेहूँ और गुलाब' प्रकाशित हुआ। इसमें इनके 25 रेखाचित्र संकलित हैं। कलेवर की दृष्टि से लेखक ने इन्हें अपने पुराने रेखाचित्रों की अपेक्षा छोटा रखा है। रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्रों की भाषा भावना प्रधान है। कुछ आलोचक तो उनकी भाषा को गद्य काव्य की संज्ञा भी दे चुके हैं। बेनीपुरी के रेखाचित्रों के बारे में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन्हें जीवन में जो भी पात्र मिले इन्होंने अपनी कुशल लेखनी से उन्हें जीवंत कर दिया। विषय की विविधता और शैली की सरसता का इनके यहाँ अपूर्व संयोजन मिलता है।

महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों ने विधा के रूप में संस्मरण और रेखाचित्र की सीमाओं का उल्लंघन किया। उनके लेखन को संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'पथ के साथी' और 'श्रृंखला की कड़ियाँ' इनके संग्रह हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में समाज के शोषित वर्ग और नारी के प्रति इनकी सहानुभूति प्रकट हुई है। 'पथ के साथी' में इन्होंने अपने साथी साहित्यकारों के चित्रों को लिपिबद्ध किया है।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर को शैली की दृष्टि से रामवृक्ष बेनीपुरी के समान ही सम्मान प्राप्त है। इनके बहुविध विषयों में जीवन की प्रेरणा देने वाले रेखाचित्रों की भरमार है। 'भूले हुए चेहरे', 'बाजे पायलिया के घुंघरू', 'ज़िन्दगी मुस्काई', 'दीप जले शंख बजे', 'क्षण बोले कण मुस्काए', 'महके आँगन चहके द्वार' और 'माटी हो गई सोना' इनके रेखाचित्रों के संग्रह हैं।

प्रकाशचंद्र गुप्त ने इस विधा को स्थापित करने के लिए 'रेखाचित्र' नाम से ही संकलन प्रकाशित कराया। इनके रेखाचित्रों की विशेषता यह है कि इन्होंने अपने विषयों को मनुष्य की परिधि से बाहर ले जाते हुए पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों तक को अपने रेखाचित्रों में स्थान दिया है।

विष्णु प्रभाकर के रेखाचित्र 'जाने-अनजाने', 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' और 'हँसते निर्झर दहकती भट्टी' में संकलित हैं। इनके रेखाचित्रों में विशाल कैनवस पर सामाजिक सजगता के साथ मानवीय चित्र उकेरे गए हैं। इनके अन्य समकालीन रेखाचित्रकारों में देवेंद्र सत्यार्थी, डॉ. नगेन्द्र, विनयमोहन शर्मा, जगदीशचंद्र माथुर आदि का नाम लिया जा सकता है।

समकालीन हिंदी साहित्य में रचनाकारों ने विधा के बंधनों को थोड़ा शिथिल किया है। आज हम परंपरागत मानदंडों पर कसकर कई विधाओं को नहीं देख सकते। रेखाचित्र विधा का भी रूप बदला है। उसको हम कहीं कहानी के भीतर तो कहीं संस्मरण अथवा आत्मकथा के भीतर अन्तर्भुक्त पाते हैं और कहीं स्वतंत्र विधा के रूप में भी देख सकते हैं। हिंदी रेखाचित्र ने अपनी सीमाओं का लगातार अतिक्रमण किया है। यह इस विधा के भविष्य के लिए शुभ संकेत है।

व्यंग्य

'व्यंग्य का उद्देश्य

व्यंग्य का जन्म अपने समय की विद्रूपताओं के भीतर से उपजे असंतोष से होता है। विद्वानों में इस बात पर मतभेद लगातार बना रहा है कि व्यंग्य को एक अलग विधा माना जाए या कि वह किसी भी विधा के भीतर 'स्पिरिट' के रूप में मौजूद रहता है। दरअसल व्यंग्य एक माध्यम है जिसके द्वारा व्यंग्यकार जीवन की विसंगतियों, खोखलेपन और पाखंड को दुनिया के सामने उजागर करता है। जिनसे हम सब परिचित तो होते हैं किंतु उन स्थितियों को दूर करने, बदलने की कोशिश नहीं करते बल्कि बहुधा उन्हीं विद्रूपताओं-विसंगतियों के बीच जीने की, उनसे समझौता करने की आदत बना लेते हैं। व्यंग्यकार अपनी रचनाओं में ऐसे पात्रों और स्थितियों की योजना करता है जो इन अवांछित स्थितियों के प्रति पाठकों को सचेत करते हैं। जैसा कि 'व्यंग्य' नाम से ही स्पष्ट है, इस विधा में सामाजिक विसंगतियों का चित्रण सीधे-सीधे (अभिधा में) न होकर परेक्षत: (व्यंजना के माध्यम से) होता है। इसीलिए व्यंग्य में मारक क्षमता अधिक होती है।

आरंभिक युग

हिंदी में संत साहित्य से व्यंग्य का आरंभ माना जा सकता है। कबीर व्यंग्य के आदि प्रणेता हैं। उन्होंने मध्यकाल की सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रहार किया है। जाति-भेद, हिंदू-मुस्लमानों के धर्माडंबर, गरीबी-अमीरी, रूढ़िवादिता आदि पर कबीर के व्यंग्य बड़े मारक हैं। 'जो तू बामन-बमनी जाया। आन द्वार काहे नहिं आया'।, 'क्या तेरा साहिब बहरा है', 'कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चुनाय। ता चढ़ि मुल्ला बांगि दे क्या बहरा हुआ खुदाय' आदि अनेक उद्धरण कबीर की व्यंग्य-क्षमता के प्रमाण हैं। लेकिन उत्तर-मध्यकालीन सामंती समाज कबीर आदि संतों के समाज-बोध को समझ पाने में असफल रहा और पूरे रीतिकाल में व्यंग्य रचनाओं की उपस्थिति नगण्य रही।

कबीर के बाद भारतेंदु ने सामाजिक विषमताओं के प्रति व्यंग्य को हथियार बनाया। अंग्रेज़ों के खिलाफ लिखते हुए वे कहते हैं, ''होय मनुष्य क्यों भये, हम गुलाम वे भूप।'' इस पंक्ति में औपनिवेशिक भारत की मूल समस्या हमें दिखाई देती है। पराधीन भारत की समस्याएँ वर्तमान भारत से अलग थीं। 'अंधेर नगरी' और 'मुकरियों' में गुलाम भारत की विडंबनापूर्ण परिस्थितियों, अंग्रेजी साम्राज्यवाद और उनकी शोषक दृष्टि के प्रति आक्रोश को देखा जा सकता है। भारतेंदु-युग के अन्य महत्वपूर्ण व्यंग्यकार बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और प्रतापनारायण मिश्र हैं। किंतु प्रेमघन की कृति 'हास्यबिंदु' और प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में व्यंग्य सहायक प्रवृत्ति के रूप में मौजूद है। व्यंग्य इनकी रचनाओं में केंद्रीय भूमिका का निर्वहन नहीं करता है। व्यंग्य का पूर्ण उन्मेष इनके बाद के व्यंग्य रचनाकार बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में दिखाई देता है। 'शिवशंभु के चिट्ठे' नामक अपनी प्रसिद्ध व्यंग्य लेखमाला में इन्होंने समसामयिक परिस्थितियों पर तीव्र व्यंग्य किए। राजनीति और तत्कालीन शासन-व्यवस्था से टकराव इनकी व्यंग्य रचनाओं की आधार सामग्री का काम करते हैं।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

युगीन समस्याओं पर व्यंग्य करने की प्रवृत्ति प्रेमचंद में भी बहुत मिलती है। इन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में आम आदमी और कृषक वर्ग की दैनंदिन कठिनाइयों पर करारा व्यंग्य किया है। प्रेमचंद के बाद के रचनाकारों में निराला साहित्य में इसे देखा जा सकता है। इनकी 'कुकुरमुत्ता' आदि रचनाओं में व्यंग्य की अभिव्यक्ति विद्रूपता फैलाने वाले समाज के खिलाफ चुनौती के रूप में हुई है। इनके अलावा स्वतंत्रता-पूर्व के रचनाकारों में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और रांगेय राघव का नाम भी लिया जा सकता है लेकिन इन लेखकों में व्यंग्य की वह धार नहीं है जो हमें भारतेंदु अथवा बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में दिखाई देती है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ और देश की आज़ादी के साथ ही आम आदमी खुशहाली के सपने देखने लगा। लेकिन विपरीत परिस्थितियों और राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण आम आदमी के ये सपने पूरे नहीं हो सके। स्वतंत्रता के बाद भारत में समाज, राजनीति, धर्म, शिक्षा, आदि सभी क्षेत्रों में असंगतियाँ बढ़ी हैं। सामाजिक-नैतिक मूल्यों का पतन हुआ है। आम आदमी के लिए शांतिपूर्वक जीवन जीने के अवसर कम हुए हैं। सत्य, सदाचरण, ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा आदि शाश्वत मूल्यों का स्थान अनेक विसंगतियों ने ले लिया है। आजादी पूर्व देखे गए स्वप्न तो बीसवीं शताब्दी के छठे दशक तक आते-आते ही खण्डित हो गए। गुलाम भारत में होने वाले शोषण-अत्याचार आजादी के बाद कम होने के बजाय और अधिक बढ़ गए। व्यक्ति और समाज की आंतरिक जटिलताओं के साथ-साथ अन्तर्विरोध भी बढ़े हैं। व्यक्ति निजी स्वार्थ तक सीमित होकर रह गया है। ये विसंगतियाँ और जटिलताएँ व्यंग्य के लिए आधारभूमि बनीं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में व्यंग्य का पर्याप्त सृजन हुआ है। निरन्तर बढ़ती सामाजिक विषमताओं से विक्षुब्ध होकर करुणापूर्ण व्यंग्य लेखन की एक लम्बी परम्परा मिलती है। **हरिशंकर परसाई** इस परम्परा के प्रतिनिधि रचनाकार हैं।

परसाई की रचनाएं 'आजाद भारत का सृजनात्मक इतिहास' कही जा सकती हैं। इन रचनाओं का वर्तमान भारत की यथार्थ स्थितियों के संदर्भ में ही आकलन किया जा सकता है। सामान्य सामाजिक स्थितियों को परसाई ने वैचारिक

चिन्तन से पुष्ट करके प्रस्तुत किया है। स्वतंत्र भारत के सकारात्मक-नकारात्मक सभी पहलुओं की परसाई ने बखूबी पड़ताल की है। परसाई की रचनाओं में उस पीड़ित भारत की छटपटाहट को महसूस किया जा सकता है जो शोषकों के तिलिस्म में कैद है। शोषक इस तिलिस्म को बनाए रखने के लिए तरह-तरह के छद्म करते हैं। इन छद्मों का खुलासा परसाई करते हैं। अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता और सतर्क वैज्ञानिक दृष्टि के कारण परसाई छद्म के उन सभी रूपों को आसानी से पहचान लेते हैं जिन तक सामान्यत: रूढ़िवादी दृष्टि नहीं पहुँच पाती।

परसाई का रचना संसार बहुत व्यापक है। निजी अनुभूतियों की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति उनके व्यंग्य लेखन की विशिष्टता है। परसाई की सृजनशील दृष्टि निम्नवर्गीय सामान्य आदमी से प्रारम्भ होकर बहुराष्ट्रीय समस्याओं तक को अपने भीतर समेटती है। परसाई व्यंग्य के माध्यम से सृजन और संहार दोनों एक साथ करते हैं। परसाई का व्यंग्य जब शोषक वर्ग के प्रति होता है तो वह उस वर्ग के प्रति घृणा और आक्रोश उत्पन्न करता है लेकिन जब वही व्यंग्य अभावग्रस्त व्यक्ति पर होता है तो करुणा पैदा करता है।

परसाई के व्यंग्य लेखन की भाषा सप्रयास नहीं है। उनका मानना है कि समाज में रहने के कारण वह हमें अनुभव देता है और विषयानुरूप नई भाषा सिखाता है। यही कारण है कि परसाई की भाषा उनके कथ्य का अनुसरण करती हैं।

शरद जोशी भी परसाई की ही तरह एक अलग भाषाई तेवर के साथ व्यंग्य लेखन करते हैं। शिल्प की सजगता इनके व्यंग्य लेखन की विशेषता है। भाषा में वक्रता के द्वारा ये शब्दों और विशेषणों का विशिष्ट संयोजन करते हैं।

श्रीलाल शुक्ल का नाम भी स्वातंत्र्योत्तर व्यंग्य लेखन में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके उपन्यास 'रागदरबारी' ने मोहभंग की स्थितियों के यथार्थ को सजीव रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

रवींद्रनाथ त्यागी का लेखन आत्म-व्यंग्य के कारण महत्वपूर्ण माना जाता है। इनके लेखन को हम हास्य और व्यंग्य का संयोजन कह सकते हैं। यह न सिर्फ पाठक को प्रफुल्लित करता है बल्कि उसे सोचने के लिए बाध्य भी करता है।

लतीफ घोंघी के व्यंग्य में राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ को विषय बनाया गया है। इनके व्यंग्य में मारकता का अभाव है, किंतु इनका कथ्य बहुत व्यापक है। नारी-शोषण, कालाबाज़ारी, भुखमरी, शैक्षिक-साहित्यिक दुनिया की गड़बड़ियाँ आदि विषयों के साथ-साथ इन्होंने आम आदमी की दैनिक परेशानियों को अपने व्यंग्यों में स्थान दिया है। भाषा में उर्दू का पुट है।

सामाजिक मूल्यों के विघटन को केंद्र में रखकर समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में व्यंग्य का लगातार सृजन हो रहा है। वर्तमान महत्वपूर्ण व्यंग्य लेखकों में नरेन्द्र कोहली, प्रेम जनमेजय, हरीश नवल, ज्ञान चतुर्वेदी और अशोक शुक्ल आदि का नाम लिया जा सकता है। नरेन्द्र कोहली ने अपने व्यंग्यों में नए प्रयोगों पर विशेष ध्यान दिया है। इनके व्यंग्यों का असंगत शिल्प इन्हें अपने समकालीनों में विशिष्ट बनाता है। आज व्यंग्य को सामाजिक सतर्कता के हथियार के रूप में देखा जाता है।

संस्मरण

संस्मरण और रेखाचित्र में बहुत सूक्ष्म अंतर है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों विधाओं को एक-दूसरे की पूरक विधा भी कहा है। संस्मरण का सामान्य अर्थ होता है सम्यक् स्मरण। सामान्यत: इसमें चारित्रिक गुणों से युक्त किसी महान व्यक्ति को याद करते हुए उसके परिवेश के साथ उसका प्रभावशाली वर्णन किया जाता है। इसमें लेखक स्वानुभूत विषय का यथावत अंकन न करके उसका पुनर्सृजन करता है। रेखाचित्र की तरह यह वर्ण्य विषय के प्रति तटस्थ नहीं होता। आत्मकथात्मक विधा होते हुए भी संस्मरण आत्मकथा से पर्याप्त भिन्नता रखता है।

आरंभिक युग

बालमुकुंद गुप्त द्वारा सन् 1907 में प्रतापनारायण मिश्र पर लिखे संस्मरण को हिंदी का प्रथम संस्मरण माना जाता है। बाद में इस काल की एकमात्र संस्मरण पुस्तक 'हरिऔध' पर केंद्रित गुप्त जी द्वारा लिखित 'हरिऔध' के संस्मरण' के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔध को वर्ण्य विषय बनाकर पंद्रह संस्मरणों की रचना की गई है।

द्विवेदी युग

हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य विधाओं के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। 'सरस्वती' में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कई संस्मरण लिखे। उन्होंने अपने साथी लेखकों को नई गद्य विधाओं के लिए प्रेरित भी किया। इस समय के प्रमुख संस्मरण लेखकों में द्विवेदी जी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, काशीप्रसाद जायसवाल और श्यामसुंदर दास हैं। श्यामसुंदर दास ने लाला भगवानदीन पर रोचक संस्मरण लिखे। अपने समकालीन साहित्यकारों पर उस समय से आरंभ हुई परंपरा आज तक लगातार चल रही है।

छायावादोत्तर युग

रेखाचित्र की तरह ही संस्मरण को गद्य की विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित करने की दिशा में भी पद्म सिंह शर्मा (1876-1932) का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इनके संस्मरण 'प्रबंध मंजरी' और 'पद्म पराग' में संकलित हैं। महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न और भीमसेन शर्मा आदि पर लिखे हुए इनके संस्मरणों ने इस विधा को स्थिरता प्रदान करने में मदद की। विनोद की एक हल्की रेखा इनकी पूरी रचनाओं के भीतर देखी जा सकती है।

महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणों में अपने जीवन में आए अनमोल पलों को अपने 'पथ के साथी' में संकलित किया है। अपने समकालीन साहित्यकारों पर इन रेखाचित्रों में अब तक किसी भी लेखक द्वारा लिखी गई सर्वश्रेष्ठ टिप्पणी कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात न होगी।

निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्लीभाट' में संस्मरण और रेखाचित्र का अनुपम संयोग हुआ है। इन्हें किसी एक विधा के अन्तर्गत रखना संभव नहीं है लेकिन अपनी सजीवता और व्यंग्य के कारण इन्हें अप्रतिम कहा जा सकता है।

प्रकाशचंद गुप्त ने 'पुरानी स्मृतियाँ' नामक संग्रह में अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध किया। इलाचंद्र जोशी कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' और वृंदावनलाल वर्मा कृत 'कुछ संस्मरण' इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1950 के आस-पास का समय संस्मरण लेखन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। इस समय अनेक लेखक संस्मरणों की रचना कर रहे थे। बनारसीदास चतुर्वेदी को संस्मरण लेखन के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली। पेशे से साहित्यिक पत्रकार होने के कारण इनके संस्मरणों के विषय बहुत व्यापक हैं। अपनी कृति 'संस्मरण' में संकलित रचनाओं की शैली पर इनके मानवीय पक्ष की प्रबलता को साफ देखा जा सकता है। इनके संस्मरण रोचकता के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए। शैली वर्णनात्मक है और भाषा अत्यंत सरल है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने अपनी कृतियों 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीप जले शंख बजे' के कारण इस समय के एक अन्य महत्त्वपूर्ण संस्मरण लेखक हैं। लगभग इसी समय उपेंद्रनाथ अश्क का 'मंटो मेरा दुश्मन' प्रकाशित हुआ जिसका साहित्यिक और गैर-साहित्यिक दोनों स्थानों पर भरपूर स्वागत हुआ। जगदीशचंद्र माथुर ने 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' के माध्यम से अपने समय की महत्वपूर्ण संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किए।

संस्मरण और रेखाचित्रों में कोई भी तात्विक भेद नहीं मानने वाले आलोचक डा. नगेन्द्र ने 'चेतना के बिंब' नाम की कृति के माध्यम से इस विधा को समृद्ध किया। प्रभाकर माचवे, विज़्णु प्रभाकर, अज्ञेय और कमलेश्वर इस समय के अन्य प्रमुख संस्मरण लेखक रहे हैं।

समकालीनयुग

समकालीन लेखन में आत्मकथात्मक विधाओं की भरमार है। संस्मरण आज बहुतायत में लिखे जा रहे हैं। अपने अतीत को बयान करने की ललक हर आदमी के भीतर होती है और उसकी अभिव्यक्ति करना अन्य विधाओं की तुलना में काफी आसान होता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा नामवर सिंह पर लिखित संस्मरण 'हक अदा न हुआ' ने इस विधा को नई ताजगी से भर दिया है और इससे प्रभावित होकर कई नए और पुराने लेखक इस ओर मुड़े हैं। इनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'नंगातलाई का गांव' (2004) को उन्होंने स्मृति आख्यान कहा है। वर्तमान समय के संस्मरण लेखकों में काशीनाथ सिंह, कांतिकुमार जैन, राजेंद्र यादव, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया अखिलेश का नाम काफी प्रमुखता से ले सकते हैं।

संभावित प्रश्न

1. हिन्दी उपन्यासों के क्रमिक विकास विषय पर एक निबंध लिखिए।
2. भारतेन्दुयुगीन नाटकों की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. स्वातंत्र्योत्तर एकांकी नाटकों के कथ्य और शिल्प की विशेषताएं बताएं।
4. प्रेमचंदयुगीन कहानी की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
5. आत्मकथा के उद्‌भव और विकास का सामान्य परिचय दीजिए।
6. रेखाचित्र के उद्‌भव और विकास पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
7. संस्मरण के उद्‌भव और विकास पर सामान्य टिप्पणी कीजिए।
8. हिंदी रिपोर्ताज परंपरा का सामान्य परिचय दीजिए।
9. 'हिंदी साहित्य में व्यंग्य की एक लंबी परंपरा रही है'-इस कथन के आलोक में हिंदी व्यंग्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।
10. हिंदी यात्रा साहित्य पर एक परिचयात्मक आलेख लिखिए।